स्वतंत्रता की ओर

[परिवर्तित तथा परिवर्द्धित नवीन संस्करण]

लेखक
श्री हरिभाऊ उपाध्याय

सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

परिवर्तित तथा परिवर्द्धित
संस्करण : १९५८
मूल्य
साढ़े चार रुपये

मुद्रक
अमरचंद्र
राजहंस प्रेस
दिल्ली, २७-१९५०
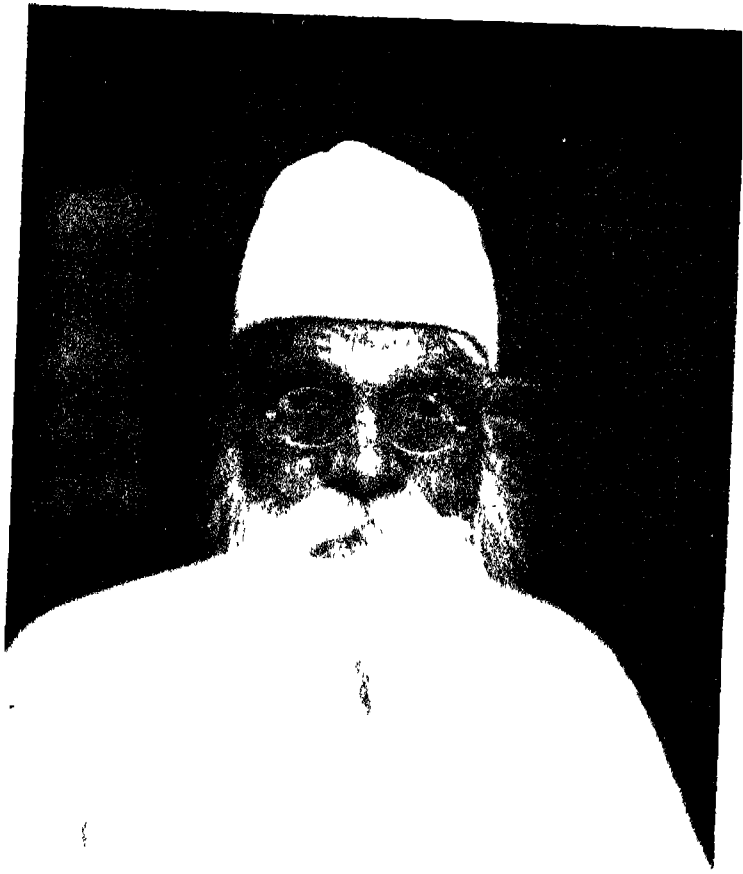
पंडित सिद्धनाथ उपाध्याय

तीर्थस्वरूप पूज्य पिताजी की

सेवा में

आरम्भिक

यह ध्रुव सत्य है कि सारा जगत् परतन्त्रता से स्वतन्त्रता की ओर जा रहा है। जो विश्व हम आज देख रहे हैं, वह मूल स्वतन्त्र तत्त्व का प्रकट रूप है। अव्यक्त से व्यक्त होते ही उसे आकार और मर्यादा प्राप्त हुई। इसी मर्यादा ने उसे कई प्रकार के नियमों और बन्धनों में जकड़ दिया। यही पराधीनता हुई। मुक्त जीव शरीर के कैदखाने में आगया। आ तो गया; किन्तु उसकी स्वाभाविक गति इस जेल से छुटकारा पाने की ओर है। यही मनुष्य के लिए ईश्वर की ओर से आशा का, माँगल्य का सन्देश है। जिसने इस रहस्य को समझ लिया है उसकी स्वभावतः प्रवृत्ति वेग के साथ परतन्त्रता से छूटकर स्वतन्त्रता की ओर जाने की, निराशा, शोक, अनुत्साह, कष्ट के अवसरों पर भी आशावान् और उत्साही रहने की एवं पतित होजाने की अवस्था में भी शुद्ध, उन्नत और श्रेयोमय हो सकने का आत्मविश्वास रखने की ओर होगी। किन्तु बहुतेरे लोग इस रहस्य को नहीं जानते। इससे नाना प्रकार के दुःख, ग्लानि, शोक, सन्ताप, चिन्ता आदि का बोझ अकारण ही अपने सिर पर लादे फिरते हैं और जीवन को सुखी और स्वतन्त्र बनाने के बजाय दुखी और परतन्त्र बनाये रखते हैं। अगले पन्नों में इसी बात का यत्न किया गया है कि पाठक इस रहस्य को समझें और जानें कि मनुष्य पराधीन से स्वाधीन कैसे हो सकता है। वास्तविक स्वाधीनता क्या वस्तु है, उसे वह व्यक्ति और समाज-रूप से कैसे पा सकता है। उसके लिए कितनी तैयारी, कैसी साधन-सामग्री की आवश्यकता है—इसका भी वर्णन एक हद तक किया गया है। कौन-कौन से विचार और धारणाएं वास्तविक स्वाधीनता को समझने में बाधक हैं, इसका भी विवेचन एक अध्याय में कर दिया गया है। आन्दोलन और नेता स्वतन्त्रता के सबसे बड़े भौतिक साधन हैं—इसलिए इन पर भी एक अध्याय लिखा गया है। देश का एक साधारण सेवक और लेखक नेता की योग्यता और गुणों के

सम्बन्ध में कुछ लिखे, यह है तो 'अव्यापारेषु व्यापार.'; किन्तु इसकी आवश्यकता समझकर ही इस विषय में कुछ लिख डालने का साहस किया है। मैं समझता हूँ, उस अध्याय से भी पाठकों को कुछ लाभ होगा।

मैं नहीं कह सकता कि इस उद्देश्य में सफलता कहाँ तक मिली है। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि इन अध्यायों से पाठकों की कई उलझनें अवश्य सुलझ जायंगी। यदि इतना भी हुआ तो मेरे समाधान के लिए काफी है। उन्होंने सच्ची स्वतन्त्रता और उसके साधनों को समझ लिया तो मानना होगा कि मुझे इस श्रम का पूरा बदला मिल गया। पाठकों से इससे अधिक आशा रखने का मुझे अधिकार भी नहीं है।

इस पुस्तक में जिन विचारों का प्रतिपादन किया है उनकी स्फूर्ति मुझे मुख्यतः पूज्य महात्मा गांधीजी के सिद्धान्तों और आदर्शों से हुई है। अतः उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हुए यह वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

इन्दौर चैत्र शु० वर्षप्रतिपदा, १९९२	—हरिभाऊ उपाध्याय

दूसरे संस्करण के लिए

'स्वतन्त्रता की ओर' जब पहली बार छपी थी तब हिन्द राजनैतिक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हो रहा था। अब यद्यपि वह एक अर्थ में स्वतन्त्र हो गया है, तो भी सच्ची स्वतन्त्रता से अभी दूर है। फौज और पुलिस के सहारे—स्वतंत्रता या हिंसा-बल के सहारे जो स्वतन्त्रता टिकी रहे, वह अधिक बलाढ्य या शस्त्रास्त्र-संपन्न व्यक्ति या राष्ट्र के द्वारा छीनी भी जा सकती है। अत. गांधीजी का प्रयास है कि लोक-जागृति, लोक-बल, लोक-संगठन, लोक-ऐक्य के बल पर—एक ही शब्द में कहें तो सत्य व अहिंसात्मक शक्ति के आधार पर—स्वतन्त्रता-माता का मन्दिर खड़ा किया जाय। जब तक ऐसे मन्दिर में भारत-माता की प्राणप्रतिष्ठा हम न कर सकें तब तक हमें 'स्वतंत्रता की ओर' प्रयाण करते ही रहना है। बल्कि जब तक भारत का मनुष्य भौतिक परतंत्रता से छूटकर आत्मिक स्वतन्त्रता को अनुभव नहीं करता तबतक हमारी यात्रा का अन्त न होगा। इसीलिए इस पुस्तक का नाम—'स्वतन्त्रता की ओर'—अब भी सार्थक ही बना हुआ है, और सच पूछिए तो केवल राजनैतिक ही नहीं, बल्कि सच्ची, पूर्ण या आत्मिक स्वतन्त्रता की ओर हमारी गति करने के उद्देश्य से ही यह पुस्तक मूल मे लिखी गई है।

पाकिस्तान व हिन्दुस्तान के दो टुकड़े हो जाने पर तो इस पुस्तक में वर्णित सिद्धान्त और भी आवश्यक रूप से पालनीय हो जाते हैं। हाल ही महात्माजी ने कहा है कि यदि १९४२ मे हमने हिंसाकाण्ड का अवलम्बन न किया होता तो आज यह खूँ-रेजी हमें नसीब न हुई होती। यह सही है कि १५ अगस्त—हमारे स्वतन्त्रता-दिवस—के बाद देश में एक प्रकार से हिंसावाद प्रबल हो गया है। कुछ लोग तो यह कहने लगे हैं कि अब हम आजाद हो गये, अब अहिंसा की क्या जरूरत? कुछ कहते हैं, अहिंसा है तो भली वस्तु, परन्तु उसके बल पर आज राज्य-संचालन नहीं किया जा सकता। फिर भी मेरी यह निश्चित राय है कि यह हवा

भी चन्दरोजा है। अहिंसा की आत्मा को इससे धक्का नहीं पहुँचा है। एक बार यह आबादियों की अदला-बदली का सवाल हल हुआ नहीं, शरणार्थियों के बसने व काम-काज का इन्तजाम हुआ नहीं, काश्मीर, हैदराबाद व रियासतों की समस्या सुलझी नहीं कि हमारे राजनेताओं का ध्यान देश की भीतरी व्यवस्था को ठीक करने की ओर गये बिना न रहेगा। यह काम बिना शान्ति के सिद्धान्त पर चले हो नहीं सकता। जैसे-जैसे वे देश की व्यवस्था ३९ करोड़ के हित की दृष्टि से, उन्हींके हित के लिए, करने लगेंगे वैसे-वैसे वे खुद ही अनुभव करेंगे कि यह काम अहिंसा के मार्ग से ही अच्छी तरह हो सकेगा। उस समय जो आज यह मानने लगे हैं कि अहिंसा खतम हो गई, वे अपनी भूल को महसूस करने लगेंगे। आज भी वे यह तो मानते ही हैं कि हिंसा से अहिंसा-मार्ग श्रेष्ठ है, उनकी जब तक यह मान्यता बनी हुई है तब तक 'अहिंसा' खतम नहीं समझी जा सकती।

इस संस्करण को आज की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से पहले संस्करण से कुछ विषय निकाल दिये गये हैं और कुछ नये जोड़ दिये गये हैं। अतः जिन पाठकों के पास पहला संस्करण हो उन्हें भी यह नया संस्करण अपने पास रखने जैसा लगेगा।

'स्वतन्त्रता की ओर' को केवल पढ़ लेने से इसके उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती। तदनुकूल अपना व समाज का जीवन बनाने का यत्न जब तक हम न करेंगे तब तक स्वतन्त्रता की ओर हम देखते ही रहेंगे, उसकी प्राप्ति सुलभ न होगी। परमात्मा हमें न केवल ठीक देखने का, बल्कि सही मार्ग पर चलने का भी बल दे।

महिला-शिक्षा-सदन,
हटूंडी (अजमेर)
स्वतन्त्रता-दिवस,
(२६ जनवरी, १९४८)

—हरिभाऊ उपाध्याय

निर्देशिका

स्वतंत्रता की ओर

: १ :

मानव-जीवन

१ : जीवन क्या है ?

सबसे पहले हम मनुष्य और उसके जीवन को समझने का यत्न करें। जीवन के संबन्ध में मनुष्यों के दृष्टि-बिन्दु अलग-अलग पाये जाते हैं। कोई इस जन्म से इस शरीर की मृत्यु तक के जीवन को ही सारा जीवन मानते हैं, कोई इसे अपने विशाल जीवन की एक मंजिल ही। ये पिछले विचार के लोग कहते हैं कि हमारे जीवन का आरम्भ तबसे हुआ है जबसे सृष्टि में चेतन पदार्थों के या मनुष्य जीवधारी के दर्शन हुए और अन्त तब होगा जब वह जन्म-मरण के चक्कर से छूट जायगा या उसी परमात्मा में मिल जायगा, जिसमें से बिछुड़ कर वह संसार में आ गया है।

जीवन 'जीव' शब्द से बना है। जीव आरंभ से अंत तक जिन-जिन अवस्थाओं में से गुजरता है उन्हें भी जीवन कहते हैं, जैसे बाल्य-जीवन या धार्मिक जीवन। जीव वह वस्तु है, जो एक शरीर में रहता है और जिसके कारण शरीर जीवित कहलाता है—शरीर चाहे पशु का हो, मनुष्य का हो, या कीट-पतंग का हो।* इस पुस्तक में मनुष्य के जीवन का विचार होगा।

जीव जब किसी शरीर में आता है तब उसपर इतने प्रभाव काम करते हैं—(१) माता-पिता के रज-वीर्य और स्वभाव के गुण-दोष। (२) कुटुम्ब, पाठशाला और मित्रों के संस्कार। (३) उपार्जित विद्या और स्वानुभव। कितने ही लोग यह भी मानते हैं कि पिछले जन्मों के संस्कार लेकर जीव नवीन जन्म ग्रहण करता है। जबसे जीव गर्भ में आता है, तबसे वह नये संस्कार ग्रहण करने लगता है। इन संस्कारों पर

---

* देखो, परिशिष्ट (१) 'जीव क्या है'?

बहुत ध्यान रखने की आवश्यकता है। इसी सावधानी पर जीव का भविष्य अवलम्बित है। अज्ञान के कारण जीव अच्छे संस्कारों को लेने में रह जाता है और कितने ही बुरे संस्कारों में लिप्त हो जाता है। कुटुम्ब, समाज और राज्य के सब नियम इसी उद्देश से बनाये जाते हैं कि मनुष्य अच्छे संस्कार को ग्रहण करता रहे और बुरे संस्कारों से बचता रहे। मनुष्य का ही नहीं, जीव-मात्र का जीवन इसी बुराई और अच्छाई के संघर्ष का अखाड़ा है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि मनुष्य शरीर, पशु-पक्षियों के शरीर से अधिक उन्नत और विकसित है—इस कारण जीव उसके द्वारा अपने को अधिक पूर्ण रूप में व्यक्त कर सकता है। यह भी एक प्रश्न है कि मनुष्य-शरीर से अधिक कोई और पूर्ण शरीर है या नहीं और हो सकता है, या नहीं। कितने ही लोग मानते हैं कि एक प्रेत शरीर होता है और उसमें जीव अधिक स्वतंत्रता के साथ रहता है। इसे पितृयोनि कहते हैं। किन्तु जैसा कि पहले कहा है, इस पुस्तक का सम्बन्ध सिर्फ मनुष्य-जीवन से ही है। इसलिए हमें यह जानना जरूरी है कि मनुष्य-जीवन व उसका उद्देश क्या है? जीव यद्यपि सब शरीरों में एक है तथापि शरीर-भेद से उसके गुण और विकास में अन्तर है। अन्य शरीरों की अपेक्षा मनुष्य-शरीर में बुद्धि का विकास बहुत अधिक पाया जाता है जिसके कारण वह अच्छाई और बुराई, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की छान-बीन बहुत आसानी से कर सकता है। और यही कारण है कि मनुष्य ने आज भीमकाय, विषैले और महान हिंस्र पशुओं को अपने अधीन कर रक्खा है, एवं कई प्राकृतिक शक्तियों पर भी अपना अधिकार कर लिया है। इसलिए यह जरूरी है कि मनुष्य अपने बल और पौरुष के वास्तविक स्वरूप को समझे, अपनी पराधीनता से स्वाधीन बनने की राह खोजे और जाने। इन सब बातों को जान लेना जीवन का मर्म समझ लेना है। उनके अनुसार जीवन को बनाना, जीवन की सफलता है। संक्षेप में जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जीव के पुरुषार्थ को जीवन कहते हैं। जीवन की पूर्णता ही जीवन की सफलता है।* विकास की दृष्टि से जिसे हम पूर्णता कहते हैं। सामाजिक भाषा में वही स्वतंत्रता कहलाती है।

अब हमें यह देखना है कि यह पुरुषार्थ क्या वस्तु है—अथवा यों कहें कि जीवन की सफलता या साधना किसे कहते हैं।

---

* देखो परिशिष्ट (२) 'मानव-जीवन की पूर्णता'।

२ : जीवन का उद्देश्य

जीव कहांसे जन्मता है और कहां जाता है ? रास्ते में वह क्या देखता है, क्या पाता है या क्या छोड़ता, क्या करता है—इन सबको जानना जीवन के रहस्य को समझना है। किन्तु इनकी बहुत गहराई में पैठना तर्क-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र के सूक्ष्म विवेचन में प्रवेश करना है। उससे भरसक बचते हुए फिलहाल हमारे लिए इतना ही जान लेना काफी है कि विचारकों और अनुभवियों ने इस सम्बन्ध में क्या कहा है और क्या बताया है। उनका कहना है कि इस संसार में अनगिनत, भिन्न-भिन्न, परस्पर-विरोधी और विचित्र चीजें हैं। किन्तु उन सबके अन्दर हम एक ऐसी चीज को पाते हैं, जो सबमें सर्वदा समायी रहती है। उसका नाम उन्होंने आत्मा रक्खा है। यह आत्मा इस भिन्नता और विरोध के अन्दर एकता रखता है। इस दिखती हुई अनेकता में वास्तविक एकता का अनुभव आत्मा के ही कारण होता है। सांप इतना ज़हरीला जीव है, फिर भी उसके मारे जाने पर हमारे मन में क्यों दुःख होता है ? शत्रु के भी दुःख पर हमारे मन में क्यों सहानुभूति पैदा होती है ? इसका यही कारण है कि हमारे और उसके अन्दर एक ही तत्व भरा हुआ है, जो सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि भावों को, परस्पर विपरीत शरीरों में रहते हुए भी, एक-सा अनुभव करता है। उसी तत्व का नाम आत्मा है। जब यह तत्व किसी एक शरीर के अन्दर आया हुआ होता है, तब उसे जीवात्मा कहते हैं। जब जीवात्मा को यह ज्ञान हो जाता है कि मैं वास्तव में महान् आत्मा हूँ, किन्तु कारण-वश इस शरीर में आ फँसा हूँ—इसमें बंध गया हूँ और जब वह इसके बन्धन से छूटकर या इससे ऊपर उठकर अपने महान आत्मत्व को अनुभव करता है, उसमें मिल जाता है, तब वह परमात्मा हो जाता है, या यों कहिए कि मुक्त हो जाता है, सब तरह से स्वतंत्र हो जाता है। इसका सार यह निकला कि परतंत्रता में फँसा हुआ जीव स्वतंत्रता चाहता है। गर्भ में आते ही स्वतंत्र होने का वह प्रयत्न करता है। स्वतंत्रता उसके जीवन का प्रयत्न ही नहीं, ध्येय ही नहीं, बल्कि स्वभाव-धर्म है। क्योंकि जीव अपनी मूल दशा में स्वतंत्र है। उसी दशा में वह आत्मा है। स्वतंत्र जीव का नाम परमात्मा है और परतंत्र आत्मा का नाम जीव है। इस कारण स्वतंत्रता जीव की प्राकृतिक या वास्तविक दशा है—परतंत्रता अस्वाभाविक और

अवास्तविक। जीवन का लक्ष्य, अन्तिम गन्तव्य स्थान, या प्राप्तव्य स्थिति हुई पूर्ण स्वतंत्रता। जीव स्वतंत्रता के धाम से चला, परतंत्रता में फंसा और स्वतंत्रता की ओर जा रहा है। वहीं पहुँचने पर उसे अन्तिम शान्ति मिलेगी, पूरा सुख मिलेगा। इस स्वतंत्रता का, इस सुख का, इस आनन्द का पाना ही जीवन की सफलता या सार्थकता है।

जब जीव प्रकृति के लगाये शरीर तक के बन्धन को, परतंत्रता को, सहन नहीं कर सकता, तब मनुष्य की उपजाई पराधीनता उसे कैसे बरदाश्त हो सकती है? यदि यह असहिष्णुता सबमें एक-सी नहीं पाई जाती है तो उसका कारण केवल यह है कि अनेक कुसंस्कारों के कारण कइयों का स्वाधीनता-भाव मन्द और सुप्त हो जाता है। उनको हटाकर अच्छे संस्कार जाग्रत करते ही आन्तरिक स्वतंत्रता की ज्योति उसी प्रकार जगमगाने लगती है जिस प्रकार ऊपर की राख हट जाने पर अन्दर की आग जल उठती है। तो जीवन की सफलता केवल इसी बात में नहीं है कि हमारी बुद्धि यह समझ ले कि हमें स्वतन्त्र या मुक्त होना है, परमात्मा बनना है, बल्कि हमारा सारा बल और पुरुषार्थ यह अविरत उद्योग करे कि हमें वह स्थिति प्राप्त हो। बुद्धि के द्वारा इस मर्म को समझने वालों की संख्या कम नहीं है, किन्तु स्वतंत्रता का परम आनन्द और ऐश्वर्य वही पाते हैं जो उसके लिए अपने जीवन में श्रेष्ठ पुरुषार्थ करते हैं।

३ : जीवन की मूल-शक्ति

पुरुषार्थ की प्रेरक शक्ति हमारी भावना है। जब मन में कोई भाव उदय होता है तो उसे पूरा करने के लिए हम पुरुषार्थ करते हैं। भावना व पुरुषार्थ के बीच में हमें बुद्धि से काम पड़ता है। हम देखते हैं कि मनुष्य न अकेला भावना का पिण्ड है, न कोरी बुद्धि का पुतला। वह भावना और बुद्धि, हृदय और मस्तिष्क दोनों के उचित संयोग से बना है। फिर भी मनुष्य-जीवन में भावना की प्रधानता देखी जाती है। मनुष्य के मन में पहले कोई भावना उत्पन्न होती है और फिर बुद्धि निर्णय करती है कि कौनसी भावना अच्छी है और कौनसी बुरी। अर्थात् मूल वस्तु भावना है, बुद्धि तो केवल उसकी मार्ग-दर्शिका है।

पर हम देखते क्या हैं कि हमारा जीवन बुद्धि की भूल भुलैयां में भटक रहा है। हृदय की उच्च भावनाओं की अपेक्षा बुद्धि की

चतुराई का आदर आज के शिक्षित समाजों में विशेष पाया जाता है। इसका फल यह हो रहा है कि समाज में सच्चाई की कमी और पाखण्ड की वृद्धि हो रही है। स्वाभाविक जीवन कम हो रहा है और कृत्रिमता बढ़ रही है। वास्तविकता की ओर ध्यान कम है, शिष्टाचार और लोकाचार की ओर अधिक।

यह उन्नति का नहीं, अवनति का लक्षण है। इससे प्रेम की नहीं, बल्कि स्वार्थ की बढ़ती हो रही है। परस्पर सहयोग का मूल्य कम होता जाता है और ऐकान्तिक स्वार्थ-साधन की मात्रा बढ़ती जाती है। समाज संगठन के नहीं, बल्कि विशृङ्खलता के रास्ते जा रहा है। नाम तो लिया जाता है स्वतंत्रता का, राष्ट्रीयता का, समानता का, विश्व-बन्धुत्व का, कुटुम्ब-भाव का, पर काम किया जाता है परवशता का, संकुचित स्वार्थों का।

इसका कारण यह है कि हमने जीवन के एक ही अंश को समझा है, उसकी पूर्णता को नहीं देखा है। नहीं तो क्या कारण है जो आज जीवन की कम परवाह की जाती है और उसके साधन—साहित्य, कला, शास्त्र, विज्ञान, धन, सत्ता आदि स्वयं अपने-अपने मन के राजा हो बैठे हैं? साहित्य-सेवी क्यों गन्दा और कुपथ की ओर ले जाने वाला व्यामोहकारी साहित्य हमें इतनी व्याकुलता के साथ दे रहे हैं? कला क्यों हमारी विलासिता को जाग्रत करने और हमे विषय-लोलुप बनाने की चेष्टा कर रही है? शास्त्र क्यों हमें कृत्रिम बंधनों से बांधकर मूढ़ बनाये रखने, अपना अन्धानुगामी बनाने, अपने अक्षरों का गुलाम बनाने पर ज़ोर दे रहा है? विज्ञान क्यों प्राणनाशक गैसों, शस्त्रास्त्रों, अणुबमों, जीवन को जर्जर बनाने वाले और गरीबों की जीविका-हरण करने वाले भीमकाय यंत्रों का आविष्कार कर रहा है? धन क्यों थैली खोलकर हमें मोहित करता है, हमपर अपना रौब जमाता है, और हमसे कहलवाता है, 'अर्थस्य पुरुषो दासः?' सत्ता क्यों हमें दबाती, डराती, नाक रगड़वाती, चूसती और लूटती है? वास्तव में देखा जाय तो साहित्य और कला हमारे जीवन को उत्साहित और उल्लसित करने एवं शोभनीय बनाने के लिए हैं, शास्त्र कर्त्तव्य-मार्ग दिखाने के लिए है, विज्ञान सुख-साधन बढ़ाने के लिए है, धन पोषण करने के लिए है और सत्ता सुव्यवस्था और रक्षण करने के लिए है। फिर ये केवल व्यक्तिगत लाभ या स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि सामाजिक लाभ के लिए हैं। किन्तु आज तो जीवन बेचारा ऐसा लाचार और पंगु

हो गया है कि उसके इन अनुचरों की ज्यादती और ज़बरदस्ती पर मन में बड़ा क्षोभ होता है। सिन्धिया, हुलकर, गायकवाड़ आदि पेशवा के सरदार और सेनापति थे, पर घात पाकर उन्होंने पेशवा को उठाकर ताक पर रख दिया और अपने-अपने मुल्कों में राजा बन बैठे। इसी तरह जीवन के ये पार्षद और प्रहरी आज उसे निगल कर, उसकी गद्दी पर आप मालिक बन बैठे हैं और अपने-अपने राज्य-विस्तार में ऐसे जुटे हुए हैं कि जीवन के निहोरे पर किसीको ध्यान देने की फुरसत नहीं। गांधी जैसा जीवन का सखा उसकी ओर से वकालत करने खड़ा होता है तो ये सब गुट बनाकर उसकी ओर लाल-पीली आंखें निकालने लगते हैं और टटक कर उसपर टूट पड़ना चाहते हैं। यही समय की बलिहारी है। जीवनदायिनी गीता सुनते हुए हमें दिन में भी नींद आने लगती है, पर विनाश को निकट लाने वाले नाटक-सिनेमा में रात-रात भर जागते हुए हम थकते नहीं; शास्त्र के उद्देश्य और मर्म को समझने से हम पीछे हटते हैं, और लकीर के फकीर बने रहने में धर्म समझते हैं; विज्ञान के परमार्थिक उपयोग की बात पर दुनिया हंस देती है और अणुबम जैसे विनाशकारी साधनों के आविष्कारों में बड़ा रस ले रही है; और शुद्ध व्यवसाय करने, गरीबों के हित के लिए व्यवसाय करने की सूचना 'आदर्श' और 'हवाई किलों' की श्रेणी में रख दी जाती है और चूसने तथा लूटने की प्रणाली नीति-युक्त व्यवसाय, राष्ट्रीयउद्योग और धनवृद्धि आदि बड़े नामों से पुकारी जाती है; सत्ता को सेवामय बनाने की प्रेरणा अराजकता और राजद्रोह माना जाता है और करोड़ों को निःशस्त्र, निर्बल और गुलाम बनाना परोपकार, ईश्वरी आज्ञा का पालन आदि शुभ-कार्य माना जाता है! सचमुच वे लोग कैसे हैं, जो इस उलटी गंगा को बहती देखकर भी चौंकते नहीं, जिन्हें इस दुःस्थिति पर विचार करने की प्रेरणा या बुद्धि नहीं होती?

इसका मूल कारण एक ही है—जीवन की पूर्णता को, मूल को, यथार्थता को न समझना। जीवन को केवल बुद्धिमय मान लेने की भ्रम-पूर्ण धारणा का ही यह परिणाम है। यही कारण है जो वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में केवल बुद्धि को बढ़ाने की ओर तो बहुत ध्यान दिया जाता है, पर उच्च व सद्भावनाओं को जागृत करने और उनका लालन-पालन करने की ओर प्रायः नहीं दिया जाता। भावना जीवन की स्वामिनी है और बुद्धि उसकी सखी-मंत्रिणी है। बुद्धि का उपयोग भावना

की पुष्टि और शुद्धि करना है, न कि उसको आहत या पद-भ्रष्ट करना। भावना यदि भावना के स्थान पर और बुद्धि, बुद्धि के स्थान पर रहे तो फिर जीवन का विकास एकांगी नहीं हो सकता, जैसा कि आज हो रहा है।

४ : स्वतंत्रता का पूर्ण स्वरूप

जीव जबसे गर्भ में आता है तबसे लेकर मृत्यु तक शरीर के बन्धन में रहता है—शरीर के कारण उत्पन्न निर्बलताओं और मर्यादाओं से बँधा रहता है—इसलिए वह परतंत्र कहलाता है। यह तो एक तरह से उसकी आजीवन परतंत्रता हुई। किन्तु इस जीवन की परतंत्रता के अन्दर भी फिर उसे कई परतंत्रताओं में रहना पड़ता है। दैहिक परतंत्रता एक तरह से प्रकृति-निर्मित है, किन्तु शरीर धारण करने के बाद, या उसीके कारण, कुटुम्ब, समाज, या राज्य-द्वारा लगाई गई परतंत्रता मनुष्य-निर्मित है। यों तो नियम-मात्र मनुष्य की शक्ति को रोकते हैं। परन्तु हम उन नियमों के पालन को परतंत्रता नहीं कह सकते जो हमारी स्वीकृति से, हमारे हित के लिए, बनाये गये हों। जो नियम हमारी इच्छा के विरुद्ध, हमारे हिताहित का बिना खयाल किये, हम पर लाद दिये गये हों, वे चाहे किसी कुटुम्ब के हों, समाज के हों, या राज्य के हों, बन्धन है, परतंत्रता है। इन्हें ऐसा कोई मनुष्य नहीं मान सकता जिसने मनुष्यता के रहस्य और गौरव को समझ लिया है। अतएव मनुष्य को न केवल दैहिक परतन्त्रता से लड़ना है, बल्कि मानुषी परतंत्रताओं से भी लड़ना है। यही उसका पुरुषार्थ है। बल्कि यों कहना चाहिए कि वह इन मानुषी परतंत्रताओं से छुटकारा पाये बिना दैहिक परतंत्रता से सहसा नहीं छूट सकता। मानुषी परतंत्रताओं से लड़ने में न केवल वह अपने को दैहिक परतंत्रता से लड़ने के अधिक योग्य बनाता है, बल्कि दूसरों के लिए भी दैहिक परतंत्रता से मुक्त होने का रास्ता साफ कर देता है।

महज सुखोपभोग की सुविधा को ही स्वतंत्रता समझ लेना हमारी भूल है। शरीर का पूर्ण विकास, मन की ऊंची उड़ान, बुद्धि का अबाध खेल, अन्तःकरण की असीम निर्मलता और उज्ज्वलता, आत्मा की चमक तथा अखण्ड वैभव, इन सबको मिलाने पर पूर्ण स्वतंत्रता की वास्तविक कल्पना हो सकती है। एक शासन-प्रणाली से दूसरी उदार या अच्छी शासन-प्रणाली में चला जाना, एक व्यक्ति की अधीनता से दूसरे अधिक

भले और बड़े आदमी के अंकुश में चला जाना—महज इतना ही स्वतंत्रता का पूरा अर्थ और स्वरूप नहीं है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के पूर्ण विकास का ही नाम पूर्ण स्वतंत्रता है। जो व्यक्ति, प्रथा या प्रणाली मनुष्य को ऐशोआराम के तो थोड़े से अधिकार दे देती है, या उसकी न्यूनाधिक सुविधा तो कर देती है, किन्तु उसके पूर्ण, सर्वांगीण विकास का खयाल नहीं करती, या उसकी बाधक और अवरोधक है, वह पूर्ण स्वतंत्रता का दावा हरगिज नहीं कर सकती, हामी कदापि नहीं कहला सकती। मन, वचन और कर्म की पूर्ण स्वतंत्रता के आगे, शारीरिक सुख भोग की थोड़ी सुविधा, मन पर उलटे-सीधे कुछ संस्कार डालने का थोड़ा सा सुप्रबन्ध—बस इसीका नाम स्वतंत्रता कदापि नहीं है। यह बात हमें अच्छी तरह समझ रखनी चाहिए। ये तो उसकी थोड़ी-सी किरणें मात्र हैं। हमें सब कलाओं सहित पूनों के चाँद को देखना व समझना चाहिए।

देखा जाता है कि बहुतेरे लोग दैहिक परतंत्रता से, पिण्ड छुड़ाने के लिए उतने उत्सुक नहीं हैं जितनी कि मानुषी परतंत्रता से या यों कहें कि राजनैतिक परतंत्रता से। किन्तु राजनैतिक मुक्ति तो दैहिक मुक्ति की पहली सीढ़ी है। उसपर पांव रक्खे बिना मनुष्य आगे बढ़ नहीं सकता। लेकिन राजनैतिक मुक्ति को ही बहुत बड़ी चीज न समझते रहना चाहिए। राजनैतिक परतंत्रता हमारे सामाजिक विकास की बहुत बड़ी बाधक है—इसलिए उसे सबसे पहले दूर करना हमारा परम कर्त्तव्य है, किन्तु हमारी गति यहीं तक रुक न जानी चाहिए—हमारी शक्ति यहीं पर कुण्ठित हो न जानी चाहिए। हमारी सारी यात्रा की यह तो एक मंजिल है। हमें अपना असली धाम न भूल जाना चाहिए। हम अपना आदर्श नीचा न कर लें। लक्ष्य न चूक जायं। इसलिए उसकी ओर बार-बार ध्यान दिलाना और अपने जीवन को उस ध्रुव से पृथक् दिशा में न बहने देने के लिए चेतावनी देना आवश्यक है। कितने ही लोगों के जीवन को जो हम असफल और दुःखपूर्ण देखते हैं उसका एक महान् कारण इस बात का अज्ञान या इसके विषय में असावधानी ही है।

यह तो हुई मनुष्य की अपनी स्वतंत्रता की बात। पर इसके साथ ही दूसरों को परतंत्रता से मुक्ति दिलाने की बात भी लगी हुई है। अपने साथ-ही-साथ अपने पड़ौसियों का उद्धार उसे करना होगा। किन्तु इसका विवेचन आगे करेंगे। यहां तो इतना ही लिखना काफी है कि जब हम इस भावना का विकास अपने अन्दर करेंगे तो अनुभव करेंगे कि हम

स्वतंत्रता के क्षेत्र में ऊंचे उठ रहे है। तब हमे अकेले मनुष्य की स्वतंत्रता पर ही सन्तोष न हो सकेगा। हमें पशु-पक्षियों की पराधीनता भी खलने लगेगी। उन्हें भी हम उसी दृष्टि से देखने लगेंगे जिस दृष्टि से अभी मनुष्य को देखते है। उनके भिन्न-भिन्न शरीरो के अन्दर हम उसी एक आत्मा को देखने लगेंगे और उनके उद्धार के लिए भी उत्सुक होंगे। और आगे चल कर जीव-मात्र के बन्धन हमें असह्य होने लगेंगे। जैसे-जैसे हमारी वृत्तियां इस प्रकार शुद्ध और व्यापक होती जायंगी वैसे-वैसे वह स्वतंत्रता-प्राप्ति के मार्ग में हमारी प्रगति की सूचक होगी। अन्त को हम शारीरिक भेदों के पार जाकर अपने असली रूप मे मिल जायंगे—यही हमारी पूर्ण स्वतंत्रता होगी।

५ : मनुष्य क्या है ?

मनुष्य-जीवन का विचार करते समय सबसे पहले जानने योग्य वस्तु है मनुष्य स्वयं ही। जब हम मनुष्य को जानने का यत्न करते हैं तो उसमें सबसे बड़े दो भेद दिखाई देते हैं—एक उसका शरीर और दूसरा उसमें रहनेवाला जीवात्मा। इस जीवात्मा या चैतन्य के ही कारण शरीर जीवित रहता और चलता-फिरता तथा विविध कार्य करता है। इसीलिए शरीर जड़ और जीवात्मा चेतन कहा गया है।

शरीर भिन्न-भिन्न अवयवो से बना हुआ है, जिन्हें इन्द्रियां कहते हैं। इनके भी दो भेद हैं—भीतरी इन्द्रियां और बाहरी इन्द्रियां। आंख, कान, नाक, मुख, जीभ, त्वचा, हाथ, पांव, गुदा, मूत्रेन्द्रिय, ये बाहरी और फेफड़ा, यकृत, प्लीहा, हृदय, मूत्रपिंड, जठर, अंतड़ियां, नसें, मस्तिष्क आदि भीतरी अवयव हैं। बाहरी इन्द्रियों मे आंख, कान, नाक मुंह, जीभ ये पांच ज्ञानेन्द्रियां कही जाती हैं क्योंकि इनके द्वारा मनुष्य को बाहरी वस्तुओं का ज्ञान होता है—ये बाहर से ज्ञान के संस्कार भीतर भेजती हैं और त्वचा, हाथ, पांव, गुदा तथा मूत्रेन्द्रिय ये कर्मेन्द्रिय कहलाती है, क्योंकि ये अन्दर से आदेश पाकर तदनुसार कर्म करती हैं।

इनके अलावा शरीर के अन्दर एक और इन्द्रिय है जो बाहर-से आये ज्ञान के संस्कारों को ग्रहण करती है और कर्मेन्द्रियों के द्वारा उसकी समुचित व्यवस्था करती है। इसे मन, चित्त या बुद्धि कहते हैं। यह इन्द्रिय जब केवल संकल्प-विकल्प करती रहती है अर्थात् यह करूँ

या न करूँ, इसी उलझन में पड़ी रहती है तबतक इसका नाम है मन; जब किसी कार्य के करने या न करने का निर्णय करने लगती है तब उसका नाम है बुद्धि और जब वह कार्य में प्रेरित करती है, गति देती है तब उसका नाम है चित्त।

परन्तु इतने अवयवों से ही मनुष्य पूरा नहीं हो जाता है। यह उस मनुष्य के रहने का घर-मात्र हुआ। असली मनुष्य—जीवात्मा—इससे भिन्न है। वह सारे शरीर और मन-बुद्धि आदि में समाया रहता है। वह न हो तो इस सारे शरीर का, इस कारखाने का, कुछ मूल्य नहीं है। उसके निकल जाने पर इस शरीर को मुर्दा कहकर हम गाड़ या जला देते हैं।

अब कोई यह प्रश्न करे कि तुम शरीर को मनुष्य कहते हो या जीवात्मा को, तो उत्तर यही देना पड़ेगा कि जीवात्मा को। मनुष्य ही नहीं प्राणिमात्र में असली, साररूप, चीज यही है। ऊपर का कलेवर यह शरीर, उसकी रक्षा, उन्नति और विकास के लिए है। यह उसका साधन है। इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अब हम यह जान गये कि कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, अन्तरीन्द्रियां मन-चित्त-बुद्धि और सबसे बढ़कर जीवात्मा को मिलाकर पूरा मनुष्य बना है। मनुष्य किसलिए पैदा हुआ है, या मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य क्या है, यह जानने का साधन मनुष्य की इच्छा के सिवा, हमारे पास और कुछ नहीं है। मनुष्य-मात्र में एक बलवती इच्छा पाई जाती है कि सुख मिले—अटल, अखण्ड और अनन्त सुख मिले। सुख पाने की अभिलाषा ही उससे आजीवन भिन्न-भिन्न पुरुषार्थ करवाती है। यह निश्चित है कि सुख स्वतंत्रता में है; पराधीनता में, बन्धन में सर्वदा दुःख ही दुःख है। इसलिए बन्धनों से छुटकारा पाना सुख का साधन हुआ यही उसके जीवन की स्वतंत्रता और यही सफलता हुई।*

६ : स्त्री-पुरुष-भेद

सृष्टि-रचना के अन्तर्गत प्रत्येक देहधारी में हमें दो बड़े भेद दिखाई पड़ते हैं (१) स्त्री और (२) पुरुष। ये भेद इनकी शरीर-रचना के कारण हुए हैं। स्त्री और पुरुष के दो अङ्गों में भेद है—जननेन्द्रिय और स्तन। स्त्री के स्तन अवस्था की वृद्धि के साथ बढ़ते जाते हैं और माता बनने

* देखो परिशिष्ट (३) 'सुख का स्वरूप'

पर उसमें दूध आने लगता है। स्त्री के एक तीसरा विशेष अङ्ग गर्भाशय भी होता है। इन अवयव-भेदों से स्त्री और पुरुष का जीवन कई बातों मे एक-दूसरे मे भिन्न हो जाता है। कुटुम्ब मे पति-पत्नी के जीवन से आरम्भ करके फिर माता-पिता और अन्त को बड़े-बूढ़ों के रूप में परिणत होता हुआ उनका जीवन समाप्त होता है। यद्यपि यह निश्चय-पूर्वक कहना कठिन है कि समाज और जीवन मे किसका महत्व अधिक है; परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि जीवन मे दोनों की अनिवार्यता है—दोनो एक-दूसरे के पूरक हैं। यद्यपि मनुष्य-समाज मे स्त्री विशेष आदर और स्नेह की दृष्टि मे देखी जाती है तथापि मानवी-जीवन का सञ्चालक, नियामक या नेता तो पुरुष ही हो रहा है। स्त्री मे स्नेह की और पुरुष मे तेज की प्रधानता पाई जाती है। शरीर के भेदों से दृष्टि हटालें तो दोनों में एक ही मूल वस्तु—आत्मा दिखाई देगी; किन्तु स्थूल जगत मे, दोनो के गुण और बल में, अन्तर पड़ गया है। इसीसे उनके कर्त्तव्य भी अपने-आप भिन्न हो गये हैं। पत्नी और फिर माता होने के कारण स्त्री के जीवन मे स्नेह, वात्सल्य और कौटुम्बिकता की अधिकता है और उसके जीवन में 'गृह' को प्रधान स्थान है। पति और पोषक होने के कारण पुरुष के जीवन मे तेज, पुरुषार्थ की प्रधानता है और उसके जीवन में 'व्यवसाय' को प्रधान स्थान मिला है। यही कारण है जो पत्नी पति की सहधर्मचारिणी मानी गई है। पति कर्त्तव्य को चुनता है और पत्नी उसकी पूर्ति मे उसका साथ देती है। दोनो एक-प्राण, दो-तन से रहते है। स्त्री पुरुष की समानता का यही अर्थ है। दोनो को अपनी परम उन्नति की सुविधा होना आवश्यक है, दोनो का एक-दूसरे की स्वतंत्रता मे सहकारी होना जरूरी है। दोनों एक असली चीज से बिछुड़े हुए है। दोनों वहीं जाने के लिए, उसीको पाने के लिए, छटपटाते हैं। दोनों का परस्पर सहयोग बहुत आवश्यक है। स्त्री-पुरुष अलग रहकर भी अपने परमधाम को पहुँच सकते है। परन्तु उस दशा में उनका संसार-बंधनो से परे रहना ही उचित है। संसार-बन्धन में पड़ने पर सामाजिक कर्त्तव्यों से वे बच नहीं सकते और इसलिए दोनों का सहयोग आवश्यक हो जाता है।

पुरुष मे तेज की और स्त्री में स्नेह की प्रधानता होती है, यह ऊपर कहा जा चुका है। तेज और स्नेह दोनों अतुल शक्तियां हैं। एक मे पराक्रम का और दूसरे में बलिदान का भाव है। पराक्रम कुछ अंश में

अपनेको दूसरों पर लादता है। स्नेह प्रायः सर्वांश में दूसरे को अपना कर आत्मसात् कर लेता है। इसी कारण बड़े-बड़े पराक्रमी स्नेह से जीत लिये जाते हैं। इसीलिए संसार में स्नेह की महिमा पराक्रम से बड़ी है। इसी कारण उपनिषद् में पहले 'मातृदेवो भव' कहकर फिर 'पितृदेवो भव' कहा गया है। सो, पराक्रम (पुरुष) यदि अकेला रहेगा तो उसे अपनेको प्रखरता से बचाने के लिए अपने अन्दर स्नेह के सेवन की आवश्यकता होगी और यदि स्नेह अकेला रहा तो उसके निर्बलता में परिणत हो जाने की आशंका है, इसलिए तेज का ओज मिलाने की जरूरत होगी। यदि स्त्री-पुरुष अकेले अपनी कमियों को इस प्रकार यत्न कर के पूरा करें तो हर्ज नहीं, अन्यथा उनके सहयोग से ही दोनों तत्व उचित मर्यादा में रह सकते हैं, और उनसे स्वयं उनको तथा समाज को लाभ पहुँच सकता है।

यहां हमें सहयोग का अर्थ अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। दैहिक विकारों को शमन करने के लिए स्त्री-पुरुषों का जो शारीरिक सहयोग होता है और उसके द्वारा सन्तति के रूप में समाज को जो लाभ होता है, केवल इतना ही अर्थ यहां सहयोग का अभीष्ट नहीं है। स्त्री-पुरुष शक्ति के दो बड़े भेद केवल इस सहयोग के लिए नहीं हुए हैं। वास्तव ये दो भेद सृष्टि के सहयोग-तत्व को सिद्ध करते हैं और बताते हैं कि सृष्टि सहयोग चाहती है, विरोध नहीं। सहयोग जीवन का तत्व है, विरोध जीवन का दोष है। इसलिए वास्तव में दोष के ही विरोध को जीवन में स्थान है। स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के दोषों का विरोध और गुणों का सम्मिलन करते हुए पूर्ण दशा को पहुँचें—यही सृष्टि-रचयिता को अभीष्ट है। अतएव सहयोग का अर्थ यहां है जीवन-कार्यों में सहयोग। केवल पति-पत्नी के ही नाते नहीं, बहन-भाई के नाते, माता-पुत्र के नाते मित्र-मित्र के नाते, सब तरह स्त्री-पुरुष का सहयोग वांछनीय और उपयोगी है।

कुछ ज्ञानियों और सन्तों ने स्त्रियों की बुरी तरह निन्दा की है। किन्तु वह स्त्री-जाति, स्त्री-तत्व, स्त्री-शक्ति की निन्दा नहीं है, वास्तव में उसके दोषों, दुर्विकारों की निन्दा है। पुरुष के दोषों, दुर्गुणों की भी इतनी ही तीव्र निन्दा की जा सकती है। बल्कि पुरुष आक्रामक होने के कारण अधिक भर्त्सना का पात्र है। सच पूछिए तो दूसरे की निन्दा करना ही अनुचित है। हमारी असफलता, दुःख या कमजोरी का कारण

हमें अपने ही अन्दर खोजना चाहिए। वह वहीं मिलेगा भी। किन्तु हम जल्दी में दूसरे के प्रति अनुदार, कठोर और अन्त में अन्यायी बन जाते हैं। इसमें न तो सचाई है, न न्याय है, न बहादुरी है।

७ : स्त्री का महत्त्व

मानव-जीवन में स्त्री का महत्त्व उसकी शरीर रचना से ही स्पष्ट है। सन्तति समाज को उसकी देन है। यद्यपि सन्तति में पुरुष का भी अंग या अंश है, किन्तु उसकी धारणा स्त्री के ही द्वारा होती है। सन्तति देकर, उसका लालन-पालन और गुण-संवर्धन करके स्त्री समाज की सेवा करती है। इसके अतिरिक्त वह स्वयं भी पुत्री, बहन, पत्नी, माता, वृद्धा के रूप में समाज की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में अनेक प्रकार की सेवायें करती है, मनुष्य-जीवन को पूर्णाङ्ग बनाती है। मृदुल-गुणों की अधिष्ठात्री होने के कारण वह समाज में सरसता और स्वाद की वृद्धि करती है। जीवन-संघर्ष में शान्ति और सान्त्वना की वह देवी है। विधवा के रूप में वह त्याग और संयम को स्फूर्ति देती है। पुत्री के रूप में घर को जगमगाती, बहन के रूप में भाई का बल और ढाल बनती, पत्नी के रूप में पति को अपने जीवन का सार-सर्वस्व लुटाती, माता के रूप में समाज को अपना श्रेष्ठतम दान देती, वृद्धा के रूप में समाज पर अपने अनुभव और आशीर्वाद की वृष्टि करती हुई स्त्री-समाज के अगणित उपकार करती है। काव्य, नाटक, चित्र, संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं का आधार स्त्री-जाति ही है। इतिहास में स्त्रियों ने वीरोचित कार्य भी किये हैं। समय पड़ने पर स्त्रियों ने पुरुषों में वीरता और तेज का संचार भी किया है। दर्शन-ग्रन्थों में वह आदिशक्ति, महामाया भी मानी गई है। अतएव एक अर्थ में स्त्री ही समस्त शक्ति की जननी है। पुरुष अपने सारे सत्व को खींचकर स्त्री को प्रदान करता है। किन्तु स्त्री उसे गृहण करके अपने सत्व में उसे मिलाती, अपने में उसे धारण करती, और फिर उसकी अनुपम कृति जगत् को प्रदान करती है। इसलिए पुरुष केवल देता है। किन्तु स्त्री लेती है, रखती है, मिलाती है, और फिर दे देती है। पुरुष तो अपनी थाती स्त्री को देकर अलग हो जाता है, किन्तु स्त्री बड़ी वफादारी से उसे संचित करके जगत् को देकर ही अलग नहीं हो जाती, बल्कि उसे जगत् की सेवा के योग्य बनाती है।

प्रकृति ने अपने समस्त गुणों को एकत्र करके उसके दो भाग किये

(१) मृदुल और (२) परुष। मृदुल अंश का नाम स्त्री और परुष का पुरुष रक्खा। स्वयं कष्ट सहकर दूसरों को सुख पहुंचाना मृदुल गुणों की विशेषता है। क्षमा, दया, तितिक्षा, उदारता, शांति, आदि मृदुल गुणों के कुछ नमूने हैं। ये अपने धारण करने वाले को कष्ट और दूसरे को सुख पहुंचाते हैं। परन्तु धारण करने वाला उस कष्ट को कष्ट इस लिए अनुभव नहीं करता कि वह दूसरे के सुख में अपने को सुखी मानता है। यह स्त्री का आदर्श है। यही स्त्री की दिव्यता है, यही पुरुष पर स्त्री की विजय है। यही जगत में स्त्री का वैभव है। यही मानव जीवन में स्त्री का गौरव है। स्त्री के अभाव में जगत हिंसा, कलह, अशांति और दुःख का नमूना बन गया होता। उसमें हरे-भरे विटप-वृन्द नहीं, बल्कि रूखे-सूखे ठूंठ नजर आते। शोभा, सुन्दरता, सरसता, सजीवता की जगह भीषणता, बीभत्सता, नृशंसता, स्वार्थान्धता और रक्त-पिपासा का राज्य दिखाई देता। स्त्री ने उत्पन्न होकर जगत पर अमृत की वृष्टि की है। उसने मनुष्य को उत्पन्न ही नहीं किया, जगत् को जिलाया और अमर बनाया है।

८ : पुरुष का कार्य

पुरुष के शरीर में ओज, तेज, पराक्रम, के गुणों की अधिकता है। इसलिए, स्त्री जहां उत्साह और जीवन देती है वहां पुरुष रक्षा करता, आगे बढ़ता, कठिनाइयों को मिटाता, संकटों को चीरता और सफलता पाता है। स्त्री में रमणीयता और पुरुष में पराक्रम है। स्त्री लुभाती है और पुरुष भयभीत करता है। स्त्री में आकर्षण है, पुरुष में आंच है। स्त्री की ओर मनुष्य बरबस दौड़ा आता है, पुरुष की ओर सहमता हुआ कदम उठाता है। स्त्री के हृदय में अपना हृदय मिला देना चाहता है, किन्तु पुरुष को दूर ही से पूजने योग्य समझता है। पुरुष में सूर्य की प्रखरता है, स्त्री में शशि की स्निग्धता और सुधामयता। इसलिए पुरुष समाज का रक्षक, पथदर्शक, नेता और भय-त्राता है। स्त्री समाज की सेविका है, पुरुष समाज का सिपाही है। स्त्री खींचती है और जीतती है। पुरुष बढ़ता है और जीतता है। स्त्री स्नेह फैला कर जीतती है, पुरुष धौंस दिखाकर जीतता है। स्त्री हृदय को जीतती है, पुरुष उसे दबाता है। स्त्री हराकर भी हारा हुआ नहीं समझने देती, पुरुष हराकर फिर कोशिश करता है कि वह जीतने न पावे। इस कारण यद्यपि पुरुष की धौंस का

प्रभाव समाज पर विशेष रूप से पाया जाता है तथापि समाज के हृदय की डोर तो स्त्री ही हिलाती है। इसलिए पुरुष आदर-पात्र होता है और स्त्री स्नेह-पात्र पुरुष को आदर देकर बदले मे लोग आदर नहीं पाते, किन्तु स्त्री को स्नेह देकर बदले मे बढ़ता हुआ स्नेह पाते हैं। क्योंकि पुरुष अपने लिए बड़ा है, स्त्री दूसरों के लिए बड़ी है। धौंस आदर चाहती है—झुकाना चाहती है; स्नेह दिल मिलाना चाहता है। आदर मे बड़प्पन है, स्नेह में समानता है। लोग बड़ो को चाहते तो हैं, किन्तु खुश रहते है बराबर वालों से। पुरुष में दूसरे को अंकित करने का भाव प्रबल है। इसलिए ऐसे ही गुणों का विकास उसमे स्पष्ट रूप से पाया जाता है। इसलिए स्त्री की सेवाओं को इतिहास नहीं जानता, उसने मनुष्य के जीवन-विकास मे अपना इतिहास छिपा रक्खा है।

पुरुष प्रधानतः इन चार रूपों में समाज की सेवा करता है—सिपाही, नेता, अध्यापक, गुरु। सिपाही के रूप मे वह समाज के लिए लड़ता और विजय पाता है। नेता के रूप मे वह समाज को आगे खींचता और उठाता है। अध्यापक के रूप मे वह अच्छे संस्कारो को जगाता और गुरु के रूप में उसे अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाता है। संसार में जहां कही निर्भयता है, तेजस्विता है, दुर्दमनीयता है, प्रखरता है, वह पुरुष-शक्ति की देन है। यदि पुरुष न होता तो हिंस्र पशु मनुष्य को चट कर गये होते। यदि पुरुष न होता तो स्त्री, बालक, निर्बल अनाथ हो गये होते। यदि पुरुष न होता तो मृदुल भावों, मृदुल गुणों, या यों कहें कि साहित्य, संगीत, कला, को आश्रय ही न मिला होता। पुरुष न होता तो राज्य, समाज, संस्थायें न होती, न शास्त्र और विज्ञान का इतना विकास ही सम्भवनीय था। पुरुष न होता तो समाज में संगठन, आन्दोलन, युद्ध विजय, इन शब्दों और बड़े-बड़े राज्यों तथा धर्म-शास्त्रो का जन्म न हुआ होता। पुरुष मस्तिष्क का राजा है और स्त्री हृदय की देवी है। इसलिए पुरुष यदि न हुआ होता तो संसार दिमागी खूबियो से खाली रह जाता। पुरुष ज्ञान का और स्त्री बल का प्रतीक है। स्त्री न होती तो जिस प्रकार उत्साह और प्रेरणा-हीन निर्जीव समाज हमें मिला होता उसी प्रकार यदि पुरुष न हुआ होता तो अन्ध, पंगु, अबुध, असहाय, समाज में हम अपने को पाते। स्त्री बिना समाज यदि जीवन-हीन है तो पुरुष बिना गति-हीन और दर्शन-हीन। इसलिए पुरुष समाज का सिरमौर और वन्दनीय है। पुरुष सत्य का तेज है और स्त्री अहिंसा की देवी है।

६ : स्त्री-पुरुष-व्यवहार

तो अब यह प्रश्न उठता है कि स्त्री-पुरुष के पारस्परिक व्यवहार की क्या नीति हो ? एक तरफ पुराने विचार के लोग हैं जो स्त्री को धूप और हवा भी नहीं लगने देना चाहते, दूसरी तरफ वे सुधारक हैं जो स्त्री पुरुष के व्यवहार में कोई भेद, कोई मर्यादा ही नहीं रखना चाहते। अतः हमें यह तय करना है कि इनमें से कौन सा मार्ग हमारे लिए अच्छा है। या कोई तीसरा ही रास्ता हमें निकालना होगा।

हम देख चुके हैं कि स्त्री और पुरुष के मूल-रूप में कोई भेद नहीं है। दोनों में एक ही आत्मा है अर्थात् आत्मा-रूप से दोनों एक से है। परन्तु शरीर दोनों का जुदा-जुदा है। यह भेद प्रकृति ने ही किया है। इसलिए दोनों के व्यवहार मे कुछ भेद और मर्यादा तो रखनी ही होगी। स्त्री माता बनती है और बच्चे को दूध पिलाती है। ६ मास तक बालक को गर्भ में रखकर उसकी सेवा करती है। इसलिए उसकी मर्यादा का जरूर ख्याल करना होगा। शरीर-रचना के भेद से स्त्री पुरुष दोनों के कुछ कर्तव्य जुदा-जुदा हो जाते हैं। इसलिए दोनों के पारस्परिक व्यवहार मे भेद और मर्यादा रहना अनिवार्य है। जीव रूप में, या आत्मा-रूप में, दोनों की आवश्यकतायें समान हैं। इसलिए दोनों के कर्तव्य, अधिकार मर्यादा समान हैं, लेकिन स्त्री व पुरुष रूप में दोनों के शरीर की आवश्यकता जुदा-जुदा हैं इसलिए समाजमें दोनों का दरजा और मर्यादा भी जुदा-जुदा होना उचित है। इस बात को ध्यान में रख कर समानता का दावा किया जाय तो वह सर्वथा न्याय्य होगा। पुरुष में भी माता बनने के गुण जब तक नहीं आ जाते तब तक यह भेद मानना लाजिम है।

स्त्री-पुरुष की गाड़ी आगे बढ़ने और ऊंचे चढ़ने के लिए है, पीछे हटने या नीचे गिरने के लिए नहीं, यह सिद्ध करने की जरूरत नहीं है। इसलिए हमारी समानता की भावना और अधिकार का भी यही फल निकलना चाहिए। यदि स्त्री-पुरुष के समान भाव से छूट लेने का यह नतीजा हो कि एक दूसरे को नीचे खींचने और गिराने के जिम्मेदार बनें तो जिस जड़ को हमने सींचना चाहा था उसीको उखाड़ कर फेंक दिया। स्त्री और पुरुष का परस्पर आकर्षण इतना तेज होता है कि यदि हम इस मूलभूत बात को भूल जायं तो अनर्थ का ठिकाना न रहे।

स्वतन्त्रता और समानता वास्तव में मनुष्य के दो फेफड़ों के समान

आवश्यक और हितकारी हैं। परन्तु फेफड़े पेट का काम नहीं कर सकते। वह अपनी मर्यादा में स्वतन्त्र है और अपनी उपयोगिता के क्षेत्र में समानता रखते हैं। इसी तरह पुरुष और स्त्री दोनों स्वतन्त्र और समान हैं, परन्तु हर एक की सीमा प्रकृति ने बांध दी है। उसे न पहचान कर यदि हम व्यवहार करेंगे तो हमारी स्वतन्त्रता, उच्छृङ्खलता और समानता अपने विशेषाधिकार के रूप में बदल जायगी। स्त्री पुरुष परस्पर प्रेम करने के बजाय एक दूसरे पर अत्याचार करने लगेंगे।

आज हमारे समाज में पुरुष का आधिपत्य है और स्त्री उससे दबी हुई है। इस स्थिति में परिवर्तन की आवश्यकता है और समझदार पुरुष तथा जागृत देवियां इस विषय में उद्योगशील भी हैं। पर यही समय जब कि पुरानी रूढ़ियों के बांध तोड़े जा रहे हैं, स्त्री पुरुष दोनों के जीवन में बहुत नाजुक और मूल्यवान है। नाजुक तो इसलिए कि यदि उन्होंने मर्यादाओं का ध्यान न रखा तो दोनों न जाने कहां बह जायेंगे और मूल्यवान इसलिए कि हम एक नवीन, सतेज, स्वतन्त्र, स्वावलम्बी समाज की रचना करने जा रहे हैं।

स्त्री पुरुष दोनों का जीवन कर्ममय है, कर्म में ही उनका जीवन, उन्नति, सुधार है। इसलिए काम-काज के सिलसिले में ही दोनों एक दूसरे के सम्बन्ध में आवें, यह अभीष्ट है। निर्दोष आमोद-प्रमोद और मनोरंजन के भी अवसर ऐसे होते हैं जहां स्त्री पुरुष का सहयोग हो सकता है। दम्पती विशेष अवसर पर विशेष प्रकार से मिलते हैं। रोगियों की सेवा-शुश्रूषा भी ऐसा प्रसंग है जहां स्त्री पुरुष के मिलने की सम्भावना कभी-कभी होती है। इसके अलावा स्त्री पुरुष का मिलना-जुलना, परस्पर घनिष्ठता बढ़ाना, निरर्थक है। इसलिए नहीं कि वह पाप है, बल्कि इस लिए कि वह हमें नीचे गिरा सकता है। और बुद्धिमान मनुष्य को गिर कर गिरने की परीक्षा न करनी चाहिए। यह गिरावट प्रेम के भरोसे मोह में फंस जाने से होती है। अतः हम यहां प्रेम व मोह के भेद को समझ लें।

प्रेम आत्मिक और मोह शारीरिक है, अर्थात जब तक आत्मिक गुण के प्रति आकर्षण है तब तक वह प्रेम का आकर्षण है, जब शारीरिक सौंदर्य या शारीरिक भोग की ओर आकर्षण होने लगे तब समझो कि वह मोह का आकर्षण है और अपनेको सम्भालो। एक सुन्दर पुष्प को हम देखते हैं, उसके दैवी सौंदर्य पर मुग्ध होते हैं, उसमें ईश्वरी छटा के दर्शन

करते हैं, यह प्रेम हुआ; जब उसे तोड़ कर सूंघने या माला बना कर धारण करने का मन हुआ तब समझो हम मोह के शिकार हो रहे हैं।

दूसरे, प्रेम में जिसे हम प्रेम करते हैं, उसके प्रति त्याग, उत्कर्ष, सेवा करने का भाव होता है; मोह में भोग, सुख, सेवा लेने की चाह रहती है। प्रेमी स्वयं कष्ट उठाता है, प्रेम-पात्र को कष्ट पहुँचाना नहीं चाहता. उसकी उन्नति चाहता है, अधोगति नहीं। मोहित व्यक्ति अपने सुख-भोग की अनियन्त्रित इच्छा के आगे प्रेम-पात्र के कष्ट और दुख की परवा नही करता। उसकी रुचि अच्छे खान-पान, साज-शृङ्गार, नित्य नाटक-सिनेमा आमोद-प्रमोद में होगी—जहां कि एक प्रेमी उसके मानसिक, नैतिक और आत्मिक गुणों तथा शक्तियों के विकास में, उसकी योजनाओं और कार्य-क्रम में मग्न रहेगा।

हमारे हृदय में प्रेम है या मोह, इसकी सच्ची जानकारी तो हम अपने मनोभावों पर निगाह रख कर ही कर सकते हैं—बाह्य विधि-विधान से नहीं। बाह्य नियम मर्यादाएं हमें एक हद तक नियंत्रण में रख सकते हैं। और इस दृष्टि से बहुत उपयोगी भी हैं, परन्तु वे प्रेम या मोह की परीक्षा के अचूक उपाय नहीं है। दुनिया अक्सर बहिर्दृष्टि होती है। बाहरी आचार-विचार से ही वह अक्सर मनुष्य की नाप-तौल करती है। हमारे मानसिक और आन्तरिक भावों के दूर से जानने और समझने का दूसरा साधन भी तो नहीं है। मार्मिक-दृष्टि व्यक्ति तो बिरले ही होते हैं, जो ऊपरी हाव-भाव या आचार-विचार में से भीतरी भाव को ताड़ लें। अतः लोक-दृष्टि से भी बाह्य मर्यादाओं का बड़ा महत्व है। फिर भी मुख्य और मूल्यवान वस्तु तो हमारे हृदय का असली भाव ही है। हम आप ही अपने परीक्षक, निरीक्षक, पहरेदार और पथ-प्रदर्शक बनेंगे, तभी सुरक्षितता से हम अपने ध्येय को पहुँच सकेंगे।

प्रेम से मोह, मोह से भोग, भोग से पतन-यह अधोमुख जीवन का क्रम है। प्रेम से सेवा, सेवा से आत्म-शुद्धि, आत्म-शुद्धि से आत्मोन्नति यह—ऊर्ध्वगामी जीवन का। प्रेम से हम मोह की तरफ बढ़ रहे हैं या सेवा की तरफ—यही हमारे आत्म-परीक्षण की पहली सीढ़ी है।

१० : बालक-जीवन

स्त्री में ऋतु की प्राप्ति और पुरुषों में मूंछों की रेख का बँधना बाल्य-काल की समाप्ति और यौवन के आगमन का चिह्न है। बचपन

मनुष्य के जीवन में सबसे निर्दोष तथा कोमल अवस्था है। उस सरलता, निष्कपटता, सहज-स्नेह का अनुभव मनुष्य फिर पूर्ण ज्ञानी होने पर ही कर सकता है। बचपन की निष्पापता स्वाभाविक और ज्ञानी अथवा पूर्ण मनुष्य की साधुता परिपक्व ज्ञान का फल होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि बचपन में मनुष्य सचमुच निर्दोष होता है, बल्कि यह कि उस समय उसके संस्कार मन्द या सुप्त होते है और आगे चलकर वयो-धर्मानुसार दुनिया के सम्पर्क में आने से जाग्रत और विकसित होते हैं। वास्तव मे बालक भावी मनुष्य हैं। जैसे कली में फल छिपा हुआ होता है वैसे ही बालक में मनुष्य समाया हुआ होता है। बालक ही खिलकर और फलकर मनुष्य होता है। वह अपने प्राप्त और संचित संस्कारों के अनुसार अपने आसपास के वातावरण मे से गुण-दोष ग्रहण करता रहता है और अन्त में मनुष्य बन जाता है। ज्यों-ज्यों बचपन समाप्त होता जाता है त्यो-त्यों उसमें एक ऐसी शक्ति पैदा होती जाती है जो उसे भले और बुरे की तमीज सिखाती है और अपने मन के वेगों को रोकने का सामर्थ्य देती है। इसे बुद्धि या सारासार-विचार-शक्ति कहते हैं। जब यह मनुष्य को किसी काम से रोकती है या किसी मे प्रेरित करती है तब उसे पुरुषार्थ कहते हैं। इस विवेक और पुरुषार्थ के बल पर ही मनुष्य अपने बुरे संस्कारों को मिटाकर अपनी उन्नति करता है। परन्तु बचपन में ये शक्तियां बीजरूप में रहती हैं, इसलिए किसी रखवाले की जरूरत होती है। दूध पीने तक मुख्यतः माता, पाठशाला जाने तक माता-पिता तथा कुटुम्बीजन और फिर अध्यापक बालक के रखवाले होते हैं। उसके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा, चाल-चलन, का भार इन्हीं पर होता है। बालक अनुकरणशील होता है। बोलने और अपने मन के सभी भावों को अच्छी तरह प्रकाशित करने का सामर्थ्य तो उसमें बहुत कम होता है; किन्तु समझने और ग्रहण करने की शक्ति काफी होती है। बालक कई बार आंखों के उतार-चढ़ाव और चेहरे के हाव-भाव से हमारे मन के भावों को ताड़ जाता है। वह हमारी समालोचना भी करता है और परीक्षा भी लेता रहता है। वचन-भंग से बालक बहुत रुष्ट होता है और बुरा मानता है 'हठ' तो बालक की प्रसिद्ध ही है। इस कारण उसके अभिभावकों की जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है। वे बालक को जैसा बनाना चाहते हों वैसा ही वायुमण्डल उन्हें अपने घर और कुटुम्ब का बनाना चाहिए। हमारा निजी जीवन जैसा होगा वैसा ही घर का वाता-

बरता होगा। दुर्व्यसनी, झूठे, पाखण्डी, दुष्ट लोगों के घर में बच्चा अच्छे संस्कार कैसे पा सकेगा? अतएव बच्चे को अच्छा बनाना हो तो अपने को अच्छा बनाना चाहिए।

यदि हमने मनुष्य के जीवन के लक्ष्य को और उसके मर्म को अच्छी तरह समझ लिया है तो हमे बच्चे की शिक्षा-दीक्षा और पालन-पोषण मे कठिनाई न होगी। मनुष्य का लक्ष्य एक है—पूर्ण स्वतन्त्रता। उसीकी तरफ हमें बच्चे की प्रगति करना है। उसके कपड़े-लत्ते, खान-पान, खेल-कूद, पढ़ना-लिखना, सोना-बैठना, सब में इस बात का पूरी तरह ध्यान रखना होगा। घर में सादगी, स्वच्छता, सुघड़ता, पवित्रता की वृद्धि जिस तरह हो वही उपाय हमे करना चाहिए। माता का दूध बच्चे का सर्वोत्तम आहार है। मां का दूध बन्द होने के बाद उसे सादे और सात्त्विक किन्तु पौष्टिक आहार की आदत डालनी चाहिए। सफाई और सुघड़ता का पूरा ध्यान रहे। दांत, नाक खूब साफ रहें। कपड़े और शरीर की सफाई भी उतनी ही आवश्यक है। सुबह-शाम प्रार्थना करने की आदत डालनी चाहिए। अपनी चीजें सँभाल कर और नियत स्थान पर रखना सिखाना चाहिए। ऐतिहासिक, राष्ट्रीय और दैवी पुरुषों के चित्र और वैसे ही खिलौने उन्हे देने चाहिए। कहानियों और अच्छे-अच्छे भजनों तथा गीतों द्वारा उसका चरित्र बनाने का ध्यान रखना चाहिए। कोई गुप्त बात अथवा अश्लील कार्य बच्चे के सामने न करना चाहिए। बच्चो की शिक्षा के सम्बन्ध में विशेषज्ञों द्वारा निर्मित साहित्य माता-पिता को अवश्य पढ़ लेना चाहिए।

बालक प्रकृति का दिया हुआ खिलौना, घर का दीपक और समाज की आशा होता है। इसलिए उसके प्रति सदा प्रेम का ही बरताव करना चाहिए। मारने-पीटने से उलटा बालक का बिगाड़ होता है। बालक के साथ धीरज रखने की जरूरत है। जब हम नतीजा जल्दी निकालना चाहते हैं, या बच्चा हठ पकड़ लेता है तभी हम धीरज खो बैठते है और उसे मारने पीटने लगते हैं। हमें इस प्रकार अपनी कमी की सजा बच्चे को न देना चाहिए। यद्यपि सभी बच्चो मे एक ही आत्मा की ज्योति जगमगाती हैं और उसकी कोशिश बन्धन को तोड़कर आजादी की ओर है तथापि हमें बच्चे की स्वाभाविक और आनुवंशिक प्रवृत्ति समझने की चेष्टा करनी चाहिए। आत्मिक अंश के साथ अनेक संस्कार मिलकर बच्चे का स्वभाव बनता है। उसकी चित्त-प्रवृत्ति जिधर हो उधर ही का मार्ग

उसके लिये सुगम कर देना अभिभावकों का काम है इसका यह अर्थ कदापि नही है कि हम उसकी बुरी प्रवृत्तियों को बढ़ावें। कोई बालक भावना-प्रधान होता है, कोई बुद्धि-प्रधान; किसी का मन पढ़ने-लिखने में अधिक लगता है, तो किसी का खेलकूद मे। यह जरूरी नहीं कि बच्चे को हम सदैव अपनी इच्छा के अनुसार चलावें। उसे उसकी स्वाभाविक सत् प्रवृत्ति की ओर बढ़ने दें—सिर्फ हम उतनी ही रोक-थाम करते रहें जितनी उसको कुप्रवृत्ति की ओर से हटाने के लिए आवश्यक है। बच्चे के लिए हर आवश्यक सामग्री के चुनाव में हम पूरी सावधानी से काम लें। अनियम और स्वेच्छाचार से उसे बचाने का उद्योग करें। ऐसे खेलो की आदत डालें जिससे उसका शरीर गठीला हो और मन पर अच्छे संस्कार पड़ें। देशभक्ति, मानव-सेवा, नीति और सदाचार-सम्बन्धी श्लोक, भजन, बोध-वचन उसे कंठस्थ कराना चाहिए। अपने कुल, समाज और देश या राष्ट्र की परम्परा तथा संस्कृति का ज्ञान उसे बचपन से ही प्रसंगानुसार कराते रहना चाहिए। जीवन-चरित्रो का असर बालक के हृदय पर बहुत होता है। इसलिए देश विदेशों के उत्तम और वीर-पुरुषो के चरित्र उसे अवश्य सुनाने चाहिए। भूतप्रेत आदि की डरावनी बातें कहकर बच्चे के हृदय को निर्बल न बनाना चाहिए। बच्चा यदि डर से कोई काम करता हो तो इसमें बच्चे की किसी प्रकार उन्नति नहीं है। डरपोक बालक घर, कुटुम्ब, समाज सबके लिए शर्म है। अभिभावकों को सदा यह इच्छा रहनी चाहिए कि हमारा बालक हमसे बढ़कर निकले। वीर और सेवा-परायण बालकों के चरित्र भी सुनाने चाहिए। जबतक लिंग ज्ञान न होने लगे तबतक लड़के-लड़कियों को साथ रहने और खेलने में हर्ज नहीं है। हठी बालक से घबराना न चाहिए। बोदे बालक की अपेक्षा हठी बालक अच्छा होता है। आज्ञाओं और नियमों का पालन बच्चों पर लादना नहीं चाहिए। किन्तु वह नियम-बद्ध और आज्ञापालक हो, इस ओर ध्यान देना चाहिए। हमारे घर का जीवन भी ऐसा होना चाहिए कि बच्चा खुद-ब-खुद नम्र और सभ्य बनता जाय। अपनी जरूरत के हर काम को खुद करने की आदत बच्चे को डालनी चाहिए। अपनी अपेक्षा अपने सहवासियों का अधिक खयाल करने की शिक्षा बालक को सदैव देनी चाहिए।

बालक मानव-जीवन की ज्योति है, इसलिए, जीवन-संघर्ष में पड़ने

के पहले ही, उसे आवश्यक रूप से तैयार करना प्रत्येक माता-पिता और अभिभावक का परम धर्म है

११ : सार्थक जीवन की शर्तें

अब जीवन को सार्थक बनाने वाली शर्तों को जान लेना जरूरी है। पहले तो हम यह अच्छी तरह समझ लें कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य—सर्वोच्च आदर्श—क्या है। इसके बाद हम यह सोचें कि जीवन के विकास-पथ में आज हम किस मंजिल पर हैं। तभी हम अपना कार्यक्रम बनाने मे सफल हो सकेंगे। अपने अन्तिम लक्ष्य के अनुरूप कोई निकटवर्ती जीवन साध्य हमें निश्चित कर लेना चाहिए। वह ऐसा हो जो हमारी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल हो। फिर हमें तत्सम्बन्धी अपनी योग्यता और अपूर्णता का विचार करना चाहिए और फिर अपूर्णता की पूर्ति का उद्योग करना चाहिए। साथ ही हमें अपने दैनिक जीवन के कार्यक्रम की उचित व्यवस्था करनी चाहिए।

कार्यक्रम भी दो प्रकार का हो सकता है—एक तो व्यक्तिगत, दूसरा सामाजिक। व्यक्तिगत में सिर्फ इतना ही विचार करना काफी होगा कि हमारे घर की स्थिति कितनी अनुकूल और कितनी प्रतिकूल है। सामाजिक कार्यक्रम की अवस्था में सामाजिक स्थिति का भी हिसाब लगाना होगा। किसी कार्यक्रम का निश्चय करने के पहले हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि इसका असर मुझ पर, सामने वाले पर, मेरे कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र तथा उनकी व्यवस्थाओं पर क्या होगा? यदि कार्य ऐसा हो कि अकेले मुझे तो लाभ हो; पर शेष सबको हानि, तो उसे त्याज्य समझना चाहिए। छोटे और थोड़े लाभ को बड़े लाभ के आगे छोड़ने की प्रवृत्ति रखनी चाहिए। यदि अपना और कुटुम्ब का लाभ हो, किन्तु समाज और देश का अहित होता हो तो उसे छोड़ देना चाहिए। इसके विपरीत यदि समाज और देश का हित होता हो तो अपनी और कुटुम्ब की हानि को मंजूर करके भी उसे करना चाहिए।

हमारी अपूर्णता दो प्रकार की हो सकती है—विचार या बुद्धि संबन्धी और भौतिक सामग्री-संबन्धी। ज्ञान-सम्बन्धी हो तो अपने से अधिक योग्य और अनुभवी व्यक्ति को पथ-दर्शक बनाना चाहिए। भौतिक सामग्री में धन, जन, और अन्य उपकरणों का समावेश होता है। धन प्रधानतः धनियों से मिल सकता है। सहायक आरम्भ में अपने कुटुम्ब,

मित्र-मंडल और सहयोगियों में से मिल सकते है। उच्च चारित्र्य सब जगह हमारी सहायता करेगा। यदि चारित्र्य नहीं है तो धनियों की खुशामद करनी होगी। खुशामद हमें शुरू में ही गिरा देगी। जिस अन्तिम लक्ष्य की साधना के लिए हमने कदम बढ़ाया है उससे हमारा मुंह मोड़ देगी। खुशामद के लिए मिथ्या स्तुति अनिवार्य है। वह हमें सत्य से दूर ले जायगी और बल तथा प्रभाव तो सच्चाई में ही हैं। अतः धन प्राप्त करने के लिए हमें सब से पहले सच्चाई का आश्रय लेना होगा। जन प्राप्त करने के लिए प्रेम, ममता, उदारता और क्षमाशीलता जरूरी हैं। 'मुझे किसी की परवा नहीं' ऐसी मनोवृत्ति से जन नहीं जुट सकते। जन जुटाने में हमें उलटा सौदा न कर लेना चाहिए। सिद्धांत, आदर्श और मनोवृत्ति की एकता जितनी ही अधिक होगी उतनी ही सहयोगिता स्थायी और सुखद होगी।

धन-जन आदि सामग्री प्राप्त कर लेना तो फिर भी आसान है; परन्तु उनको संग्रह कर रखना और उनका उचित उपयोग करना बड़ा कठिन है। खुशामद, बाहरी प्रलोभन से धन-जन सामग्री जुट तो सकती है; किंतु संचित नह रह सकती। यदि केवल स्वार्थ हमारा उद्देश होगा तो भी वह घर आई सम्पद् चली जायगी। हममें जितनी ही निस्वार्थता और सचाई होगी उतनी ही यह सम्पद् टिक रहेगी। सचाई के माने हैं उच्चार और आचार की एकता। उचित उपयोग के लिए बुद्धि-बल की आवश्यकता है। मानवी स्वभाव का ज्ञान, समय की परख, समझाने की शक्ति, तात्कालिक आवश्यकता की सूझ, सरस और मीठी वाणी इसके लिए बहुत जरूरी है। प्राप्त धन-जन और अपनी बुद्धि के उचित उपयोग से हम अपना कार्य भी साधते हैं और उसके द्वारा प्राप्त अनुभव से अपनी अपूर्णता भी कम करते हैं।

इसके अतिरिक्त शरीर, मन और बुद्धि-सम्बन्धी गुणों की आवश्यकता तो हुई है। यदि हम अपने अन्तिम लक्ष्य और निकटवर्ती ध्येय को ठीक कर लें और सदा इस बात का ध्यान रखते रहें कि हम सीधे अपने लक्ष्य की ओर ही जा रहे हैं तो हमें अपने आप सूझता जायगा कि हमें किन-किन शारीरिक, मानसिक और आत्मिक गुणों के प्राप्त करने की आवश्यकता है। अन्तिम लक्ष्य तो मनुष्यमात्र का निश्चित ही है मुक्ति या मुक्ति अर्थात् पूर्ण स्वतंत्रता। फर्ज कीजिए कि गोविन्द ने अपने लिए यह तय किया कि भारत के लिए पूर्ण राजनैतिक स्वतंत्रता

प्राप्त करना उसका नजदीकी लक्ष्य है। इस लक्ष्य को प्राप्त करके वह अन्तिम लक्ष्य पूर्ण आत्मिक स्वतंत्रता को पहुंचना चाहता है, तो सबसे पहले वह इस बात का विचार करेगा कि उसके स्वराज्य-प्राप्ति के साधन ऐसे हों जो उसे आत्मिक स्वतंत्रता से पराङ्मुख न कर दें। यदि आत्मिक स्वतंत्रता उसके दृष्टि-पथ से अलग नहीं है तो वह फौरन इस निर्णय पर पहुंच जायगा कि भारतीय राजनैतिक स्वतंत्रता का पथ उसकी आत्मिक स्वतंत्रता के पथ से भिन्न नहीं हो सकता। यदि इस बात में कोई गलती नहीं है कि मनुष्य का अंतिम लक्ष्य पूर्ण आत्मिक स्वाधीनता है तो फिर प्रत्येक भारतीय का मनुष्य होने के नाते वही अन्तिम लक्ष्य है और इसलिए उसकी राजनैतिक स्वाधीनता का पथ आत्मिक स्वाधीनता के ही अनुकूल होगा। आत्मिक स्वाधीनता के लिए सब से जरूरी बात है मनुष्य में सच्चाई का होना। सच्चाई के दो मानी हैं— एक तो सच्चाई का ज्ञान और दूसरे उसका दृढ़ता से पालन करने की व्याकुलता। यह सच्चाई मनुष्य की गति को रुकने नहीं देती और ठीक लक्ष्य की ओर अचूक ले जाती है। यही गुण राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए भी अनिवार्य है। क्योंकि बल जो कुछ है वह सच्चाई में ही है। कहते हैं—सांच को आंच क्या? झूठ आखिर के दिन चलता है? झूठे आदमी से लोग डरते हैं, प्रेम नहीं करते। राजनैतिक और आत्मिक दोनों स्वतंत्रताओं के लिए एक जरूरी बात यह है कि मनुष्य दूसरों के साथ अपने संबंध को स्थिर करे। उसे दूसरों के संपर्क में आना पड़ता है; उन्हें काम देना लेना पड़ता है। यह सम्बन्ध जितना ही अधिक मधुर प्रेममय और सुखदायी हो उतना ही जीवन और जीवन की प्रगति सुखमय, निश्चित और शीघ्र होगी। दूसरों को दुःख न देते हुए काम करने की प्रवृत्ति रखना इसके लिए बहुत आवश्यक है। खुद कष्ट उठा लें पर दूसरों को कष्ट न होने पावे—इस भावना का नाम है अहिंसा। यह अहिंसा हमारे पारस्परिक व्यवहार को शुद्ध, स्थिर और परस्पर सहायक बनाती है। यह सत्य का ही प्राथमिक व व्यावहारिक रूप है। अपनी दृष्टि से, अपनी अपेक्षा से जिसे सत्य कहते हैं, दूसरे की अपेक्षा से वह अहिंसा कहा जाता है। सत्य का प्रयोग जब दूसरे पर करते हैं तो वह अहिंसा के रूप में बदल जाता है। इस तरह क्या आत्मिक स्वाधीनता और क्या राजनैतिक स्वतंत्रता दोनों के लिए सत्य और अहिंसा ये दो गुण प्रत्येक मनुष्य में और इसलिए प्रत्येक भारतीय में अनिवार्य हैं।

जितना ही इनका विकास हमारे अन्दर अधिक होगा उतने ही हम दोनों प्रकार की स्वाधीनता के निकट पहुँचेंगे। यह सोचकर गोविन्द निश्चय करता है कि मैं सत्य और अहिंसा का पालन करूंगा। ये तो हुए सर्व-प्रधान मानसिक और आत्मिक गुण। दोनों स्वाधीनताओं के लिए मनुष्य में कठोर और मृदुल दोनों प्रकार के गुणों के उदय की आवश्यकता है।

पिछले अध्यायों में हम यह देख ही चुके हैं कि क्षमा, दया, तितिक्षा, उदारता, शान्ति आदि मृदुल गुण हैं और पुरुषार्थ, पराक्रम, शूरवीरता, तेजस्विता, निर्भयता, साहस आदि कठोर गुण हैं। समस्त कठोर गुणों का समावेश सत्य में और मृदुल गुणों का अहिंसा में हो जाता है। एक ओर से सत्य का आग्रह रखने का और दूसरी ओर से अहिंसा के पालन का आप प्रयत्न कीजिए तो मालूम होने लगेगा कि आपमें कठोर और मृदुल दोनों प्रकार के गुणों का विकास हो रहा है—एक ओर आपका तेज अबाध रूप से बढ़ रहा है और दूसरी ओर सहवासियों में आपके प्रति प्रेम और सहयोग की मात्रा बढ़ती जा रही है। सत्य अपने स्वत्व की गैरंटी है और अहिंसा दूसरे को उसकी स्वत्व-रक्षा का आश्वासन देती है। सत्य जब व्यावहारिक रूप में अहिंसा बनने लगता है तब कौशल या चातुरी की उत्पत्ति होती है। जब मनुष्य को यह सोचना पड़ता है कि एक ओर मुझे सत्य से डिगना नहीं है, दूसरी ओर दूसरे को कष्ट पहुँचने नहीं देना है, किन्तु यह बात तो दूसरे से कहनी या करा लेनी है तो अब ऐसी दशा में किस तरह काम किया जाय? इसका जो उत्तर उसे मिलता है या जो रीति उसे सूझती है उसीको व्यावहारिक भाषा में कौशल या चातुरी कहते हैं। सत्य और अहिंसा की रगड़ से यह पैदा होती है। झूठ, बनावट, मक्कारी से भी चतुराई की जाती है, किन्तु असली हीरे और नकली हीरे में जो जो भेद होता है वही इन दोनों प्रकार के कौशल में होता है। एक जबानी, ऊपरी और दिखाने के लिए होता है; दूसरा हृदय की संस्कृति का फल होता है। सत्य और अहिंसा के मंथन से एक और मानसिक गुण बढ़ता है वह है बुद्धि की तीक्ष्णता। सत्य और अहिंसा के पथिक को कदम-कदम पर सोचना पड़ता है। पेचीदगियों में से रास्ता निकालना पड़ता है। इससे उसकी प्रज्ञा तीक्ष्ण होती है।

अब रही शारीरिक योग्यता। सो यह उचित खान-पान, व्यायाम आदि से प्राप्त हो जाती है। परिमित आहार और नियमित व्यायाम निरोगता की सब से बढ़ कर औषधि है। दूध से बढ़कर पौष्टिक, नींद से

बढ़कर दिमाग को ताकत पहुँचाने वाली वस्तु और दूर तक घूमने से बढ़ कर मन्दाग्नि को दूर करने का उपाय संसार में नहीं है। व्यायाम जहां तक हो स्वाभाविक और उत्पादक हो।

इसके बाद गोविन्द यह चुनता है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए मैं किस काम को अपनाऊं? अपनी रुचि और योग्यता को देखकर वह किसी एक काम को लेता है और उसमें अपनी सारी शक्ति लगा देता है। धन-जन लाता है, आवश्यक जानकारी प्राप्त करता है और उसे पूरा करता है। प्रत्येक काम की योग्यता और आवश्यकता का वह विचार करता है। फर्ज कीजिए, उसके सामने दो काम आते हैं—एक विधवा-विवाह और दूसरा अस्पृश्यता-निवारण। वह अस्पृश्यता-निवारण को चुनता है। क्योंकि विधवा-विवाह के बिना भारत की आजादी उतनी नहीं रुकती जितनी अछूतपन के कारण रुक रही है। इस तरह वह अपने जीवन की हर एक सांस में यह विचार करेगा कि कौन से काम करूं जिनसे स्वाधीनता जल्दी से जल्दी आवे। अनुकूल कामों को, गुणों को, शक्तियो को वह अपनावेगा; प्रतिकूल को छोड़ेगा, या अनुकूलता में परिणत करने का उद्योग करेगा। जब जीवन के प्रत्येक छोटे काम में भी वह इस दृष्टि से काम लेगा तो उसे दीख पड़ेगा कि सामान्य व्यवहार में न-कुछ और क्षुद्र दिखाने वाले काम, विचार, व्यवहार भी कितने महत्वपूर्ण हैं और मनुष्य को कितना सम्हलने की, जागरूक रहने की और सारासार-विचार करने की आवश्यकता है। वह हर एक बात की जड़ तक पहुँचने की कोशिश करेगा—और किसी चीज को जड़ से ही बनाने या बिगाड़ने का उद्योग करेगा। ऊपरी इलाज से उसे सन्तोष न होगा। यह वृत्ति उसे गम्भीर, धीर और निश्चयी बनावेगी, और अन्त को सफलता के राजमार्ग पर ला रक्खेगी।

जीवन को सार्थक बनाने की प्रायः सब शर्तें यहां आ गई हैं। अब हम यह देखें कि मनुष्य क्या होने चला था और क्या हो गया है?

: २ :

स्वतन्त्र-जीवन

१ : कहां फंस मरा ?

मनुष्य जन्मतः स्वतंत्र है। जिन संस्कारों को लेकर वह जन्मा है, जिन माता-पिताओं के लालन-पालन ने उसे परवरिश किया है, जिन मित्रों, कुटुम्बियों और गुरुजनों ने उसका जीवन बनाने में उसे शिक्षा-दीक्षा, सुमति और सहयोग दिया है, उनके प्रति अपने बन्धनों और कर्त्तव्यों को छोड़कर कोई कारण ऐसा नहीं है जिससे वह अपनी इच्छा और रुचि के प्रतिकूल किसीके अधीन बनकर रहे। संसार में कोई शक्ति ऐसी नहीं है, जो उसे दबाकर, अपना दास बना कर रख सके। यदि मनुष्य आज हमें किसी व्यक्ति, समूह, प्रथा या नियम का गुलाम दिखाई दे रहा है, तो यह उसकी अपनी करतूतों का फल है, उसकी त्रुटियों, दुर्गुणों, कुसंस्कारों का परिणाम है। अन्यथा वयस्क—बालिग—होते ही वह अपनी रुचि, अपनी इच्छा, अपने आदर्श और उद्देश के अनुसार चलने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है। आरम्भ में मनुष्य स्वतंत्र ही पैदा हुआ था। किन्तु उसके स्वार्थ-भाव ने, उसके भेड़ियापन और शोषण-वृत्ति ने, उसे स्वामी और दास, सम्पन्न और दीन, पीड़क और पीड़ित, इन दो भागों में बांट दिया है। पशु के मुकाबले में जो अनन्त शक्तियां मनुष्य को मिली हैं, उनका परिणाम तो यह होना चाहिए था कि वह हर अर्थ में पशु से ऊंचा, बली, पवित्र और रक्षक साबित हो, किन्तु पूर्वोक्त दो बुराइयों ने कई बातों में उसे पशु से भी गया-बीता बना दिया है। एक पशु दूसरे पशु को अपना गुलाम बनाने की कला में इतना निपुण कहां है ? इतने वैज्ञानिक और सभ्य तरीके से दूसरे पशु को हड़प जाने, फाड़ खाने के लक्षण उसमें कहां मिलते हैं ? परन्तु मनुष्य ने अपनी बुद्धि—

जो पशु को प्राप्त नहीं है—और पुरुषार्थ का ऐसा दुरुपयोग किया है कि आज वह खुद ही अपने बनाये जाल में फंस कर उसमें से निकलने के लिए बुरी तरह छटपटा रहा है। उसने जो समाज और शासन का ढांचा खड़ा किया है—समय-समय पर जो कुछ परिवर्तन उसमें करता रहा—वह यद्यपि इसी उद्देश से था कि मनुष्य स्वतंत्र और सुखी रहे, किन्तु कुबुद्धि ने उसे अच्छे नियमों, तथा सत्प्रणालियों का उपयोग, एक का स्वामित्व और प्रभुता बढ़ाने में तथा दूसरे को सेवक और रंक बनाने में करने के लिए विवश कर दिया। उसने स्वतंत्रता के शरीर को पकड़ रक्खा, पर आत्मा की उपेक्षा की और उसे खो दिया। स्वतंत्रता के क्षेत्र में उसने ऊंची-से-ऊंची उड़ानें मारी, अनन्त शक्तियों की, पूर्णता या पूर्ण विकास तक की कल्पना उसने कर डाली, फिर भी आज हम उसके अधिकांश भाग को पीड़ित, दलित, दीन, दुखी, पतित और पिछड़ा हुआ पाते हैं। पशु स्वतंत्र है, गुलामी उसे यदि सिखाई है तो मनुष्य ने ही। इसमें मनुष्य ही उसका गुरु और स्वामी है। मनुष्य चढ़ने की धुन में, चढ़ने के भ्रम में ऐसा गिरा कि केवल पशु-पक्षी ही नहीं खुद अपनी जाति और अपने भाइयों को भी गुलाम बना के छोड़ा। आज व्यक्ति, समूह और जातियां दूसरे को अपने छल, बल और शोषण के बदौलत अपना दास और दबा हुआ बनाकर उस पर गर्व करते हैं, मूछें मरोड़ते हैं, अपना गौरव समझते हैं!! यह पतन मनुष्य ने खुद ही अपने हाथों कर लिया है— 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के नियम को इसका श्रेय है। स्वतंत्रता के वास्तविक रूप को उसने भुला दिया। अपने असली रूप को वह भूल गया। अपने गन्तव्य स्थान का भान उसे न रहा। स्वतंत्र उत्पन्न होकर वह चिरस्थायी सुख की शोध में चला और मनुष्य-जाति को पीड़क और पीड़ित दो भागों में बांट दिया। उसकी बुद्धि और साधनों ने उसको सुख, शान्ति और आनन्द के धाम तक पहुंचा दिया था; किन्तु अपना ही भला चाहने, अपनी ही रोटी सेंक लेने, और दूसरे की परोसी थाली को खुद छीनकर खा जाने की प्रवृत्ति ने आज उसे अपने ही मुट्ठी भर भाइयों का दास बना रक्खा है! जो स्वतंत्रता का प्रेमी था, साधक था, व्यक्ति रूप में उसका उपभोग भी करता था, वही जालिम और मजलूम, दास और प्रभु के टुकड़ों में बंट गया। मुट्ठी भर लोग स्वतंत्रता के नाम पर स्वतंत्रता के नशे में, अपने करोड़ो भाइयों का खून चूसते हैं, उनकी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते हैं, अपनेको बड़ा, ऊंचा, श्रेष्ठ समझ

कर उन्हें हीन, गिरा और हेय समझने में अपने बड़प्पन, उच्चता और श्रेष्ठता की शान मानते हैं। इसका मूल कारण यही है कि उसने स्व-तंत्रता से तो प्रीति की, पर उससे ऐसा चिपटा कि उसे भी अपने अधीन बना डाला! अपनी प्रियतमा के बदले उसे पदांकित दासी बना डाला!! अर्थात् स्वतंत्रता को तो उसने थोड़ा-बहुत समझा, पर उसकी रक्षा और उसके स्वरूप की सच्ची झांकी बहुजन-समाज को कराने के उद्देश से ही नहीं, कुबुद्धि, स्वार्थ-भाव, शोषण-वृत्ति ने उसे अपने भाइयों का सेवक, सखा, मित्र बनाने के बदले स्वामी, पीड़क और जबरदस्त बना दिया। स्वतंत्रता का वह इच्छुक रहा और है, पर उसके पूर्ण और असली स्वरूप को भूल गया, दूसरे भाई के प्रति अपने व्यवहार-नियम और कर्त्तव्य को बिसार बैठा, जिसका फल यह हुआ कि आज उसे अपने ही पर घृणा हो रही है। यदि मनुष्य आज अपनी ऊपरी तड़क-भड़क के अन्दर छिपे गन्दे ढांचे को देखे, अपने क्षुद्र मनोभावों को जांचे तो, उसे अपना वर्तमान जीवन भारतभूत होने लगे, अपने पर गर्व और गौरव होने के बदले शर्म और ग्लानि से उसका सिर नीचा होने लगे। अरे, यह अमरता का यात्री किस अन्धे कुएं में जा गिरा? अपने भाइयों को, उद्धार करने का टिकट देकर, सारे जहाज को ही किस विकट रेते में फंसा मारा? मनुष्य, क्या तू अपनेको पहचान रहा है? सच्ची स्वतंत्रता की याद तुझे है? अपने चलने और जाने के मुकाम का खयाल तुझे है? इस समय किस जगह और कहां जा रहा है—इसकी सुध तुझे है? क्या तू चेतेगा? सुनेगा? जागेगा? सोचेगा—सम्हालेगा? अपने को और अपने भाइयों को अपनी गुलामी के अन्धे गड्ढे से निकालेगा और उन्हें लेकर आगे दौड़ेगा?

२ : सामूहिक-स्वतंत्रता

मनुष्य स्वतंत्र जन्मा तो है, उसे स्वतंत्रता परमप्रिय भी है, किन्तु उसने उसकी असलियत को भुला दिया है, खो दिया है। एक मनुष्य महज अपनी ही स्वतंत्रता का खयाल करता है, दूसरोंकी का नहीं; यदि करता भी है तो अपनीका अधिक, दूसरोंकी का कम। एक तो उसने आधी स्वतंत्रता को पूरी स्वतंत्रता समझ रक्खा है, दूसरे सामूहिक रूप में स्वतंत्रता की पूरी ऊँचाई, पूरी दूरी तक नहीं पहुँच पाया है, या पाता है; तमाम किरणों-सहित स्वतंत्रता का पूरा दर्शन वह नहीं कर

रहा है, या उसके पूरे वैभव और स्वरूप से दूर रहता है। सच्ची स्वतंत्रता वह है, जो अपना तथा दूसरों का समान रूप से खयाल और लिहाज रक्खे। जो अधिकार, सुविधा या सुख मैं अपने लिए चाहता हूँ वह मैं औरों को क्यों न लेने दूं? यदि खुले या छिपे तौर पर, जान में या अनजान मे, मैं ऐसा नहीं करता हूँ, तो अपनेको सच्ची स्वतंत्रता का प्रेमी कैसे कह सकता हूं? मनुष्य अकेला नही है। उसके साथ उसका कुटुम्ब, मित्रमण्डल और समाज जुड़ा हुआ है। संन्यासी हो जाने पर भी, जंगल में धूनी रमाने पर भी, वह समाज के परिणामों, प्रभावों और उपकारों से अपनेको नहीं बचा सकता। जबतक एक भी मनुष्य उसके पास आता है, या आ सकता है, समाज की एक वस्तु, घटना या भावना उसतक पहुँचती रहती है तबतक वह उसके प्रभावों से अपनेको सामान्यत: नही बचा सकता। अतएव अपने हित, सुख और आनन्द का खयाल करने के साथ ही उसे दूसरे के हित, सुख और आनन्द का भी खयाल करना ही पड़ता है और करना ही चाहिए। अतएव वह महज अपनी परतंत्रता की बेड़ियां काट कर खामोश नहीं बैठ सकता। अपने पड़ासियों का भी उसे खयाल रखना होगा। जो मनुष्य अपनी स्वाधीनता का सवाल जितना ही हल कर चुका होगा वह उतना ही अधिक दूसरों को स्वाधीनता दिलाने मे, या उसकी रक्षा करने में सफल होगा और उस मनुष्य की अपेक्षा जो बेचारा अपने ही बन्धनों को काटने मे लगा हुआ है, इसपर इसकी अधिक जिम्मेवारी भी है। यह एक मोटी सी बात है कि जिसके पास अपना काम शेष नहीं रह गया है वह दूसरों का काम कर दे, जो कि उससे कमजोर, या पिछड़े हुए है। इस प्रकार दूसरो की सहायता या सेवा करना मनुष्य की एक स्वाभाविक और उन्नत भावना है, जो कि मनुष्य की पूर्णता की वृद्धि के साथ ही उसपर उसकी अधिक जिम्मेवारी डालती जाती है।

इस तरह एक तो हमने स्वतंत्रता के अधकचरे रूप को देखा है और दूसरे खुद उससे लाभ उठाने की अधिक चेष्टा की है, दूसरों को उसका लाभ लेने देने या पहुँचाने की तरफ हमारी तवज्जो कम रही है! यही कारण है, जो मनुष्य-जाति सच्ची और पूरी स्वतंत्रता से अभी कोसों और बरसों दूर है। यदि मनुष्य अपने जीवन पर दृष्टि डाले तो उसे पता लगेगा कि आज वह स्वतंत्रता का प्रेमी बन कर, समाज या देश में नहीं रह रहा है, बल्कि धन, सत्ता, विद्वत्ता, वंशोच्चता या परम्परागत बड़-

प्पन के बदौलत इनके प्रभावों से लाभ उठाकर वह दूसरों को दबाने का कारण बन रहा है। मेरी पत्नी यह मानती चली आई है कि पति तो भला बुरा जैसा हो पति-देव है; उसका कहा मुझे मानना ही चाहिए, उसका आदर मुझे करना ही चाहिए। बेटा-बेटी और नौकर-चाकर भी यही सुनते, देखते और समझते चले आए है कि बड़ो का, बुजुर्गों का, मालिक का हुक्म बजाना ही चाहिए; उनके सामने उनका सिर सदा झुका ही रहना चाहिए। प्रजा को यह सिखाया ही गया है कि वह राजा या शासकों के रौब को माने ही—उसके अन्तर के विकास की पुकार के विपरीत भी वह शासन और सत्ता के सामने सिर झुकाये ही। पर मैं पूछता हूँ कि क्या यह हमारे लिए—सच्चे मनुष्य के लिए—गौरव और गर्व की बात है? इस तरह सीधे या उलटे तरीको से बड़ाई, धन और अधिकार पाना अथवा उसके मिलने पर फूलना, इसमें कौन बड़ाई है? क्या पुरुषार्थ है? बड़ाई और पुरुषार्थ, गर्व और गौरव की बात तो तब हो, जब मनुष्य इन साधनों के दबाव से नहीं, बल्कि अपने पूर्ण स्वतंत्रता-प्रेम के कारण दूसरों के हृदय पर अधिकार करले और उसे बनाये रक्खे। दूसरे मनुष्य उसके शारीरिक बल, बुद्धि-वैभव, धन-लोभ, कुल-गौरव या सत्ता-भय से दबकर नहीं, बल्कि उसके स्वतंत्रता-प्रेम से उसकी पुष्टि करने वाले सद्गुणों से प्रेरित, आकर्षित होकर उसे चाहें, अपने हृदय मे प्रेम और आदर की चीज बनावे, तो यह स्थिति अलबत्ता समझ में आ सकती है। इसका गौरव और उच्चता तथा दोनो के सच्चे लाभ की कल्पना करके मन आनन्द से नाचने लगता है। उस समय प्रेम और आदर, सुख और शांति, प्रगति और उन्नति बनावटी, क्षण-स्थायी और ऊपरी नहीं बल्कि सच्ची, हार्दिक और स्थायी होगी। पर स्वतंत्रता के इस सच्चे लाभ को हम तभी पा सकते हैं, जब हम सच्चे अर्थ में स्वतंत्रता की आराधना करें। जितना जोर हम अपनी स्वतंत्रता पर देते हैं, जितना ध्यान हम अपनी स्वतंत्रता का करते और रखते हैं, उतना ही दूसरों की स्वतंत्रता को निबाहने का भी रक्खें। अपनी स्वतंत्रता की प्राप्ति या रक्षा के लिए यदि आज हम तन, मन, धन सब स्वाहा करने के लिए तैयार हो जाते हैं, तो दूसरो को स्वतंत्रता दिलाने और उसकी रक्षा करने के लिए भी क्या हम अपनेको इतना तैयार पाते हैं? रक्षक होने के बजाय हम उलटे आज दूसरों की, अपने से कम भाग्यशाली या पिछड़े और गिरे भाइयों की स्वतंत्रता के भक्षक नहीं बन रहे

हैं ? इसलिए हमारा महज दूसरों की, अपने पड़ौसी की, स्वतंत्रता का ध्यान रखने से ही काम न चलेगा। खुद अपनी स्वतंत्रता से अधिक महत्व दूसरों की, पड़ौसी की, स्वतंत्रता को देना होगा। ऐसा प्रयत्न करने पर ही वह अपनी स्वतंत्रता के बराबर उसकी स्वतंत्रता का ध्यान रख सकेगा। क्योंकि अधिकांश मनुष्य स्वार्थ की ओर अधिक और पहले झुकते है। इसलिए जरूरी है कि मनुष्य दूसरे का खयाल करने की आदत डाले। इतिहास में अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए लड़ने के सैकड़ो उदाहरण मिलते हैं। किन्तु ऐसे कितने सत्पुरुष हुए हैं, जिन्होंने महज दूसरों को स्वतंत्रता दिलाने के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयां लड़ी हैं ? मनुष्य जाति अभी तक विकास-मार्ग में जिस मंजिल तक पहुँच चुकी है उसमें अभी इस विचार को पूरा महत्व नहीं मिला है। इसलिए हमारी स्वतन्त्रता की भावना अधूरी बनी हुई है। इस अधूरी भावना ने ही साम्राज्यवाद को जन्म दिया है। यही स्वेच्छाचार और अत्याचार की जननी है। कपट नीति को भी पोषण बहुत-कुछ इसीसे मिलता है। यदि मनुष्य अपने से अधिक दूसरों का खयाल रखने लगें, तो ये महादोष समाज से अपने आप मिटने लगें। फिर इस भावना की वृद्धि से मनुष्य न केवल स्वयं उन्नति-पथ में अग्रसर होता जायगा, बल्कि समाज को भी आगे बढ़ाता जायगा। न केवल उसके, वरन् सामूहिक हित के लिए भी इस भावना की पुष्टि आवश्यक है।

३ : शासन की आदर्श कल्पना

स्वतंत्रता का या समाज-व्यवस्था का सबसे बड़ा और प्रबल साधन शासन रहा है। अतएव पहले उसीका विचार करें। मनुष्य-जाति के विकास और इतिहास पर दृष्टि डालें, तो यह पता चलता है कि आरम्भ में मनुष्य का मानसिक और बौद्धिक विकास चाहे अधिक न था, पर वह निश्चित रूप में आज से अधिक स्वतंत्र था। ज्ञान, साधन और संस्कृति में चाहे वह पिछड़ा हुआ था; पर आज की तरह अपने भाइयों का ही, अपना ही इतना अधिक गुलाम न था! जब तक वह अकेला रहा, अपनी हर बात में स्वतन्त्र था। जब उसने कुटुम्ब बनाया और जाति या समाज की नींव पड़ी, तब वह अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क और असर में आने लगा। पर ज्ञान और संस्कृति की कमी से आपस में झगड़े और बुराइयां पैदा होने लगीं एवं एक-दूसरे पर असर डालने लगीं। तब उसने इनके

निपटारे के लिए एक मुखिया बना लिया और उसे कुछ सत्ता दे दी। यही आगे चलकर राजा बन गया। इसने भरसक समाज के रक्षण और पोषण का प्रयत्न किया; पर बुद्धि के साथ-साथ मनुष्य में स्वार्थ-साधन और दुरुपयोग या शोषण-वृत्ति भी खिलने लगी, जिससे राजा स्वेच्छाचारी, स्वार्थ-साधक और मदान्ध होने लगे। शास्त्र और सेना-बल का उपयोग जनता को ऊँचा उठाने के बदले उसे गुलाम बनाये रखने में होने लगा। तब मनुष्य में राजसंस्था के प्रति ग्लानि उत्पन्न हुई और उसने राजसत्ता के बजाय प्रजासत्ता कायम की। वंशपरम्परागत राजा मानने की प्रथा को मिटाकर उसने अपना प्रतिनिधि-मण्डल बनाकर उसके निर्वाचित मुखिया को वह सत्ता दी। पर मनुष्य के स्वार्थ-भाव ने इसे भी असफल कर डाला। एक राजा की जगह मनुष्य के भाग्य के ये अनेक विधाता बन गये। इन्होंने अपना गुट्ट बना लिया और लगे जनता को उसके भले के नाम पर लूटने और धोखा देने। तब मनुष्य फिर चौंका; अब की उसने विचार किया कि समाज के इस ढांचे को ही बदल दो। ऐसा उपाय करो, जिससे मुट्ठी भर लोगों की ही नहीं बल्कि बहु-जन-समाज की बात सुनी जाय और उनका अधिकार समाज में तथा राज-काज में रहे। एक मुट्ठी भर लोगों के हाथों में अपनी भाग्य-डोर छोड़कर जिस तरह अब तक वह राजकाज से बेफिक्र रहता था उसमें भी उसे दोष दिखाई दिया और अब की वह खुद समाज-रचना और राज-संचालन में दिलचस्पी लेने लगा। पहले जहां वह स्वभावतः स्वतंत्र और स्वतंत्र-वृत्ति था, वहां वह अब ज्ञान-पूर्वक स्वतंत्र होने की धुन में लगा है। पहले जहां वह 'व्यक्ति' रहकर स्वतंत्र था, तहां अब 'समाज' बना कर स्वतंत्र रहना चाहता है। पहली बात बहुत आसान थी; दूसरी बड़ी कठिन है। किन्तु उसका ज्ञान और संस्कृति उसको राह दिखा रहे हैं और साधन एवं पौरुष उत्साहित कर रहे हैं। उसने देख लिया कि कुटुम्ब में जो सुख, सुविधा और स्वतंत्रता है वह अब तक की इन भिन्न-भिन्न शासन-प्रणालियों ने समाज को नहीं दी। इसलिए क्यों न सारा समाज भी कौटुम्बिक तत्त्वों पर ही चलाया जाय? यदि कुटुम्ब में चार या दस आदमी एक साथ सहयोग से रह सकते हैं, तो फिर सारा समाज अपने को एक बड़ा कुटुम्ब मान कर क्यों नहीं रह सकता? इस तरह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की जो कल्पना अब तक मनुष्य के दिमाग और जीवन में एक व्यक्ति के लिए थी उसे समाज-गत बनाने का ज्ञान उदय हुआ और उसके

प्रयोग होने लगे । आजकल रूस मे यह प्रयोग, कहते है, सफलता के साथ हो रहा है । सारा रूस एक कुटुम्ब मान लिया गया है और उसका शासन-सूत्र जनता के हाथो मे है । अभी तो उन्हे कौटुम्बिक सिद्धान्त के विपरीत एक शासक-मण्डल—सरकार—और रक्षा के लिए शस्त्र तथा सेना रखनी पड़ी है, पर यह तो इसलिए और तभी तक जब तक कि सारे रूस में सामाजिकता के सच्चे भाव और पूरे गुण लोगो मे न आ जावे । इस प्रकार होते-होते समाज के शासन का आदर्श यह माना जाने लगा है कि समाज मे किसी शासक-मण्डल की कोई जरूरत न रहनी चाहिए, बल्कि बहुत-से-बहुत हो तो व्यवस्थापक-समिति रहे । वह जनता पर शासन न करे बल्कि उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति भर करती रहे, उसे आवश्यक साधन-सामग्री पहुंचाती रहे । अर्थात समाज मे कोई एक या मुट्ठीभर व्यक्ति नहीं, बल्कि सारा समाज अपना राज या शासन आप करे—सब घर-घर के राजा हो जायं । अभी कल्पना मे तो यह शासनादर्श बहुत रम्य सुखदायी मालूम होता है, और असम्भव तो प्रयत्न करने पर संसार में है ही क्या ? किन्तु इस स्थिति को पाना, सो भी सामूहिक और सामाजिक रूप मे, है बरसो के लगातार सम्मिलित, सुसंगठित और हार्दिक प्रयत्नो की बात ।

× × × ×

समाज को सुव्यवस्थित और प्रगतिशील बनाने के लिए हिन्दुओ ने एक जुदा ही तरीका ढूंढ निकाला था । उन्होंने देखा कि सत्ता, धन, मान और संख्या ये चारों बल एक जगह रहेगे, तो उस अवस्था मे मनुष्य की शक्ति और उसके दुरुपयोग का भय बहुत अधिक है । इसलिए इन चारों को अलग-अलग बांट देना चाहिए । फिर जैसी मनुष्य की खासियत हो वैसा ही काम उसे समाज में दे देना चाहिए, जिससे किसी एक पर सारा बोझ न पड़े और समाज का काम बड़े मजे मे चल जाय । उसने विचारशील, क्रियाशील, संग्रहशील और श्रम तथा संगठनशील इन चार विभागों में समाज के लोगों को बांट दिया और उनके कार्यों के लिए आवश्यक तथा मनोवृत्तियो के अनुकूल क्रमशः मान, सत्ता, धन और आमोद-प्रमोद ये पुरस्कार अथवा उसकी सेवा के प्रतिफल उसे देने की व्यवस्था कर दी । हम हिन्दू इन्हे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नाम से पहचानते हैं और इनके भिन्न-भिन्न कर्त्तव्यों का ज्ञान भी आम तौर पर सबको है । बुद्धि और विचार-प्रधान

होने के कारण ब्राह्मण सहज ही समाज का नेता बना; क्रिया और सत्ता प्रधान होने से क्षत्रिय शासक और रक्षक बना, संग्रह और धन-प्रधान होने के बदौलत वैश्य समाज का दाता और पोषक, तथा संख्या और संगठन-प्रधान होने के कारण शूद्र समाज का सहायक और सेवक बन गया। इससे समाज में स्वार्थ साधने के चारों साधन और बल अलग-अलग बंट तो गये, एक जगह एकत्र होकर या रहकर समाज को अव्यवस्थित करने या अपने पद और पुरुस्कार का दुरुपयोग करने की संभावना जाती तो रही, एक बड़ी विपत्ति का रास्ता तो रुक गया—यह प्रणाली बरसों तक हिन्दुस्तान में चली भी—अब भी टूटे-फूटे रूप में नाम-मात्र के लिए कायम है—किन्तु इससे एक बड़ा दोष भी पैदा हो गया। एक तो मनुष्य के उसी स्वार्थ और कुबुद्धि ने उसपर अपना असर जमाया और चारों अपने-अपने क्षेत्रों में समय पाकर अपने-अपने पदों से समाज की सेवा करने के बदले खुद ही लाभ उठाने लगे और दूसरे को अपने से नीचा मानकर उन्हें पीछे रखने—दबाने लगे; दूसरे एक ही वर्ग में एक गुण की इतनी प्रधानता हो गई कि दूसरे, अपने तथा कुटुम्ब के पालन-पोषण एवं स्वातंत्र्यरक्षण के लिए आवश्यक गुण नष्ट होते चले गये, जिससे चारों दल परस्पर सहायक और पोषक होने के बदले स्वयं अलग तथा ऐकान्तिक और दूसरे के अत्यन्त अधीन या उसकी शक्ति तोड़ने वाले बन गये। इससे न केवल समाज का ढांचा ही बिगड़ गया, बल्कि उसे गहरी हानि भी उठानी पड़ी, एवं आज अपने तमाम ज्ञान और संस्कृति के रहते हुए, भारत, सदियों से गुलामी की बेड़ियां पहने हुए है। ज्ञान और मान-प्रधान होने के कारण, नेता समझे जाने के कारण, मैं इस सारी दुःस्थिति का असली जिम्मेवार ब्राह्मण ही को मानता हूँ। अस्तु।

इस समय भी ऐसे विचारकों और विचार वालों की कमी देश में नहीं है,जो इस चतुर्वर्ण-व्यवस्था को फिर ठीक करके चलाना चाहते हैं। पर मेरी समझ में अब पृथ्वी और समाज इतना बड़ा हो गया है, यह व्यवस्था इतनी बदनाम हो चुकी है, दूसरी ऐसी नई और लुभावनी योजनायें सामने हैं और तरह-तरह के प्रयोग हो रहे हैं, जिससे उसका पुनर्जीवित होना न तो संभव ही और न उपयोगी ही प्रतीत होता है। उसके लिए अब तो इतना ही कहा जा सकता है कि समाज-व्यवस्थापकों की यह कल्पना अनोखी थी जरूर और उसने हजारों वर्षों तक हिन्दू-

समाज को स्थिर भी रक्खा; पर मनुष्य की स्वार्थ और शोषण वृत्ति ने उसे सुस्थित न रहने दिया। सम्भव है, आगे चलकर किसी दूसरे, या यों कहें कि शुद्ध रूप में फिर यह समाज में प्रतिष्ठित हो, किन्तु अभी तो असली रूप से सब एक ही वर्ण हो रहे हैं।

क्या कारण है कि संसार के भिन्न-भिन्न देशों और जातियों में अब तक समाज-व्यवस्था के कई ढांचे खड़े हो गये, शासन की कई प्रणालियां चल गईं; पर उनसे समाज अपने गन्तव्य स्थानको अभीतक नहीं पहुँचा? इन तमाम प्रयोगों का इतिहास और फल एक ही उत्तर देता है—मनुष्य का स्वार्थ और शोषणवृत्ति। आखिर मनुष्य ही तो प्रणालियों को बनाने, दुरुपयोग करने और बिगाड़नेवाला है न? इसलिए जबतक हम खुद उसे सुधारने, उसे ज्यादा अच्छा बनाने पर अधिक जोर न देंगे; तब तक केवल प्रणालियों के परिवर्त्तन, प्रयोग और उपयोग से विशेष लाभ न होगा। जो हो! इस समय तो मनुष्य-समाज की आंखें दो महान् प्रयोगों की ओर चकित और उत्सुक दृष्टि से देख रही है—एक तो रूस की सोवियट प्रणाली और दूसरी भारत की अहिंसात्मक क्रान्ति और उसके दूरगामी परिणाम। मेरा यह विश्वास है कि भारत इस क्रांति के द्वारा संसार को वह चीज देगा, जो रूस का आगे का कदम होगा। पर इसके अधिक विचार के लिए यह स्थान मौजूं नहीं है। यहां तो हमारे लिए इतना ही जान लेना काफी है कि मनुष्य किस तरह अपनी उन्नति के लिए समाज और शासन के भिन्न-भिन्न ढांचों को बनाता और बिगाड़ता गया और अब उसकी कल्पना किस आदर्श तक जा पहुँची है।

४ : हमारा आदर्श

यह एक निर्विवाद बात है कि मनुष्य ने अपने विकास-क्रम में कुटुम्ब और समाज बनाया है। फिर भी अभी वह अपनी पूरी परिणति पर नहीं पहुँचा है। व्यक्ति से कुटुम्ब और समाज का अंग बनते ही उसके कर्तव्य उसी तक सीमित न रहे और न वह ऐकान्तिक रूप से स्वतन्त्र ही रहा। कुछ व्यक्ति चाहे स्वतन्त्रता की साधना करते-करते खुद उसकी चरम सीमा तक पहुँच गये हों, केवल भौतिक ही नहीं, बल्कि आध्यात्मिक अर्थ में भी पूर्ण स्वतन्त्र हो गये हों; पर कुटुम्ब और समाज को तो वह अभी भौतिक अर्थ में भी पूर्ण और सच्ची स्वतन्त्रता तक नहीं ले जा सका है। यदि हम स्वतंत्रता के पूर्ण चित्र की कल्पना

पर, जो पिछले अध्यायों में दी गई है, विचार करेंगे और उसमे आज के जगत् की अवस्था का मुकाबला करेंगे, तो यह बात स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जायगी। घर-घर के राजा हो जाना तो अभी बड़ी दूर की बात है, अभी तक तो दुनिया सब जगह एकतंत्री शासन-प्रणाली से बहुमत-प्रणाली तक भी नहीं पहुँच पाई है। हम भारतवासी तो अभी अपने भाग्य-विधाता बनने के अधिकार की ही लड़ाई लड़ रहे है! हां, यह लड़ाई लड़ी इस ढंग और तरीके से जा रही है कि जिसके परिणाम बड़े दूरवर्ती होंगे और जो भारत को ही नहीं, सारे मनुष्य-समाज को सच्ची स्वतंत्रता का पथ प्रत्यक्ष दिखा देंगे। अतएव इतनी बात हमे पहले ही से अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि हम व्यक्ति और समाज के रूप में कहां पहुँ-चना चाहते हैं और उसकी पहली सीढ़ी क्या होगी? दूसरे शब्दों मे यह कहे कि हम मनुष्य और समाज के आदर्श तथा लक्ष्य का विचार कर रखें।*

'मनुष्य' का उच्चारण करते ही उसका सबसे बड़ा गुण तेज—स्वाधीन-वृत्ति—सामने आता है। जिस मनुष्य में भारी मनोबल है, जो किसी से डरता और दबता नहीं है, उसे हम आम तौर पर तेजस्वी पुरुष कहते हैं। यदि यह गुण मनुष्य में से निकल जाय, तो फिर उसके दूसरे गुण खोखले और बेकार से मालूम होते हैं। इसी तेज या स्वाधीनवृत्ति ने उसे तमाम भौतिक और सांसारिक बन्धनों को ही नहीं, बल्कि मानसिक और आत्मिक बन्धनों को भी तोड़ने और पूर्ण स्वाधीन बनने के लिए उत्सुक और समर्थ बनाया है। सच्चा और तेजस्वी पुरुष वह है,जो न किसी का गुलाम रहता है, न किसी को अपना गुलाम बनाता है; न किसी से डरता और दबता है, न किसी को डराता और दबाता है। अतएव यह भलीभांति सिद्ध होता है कि इस तेज के पूर्ण विकास को ही मनुष्य का लक्ष्य कहना चाहिए। मनुष्यों से ही समाज बनता है, इसलिए मनुष्य के लक्ष्य से उसका लक्ष्य जुदा कैसे हो सकता है? फर्क सिर्फ इतना ही है कि मनुष्य व्यक्ति-रूप में अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जितना स्वावलम्बी और स्वतंत्र है, उतना समाज-रूप में नहीं। इसका असर दोनों की अवधि और सुविधा पर तो पड़ सकता है; किन्तु लक्ष्य पर नहीं। समाज-रूप में वह अपने लक्ष्य पर तभी पहुँच सकता है, जब वह व्यक्ति-रूप में आदर्श बनने का प्रयत्न करे। आदर्श व्यक्तियों से पूर्ण समाज अवश्य ही अपने लक्ष्य के, अपनी पूर्णता के निकट होगा।

---

*पढ़िये परिशिष्ट ४, 'मनुष्य, समाज और हमारा कर्तव्य'।

अतएव व्यक्ति-रूप में मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनेको आदर्श बनाने का प्रयत्न करे, समाज-रूप में उसका यह धर्म है कि दूसरों को आदर्श बनने में सहायता करे। यह विवेचन हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि तेजोविकास की पूर्णता या स्वाधीन भावों का पूर्ण विकास व्यक्ति और समाज का समान-लक्ष्य है, एवं उस तक पहुँचने के लिए सतत उद्योग करना दोनों का परम-कर्त्तव्य है।

मनुष्य में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं—एक कठोर और दूसरे कोमल। वीरता, निडरता, साहस, पौरुष, कष्ट-सहन, आत्म-बलिदान, आदि कठोर गुणों के नमूने हैं और नम्रता, क्षमा, सहानुभूति, करुणा, सेवा, उदारता, सहिष्णुता, सरलता आदि कोमल गुणों के। प्रथम पंक्ति के गुण उसको अदम्य और दूसरी पंक्ति के सेवा-परायण बनाते हैं। अदम्य बनकर वह अपनी स्वाधीनता की रक्षा एवं वृद्धि करता है; सेवा-परायण बनकर वह दूसरों को स्वतंत्र और सुखी बनाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कठोर गुणों की मात्रा पुरुषों में अधिक और मृदुल गुणों की मात्रा स्त्रियों में अधिक पाई जाती है। यदि मनुष्य सच्चा स्वतन्त्रता-प्रेमी है, तो पहले गुणों की पुष्टि औ वृद्धि उसका जितना कर्त्तव्य है, उतना ही दूसरे गुणों की पुष्टि और वृद्धि भी परम कर्तव्य है। बल्कि, मनुष्य के स्वाभाविक-से बन जाने वाले स्वार्थ-भाव को ध्यान में रखते हुए तो उसके लिए यही ज्यादा जरूरी है कि वह अपनी अपेक्षा दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्य-पालन पर विशेष ध्यान रक्खे। अनुभव बताता है कि सेवा-परायण बनने में अपने आप प्रथम पंक्ति के गुणों का विकास हुए बिना नहीं रहता। इसीलिए सेवा—समाज-सेवा, देश-सेवा, मानव-सेवा—की इतनी महिमा है। यदि मनुष्य एकाकी हो, अकेला ही रहे, तो उसे दूसरी जाति के गुणों की उतनी आवश्यकता भी नहीं है और न वे उसमें सहसा विकसित ही होंगे; पर चूंकि वह समाजशील है, समाजशील बना रहना चाहता है और सामाजिक रूप में भी अपना विकास करना चाहता है, इसलिए दूसरी जाति के गुणों का वैयक्तिक और सामाजिक महत्त्व बहुत बढ़ जाता है और यही कारण है, जो सेवा-परायण व्यक्तियों में दूसरी जाति के गुणों का विकास अधिक पाया जाता है। सच्चा तेजस्वी पुरुष स्वाधीनता के भाव रखने वाला सच्चा पुरुष, या यों कहें कि सच्चा मनुष्य, अपने प्रति कठोर और दूसरों के प्रति मृदुल या सरस होता है। यही नियम एक

कुटुम्ब समाज या राष्ट्र पर भी, दूसरे कुटुम्ब, समाज या राष्ट्र की अपेक्षा से, घटता है। यदि हम इस मर्म और सचाई को समझ लें और उस पर दृढ़ता से आरूढ़ हो जायं, तो सारे विश्व को एक सच्चे कुटुम्ब के रूप में देखने की आशा हम अवश्य रख सकते हैं।

: ३ :

स्वतन्त्रता की नींव

१—सत्य

१ : स्वतन्त्रता के साधन

स्वतंत्रता का पूरा अर्थ और सच्चा रूप मालूम हो जाने के बाद यह प्रश्न सहज ही उठता है कि समाज में मनुष्य इस तरह स्वतन्त्र किन नियमों के अधीन होकर रह सकता है ? यदि मुझे अपनी स्वतन्त्रता उतनी ही प्यारी है जितनी कि औरों की, तो दूसरों के प्रति मेरा व्यवहार कैसा होना चाहिए ? सच्चाई का या झुठाई का ? सहिष्णुता का या असहिष्णुता का ? न्याय का या अन्याय का ? संयम का या असंयम का ? उत्तर स्पष्ट है—सहिष्णुता का, न्याय का और संयम का। इसी तरह यह भी निर्विवाद है कि मनुष्य-मनुष्य में जबतक प्रेम और सहयोग का अटल नियम न माना जायगा तबतक उभयपक्षी स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। सच्चाई हमारे पारस्परिक व्यवहार को सरल और निर्मल बनाती है। न्याय हमें एक-दूसरे के अधिकारों की सीमा को न लांघने के लिए विवश करता है। सहिष्णुता, ऐसे किसी उल्लंघन की अवस्था में, परस्पर विद्वेष, कलह और संघर्ष को रोकती है। संयम दूसरे को उसकी स्वतन्त्रता, अधिकार और सुख-सामग्री की सुरक्षितता की गारण्टी देता है। प्रेम परस्पर के सम्बन्ध को सरस, उत्साहप्रद और जीवनप्रद बनाता है; कठिनाइयों, कष्टों, रोगों और विपत्तियों के समय मनुष्य को सेवा-परायण और सहयोगी बनाता है, एवं सहयोग उन्नति और सुख के मार्ग में आगे बढ़ने का मार्ग सुगम बनाता है। इन सब भावों और गुणों के लिए हमारे पास दो सुन्दर और व्यापक शब्द हैं सत्य और अहिंसा।

स्वतंत्रता की अबतक भिन्न-भिन्न व्याख्याएं कई महानुभावों ने की हैं। मेरी राय मे स्वतंत्रता जहां एक स्थिति, एक आदर्श है वहां एक मनोवृति–एक स्पिरिट–या एक भावना भी है। स्वतंत्रता का साधारण अर्थ हैं अपने तंत्र से चलने की पूरी सुविधा। इसमें किसी दूसरे या बाहरी आदमी के तत्र से चलने का निषेध है। जहां कहीं अपनी इच्छा या अधिकार के विपरीत चलने पर हम मजबूर किये जाते हैं, वहीं हमारी स्वतंत्रता छीन ली जाती है। हम अपनी इच्छा या अधिकार के अनुसार सोलहो आना सभी चल सकते है जब कोई दूसरा रोक टोक करने वाला न हो। यह तभी संभव है जब किसी दूसरे की स्वतंत्रता मे बाधा न डाले उसे उसकी इच्छा और अधिकार के अनुसार चलने दें। जब हम दूसरे को उसकी रुचि इच्छा और अधिकार के अनुसार चलने देगे, तभी वह अपनी रुचि, और अधिकार के अनुसार चलने मे बाधक न होगा। वह स्थिति हम किसी नियम के वशवर्ती होकर पैदा कर सकते है। वह है सत्य का अनुसरण। यदि हम जीवन में केवल सत्य का अनुसरण करें तो हम अपने और दूसरे दोनों की स्वतंत्रता की रक्षा कर सकते है। यदि हम केवल सत्य का ही अनुगमन करेंगे तो निश्चय ही हम अपने साथी पड़ौसी या सामने वाले के मन मे सत्य की स्फूर्ति पैदा करेंगे। जब दोनों ओर सत्य की आराधना है तब अव्वल तो दोनो के टकराने के अर्थात् एक दूसरे की स्वतंत्रता पर आपत्ति करने के अवसर ही कम आवेंगे और यदि आएं भी तो हमारा सत्य हमे एक दूसरे को सहन करने की शिक्षा देगा।

तुम अपने माने सत्य पर दृढ़ रहो मै अपने माने सत्य पर दृढ़ रहूँगा, इसी वृति का नाम स्वतंत्रता है और यही वृति एक सत्य-उपासक की है। जो स्वतंत्रता चाहता है वह वास्तव में सत्य को ही चाहता है। अधिकार की भाषा में जब हम सत्य को प्रदर्शित करना चाहते हैं तब हम उसे स्वतंत्रता कहते हैं और जब हम यह देखने लगते हैं कि हमारी स्वतंत्रता का आधार क्या है? तब हमें कहना पड़ता है सत्य। वास्तव में स्वतंत्रता सत्य के एक अंश या रूप का नाम है। या यों कहें कि सत्य वस्तु है और स्वतंत्रता उसका गुण। जहां स्वतंत्रता नहीं, वहां सत्य नहीं, जहां सत्य नहीं वहा स्वतंत्रता नहीं। अग्नि से उसकी आंच जिस प्रकार पृथक नहीं हो सकती उसी प्रकार सत्य से स्वतंत्रता भिन्न नहीं। स्वतंत्रता सत्य पर पहुँचने की सीढ़ी है और

सत्य स्वतंत्रता के जीवन का आधार है। माला के सब फूलों में जिस प्रकार धागा पिरोया रहता है उसी प्रकार स्वतंत्र मनुष्य के सब कार्यों में सत्य रहता है। असत्य का अवलंबन करके असत्य के रास्ते चलकर स्वतंत्रता को पाने की अभिलाषा रखना अस्वाभाविक है। उससे जो कुछ स्वतंत्रता मिलती दिखाई देती है वह एकतर्फी होगी। एकतर्फी सत्य के माने आगे चलकर हो जाते हैं अत्याचार। अतएव स्वतंत्रता की व्याख्या एक ही हो सकती है—सत्यमय जीवन।

इस सत्य को पहुँचने की अचूक सीढ़ी है अहिंसा। अत: यहां अहिंसा का भी थोड़ा विचार कर लें। जो भाव या नियम हमें अपने स्वार्थ के लिए दूसरों की हानि चाहने, उसे दुःख पहुँचाने के लिए प्रेरित करता है, उसे हिंसा कहते हैं। उसके विपरीत जो भाव या नियम हमें परस्पर प्रेम और सहयोग सिखाता है, वह है अहिंसा। संयम जिस प्रकार अहिंसा का कर्त्तरि (Subjective) और निष्क्रिय (Passive) रूप है और प्रेम सक्रिय तथा कर्मणि (Objective), उसी प्रकार संयम स्वतंत्रता का निष्क्रिय और कर्त्तरि साधन एवं प्रेम सक्रिय तथा कर्मणि साधन है। इस तरह स्वतंत्रता और अहिंसा साध्य और साधन बन जाते हैं। हम यह चाहते हैं कि समाज का बच्चा-बच्चा आजाद रहे, कोई एक दूसरे को न दबावे, न सतावे। तो क्या व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार की स्वतंत्रता के लिए अहिंसा का पालन परम अनिवार्य है? अहिंसा यद्यपि स्वतंत्रता की आन्तरिक साधन-सी प्रतीत होती है तथापि वह बाह्यसाधन भी है। यह सुनकर पाठक जरा चौंकेंगे तो; पर यदि वे भारत के अहिंसात्मक स्वातंत्र्य-संग्राम पर दृष्टि डालेंगे, संसार के निःशस्त्रीकरण-आन्दोलन का स्मरण करेंगे और विख्यात-विख्यात साम्यवादियों के आदर्श समाज में हिंसा के पूर्ण त्याग पर विचार करेंगे तो उन्हें इसमें कोई बात आश्चर्यजनक और असम्भव न प्रतीत होगी। यह ठीक है कि आजतक मनुष्य जाति के इतिहास में ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है कि किसी एक बड़ी जाति, समूह या देश ने अहिंसात्मक रहकर अपनी स्वतंत्रता पा ली हो या रख ली हो, इसके विपरीत शस्त्र-बल या हिंसा-प्रयोग के द्वारा स्वतंत्रता लेने, छीनने और रखने के उदाहरणों से इतिहास का प्रत्येक पन्ना भरा मिलेगा; पर यह इस बात के लिए काफी नहीं है कि इस समय या आगे भी अहिंसात्मक साधन बेकार साबित होंगे, या न मिलेंगे, न रहेंगे, न सफल होंगे। भारत में इस समय जो सफलता अहिंसा को मिल रही है, उसे देखते हुए

तो किसीको इस विषय में निराश या हतोत्साह होने का कारण नहीं है। फिर भी अभी यह प्रयोगावस्था में है। जबतक इसमें पूर्ण सफलता न मिल जायगी, इसी साधन के द्वारा भारत में सफल क्रान्ति न हो जायगी, तबतक बाह्य साधन रूप में इसका मूल्य लोग पूरा-पूरा न आंक सकेंगे। पर बुद्धि जहांतक जाती है अहिंसा किसी प्रकार हिंसा से कम नहीं प्रतीत होती। बल, प्रभाव, मत-परिवर्तन, हृदयाकर्षण, संगठन, एकता, सामाजिक-जीवन, युद्ध-साधन, शान्ति, आदि सब बातोंमें अहिंसा हिंसासे कहीं आगे और बढ़कर ही है। हमारा जीवन सच पूछिए तो अहिंसा के बल पर जितना चल रहा है, उतना आधार और हिंसा के बल पर नहीं। क्या कुटुम्ब, क्या जाति और क्या समाज में अहिंसा का ही—प्रेम और सहयोग का ही—बोलबाला देखा जाता है। यदि आप गौर से देखें तो इसीकी भित्ति पर मनुष्य का व्यक्तिगत, कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन रचा हुआ दीख पड़ेगा। मनुष्य ही क्यों, पशु-पक्षी समाज में भी आपको हिंसा की अर्थात् द्वेष, कलह और मारकाट की अपेक्षा प्रेम और सहयोग ही अधिक मिलेगा। जो शस्त्र-बल या सेना-बल समाज को अपने पास रखना पड़ता है, वह भी बहु-समाज के कारण नहीं, कुछ उपद्रवियों, दुर्जनों और दुष्टों के कारण ही। किसी भी समाज को आप ले लीजिए; उसमें आपको सज्जनों की अपेक्षा दुर्जन बहुत ही कम मिलेंगे। जिस प्रकार एक मनुष्य में हिंसा की अपेक्षा अहिंसा के भाव बहुत अधिक पाये जायँगे, उसी प्रकार एक समाज में भी आप सज्जन, शान्ति-प्रिय मनुष्यों की अपेक्षा कलह-प्रिय और दुष्ट मनुष्यों की संख्या कम ही देखेंगे। अर्थात् जो सेना या शस्त्र आज रक्खा जाता है, वह दरअसल तो थोड़े-से बुरे, अपवाद-स्वरूप, लोगों के लिए है। यह दूसरी बात है कि मनुष्य या शासक सज्जनों को दुःख देने में भी उसका दुरुपयोग करते रहते हैं। पर संसार ऐसे कुकृत्यों की निन्दा और प्रतिकार ही करता रहा है। फिर यह शस्त्र-बल या सेना-संगठन रोज ही काम में नहीं आता। इससे भी इसका महत्त्व और आवश्यकता स्पष्ट ही कम हो जाती है। मुख्य उद्देश्य इसका है मनुष्य और समाज का दुष्टों से रक्षण। पर यदि हम समाज की रचना ही ऐसे पाये पर करें कि जिसमें दुष्ट लोग या दुष्टता का मुकाबला प्रतिहिंसा एवं दमन के द्वारा करने के बजाय, संयम, कष्ट-सहन और क्षमाशीलता के द्वारा करने की प्रथा डाली जाय—महज उनके शरीर को बंधन में न डालकर, उन्हें त्रास न देकर, उनके हृदय पर अधिकार करने की, उसे बदल देने

की प्रणाली डाली जाय, तो समाज का, रक्षण ही न हो, बल्कि सम्मिलित और सुसंगठित प्रगति भी तेजी से हो। रक्षक की आवश्यकता वहीं हो सकती है, जहां कोई भक्षक हो; पर यदि हम भक्षक को ही मिटाने की तरकीब निकाल लें, 'मूले कुठारः' करें तो फिर रक्षण और उसके लिए संहारक शस्त्रास्त्र, सेना की एवं उनके अस्तित्व तथा प्रयोग के लिए अगणित धन-जन की आवश्यकता ही क्यों रहे ? हां, यह अलबत्ता निर्विवाद है कि जबतक समाज से भक्षक मिट नहीं जायगा, तबतक फौज, पुलिस और हथियार भी समाज से पूर्णतः जा नहीं सकते। किन्तु एक ओर यदि हम शिक्षा, संस्कार और नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति द्वारा दुष्टों, दुर्जनों और भक्षकों की जड़ काटने का, दूसरी ओर समाज को सहनशील, न्याय-प्रिय, और सहयोगवृत्तिवाला बनाने का सच्चे दिल से यत्न करें, तो यह असम्भव नहीं है—हां,कष्ट और समय-साध्य जरूर है।

इतने विवेचन से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार की स्वतंत्रता के लिए अहिंसा, अपने तमाम फलितार्थों और तात्पर्यों सहित, आन्तरिक साधन तो निर्विवाद रूप से है; पर प्रयत्न करने से बाह्य साधन भी हो सकता है। बल्कि सच्ची और पूर्ण स्वतंत्रता की जो कल्पना हम पहले अध्यायों में कर चुके हैं; उसकी दृष्टि से तो जबतक हम दोनों कामों में अहिंसा को पूरा स्थान न देंगे, तबतक मनुष्य पूर्ण अर्थ में न स्वतंत्र हो सकता है न रह सकता है।

२: सत्य का व्यापक स्वरूप

पिछले प्रकरण में यह बताया गया है कि सच्चाई के द्वारा मनुष्य का पारस्परिक जीवन सरल और निर्मल बनता है। यह निश्चित बात है कि समाज में जब तक असत्य, पाखण्ड, अन्याय, द्वेष, डाह, अनीति आदि दुर्गुण रहेंगे और इनको काबू में रखने वाले या इनकी जड़ काटने वाले सत्य और अहिंसा सांगोपांग इतने प्रबल न होंगे कि इन दुर्गुणों को दबाये या निर्बल बनाये रक्खें, तबतक उसमें पुलिस, अदालत फौज, शस्त्रास्त्र, जेल और इन सबकी माता सरकार किसी-न-किसी रूप में अवश्य रखनी पड़ेगी। और जबतक समाज में सरकार अर्थात् शासक-मण्डल की जरूरत रहेगी, तब तक उसे आदर्श या स्वतंत्र समाज नहीं कह सकते। जबतक समाज अपने आन्तरिक संगठन के बल पर नहीं, बल्कि किसी बाह्य नियंत्रण—सरकार—के सहारे कायम रहता है, तब

तक वह कमजोर और अधीन ही कहा जायगा। भले ही सरकार या शासक-मण्डल जनता के बनाये हों, समाज ने ही अपनी सत्ता का एक अंश देकर उनको कायम किया हो, किन्तु उनका अस्तित्व और उनकी आवश्यकता ही समाज की दुर्बलता, कमी और संगठन-हीनता का परिचय देती है। अतएव यदि हम चाहते हों कि ऐसा समय जल्दी आजाय, जब समाज में कोई सरकार या शासक-मण्डल जैसी कोई चीज़ न रहे, सब घर-घर के राजा हो जायँ, तब यह स्पष्ट है कि पहले समाज को सत्य और अहिंसा की दीक्षा देनी होगी—इन्हें समाज के बुनियादी पत्थर समझना होगा। प्रत्येक मनुष्य को सत्याग्रही बनना होगा। सत्य मनुष्य को सरल, न्यायी, निर्मल, दूसरों को हानि न पहुँचाने वाला, सदाचारी बनायेगा; और अहिंसा दूसरों की ओर से होनेवाले दोषों, बुराइयों और ज्यादतियों को रोकने और सहन करने का बल देगी। मनुष्य जब तक एक ओर खुद कोई बुराई न करेगा, और दूसरी ओर बुराई करनेवाले से बदला लेने का भाव नहीं रखेगा, तब तक समाज सरकार-हीन किसी तरह नहीं हो सकता। पहली बात समाज में सत्याचरण से और दूसरी अहिंसा के अवलम्बन द्वारा ही सिद्ध हो सकती है। सत्य और अहिंसा के मेल का दूसरा नाम सत्याग्रह है। अतएव इन दोनों महान् नियमों का मूल्य केवल व्यक्तिगत जीवन के लिए ही नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन के लिए भी है और उससे बढ़कर है। ये नियम केवल दूर से पूजा करने योग्य, 'आदर्श' कहकर टालने योग्य, या 'साधु-संतों के लिए,' कहकर मखौल उड़ाने लायक नहीं है। यदि हमने मनुष्य के सच्चे लक्ष्य को, समाज के आदर्श को, और सरकार तथा शासक-मण्डल नामक संस्था की हानियों को अच्छी तरह समझ लिया है, यदि हम उन हानियों से बचने और समाज को जल्दी-से-जल्दी अपने आदर्श तक पहुँचाने के लिए लालायित हों, तो हम इन दोनों नियमों को अटल सिद्धान्त मानें और सच्चाई के साथ अन्तःकरण-पूर्वक इनका पालन किये बिना रह ही नहीं सकते। इनके महत्व की ओर से आंखें मूंदना, इन्हें महज एक आध्यात्मिक चीज़ बताकर व्यवहार के लिए अनावश्यक या निरुपयोगी मानना, समाज के आदर्श को या उसके उपायों और पहली शर्तों को ही न समझना है।

तो प्रश्न यह है कि सत्य और अहिंसा का मर्म आखिर क्या है?

'सत्य' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में होता है—तत्त्व, तथ्य और वृत्ति।

सत्य 'सत्' शब्द का भाववाचक है। सत् का अर्थ है सदा कायम रहने वाला, जिसका कभी नाश न हो। संसार के बड़े-बड़े दार्शनिकों और अनुभवी ज्ञानियो ने कहा है कि इस जगत के सब पदार्थ नाशवान हैं; सिर्फ एक वस्तु ऐसी है जिसकी सत्ता सदा—सर्वकाल रहती है—वह है आत्मा। इसलिए आत्मा जगत् का परम सत्य अथवा तत्त्व हुआ। जब हम यह विचारते है कि इसमें सत्य क्या है, तब हमारा यही भाव होता है कि इसमे कौनसी बात ऐसी है जो स्थायी है, पक्की है। अतएव सत्य एक तथ्य हुआ। हम सच्चा उस मनुष्य को कहते है जो भीतर-बाहर एक-सा हो। इसलिए, सत्य वह हुआ जो सदा एक-सा रहता है। इस प्रकार सत्य एक तत्त्व, तथ्य और वृत्ति तीनो अर्थों मे प्रयुक्त होता है। तत्त्व-रूप मे वह आत्मा है, तथ्य-रूप मे वह सर्वोच्च जीवन-सिद्धांत है, और वृत्ति-रूप मे महान गुण है। तीनो अर्थों मे सत्य वांछनीय, आदरणीय और पालनीय है : आत्मा के रूप मे वह अनुभव करने की वस्तु है, सिद्धान्त के रूप मे वह पालन करने की और वृत्ति या गुण के रूप में ग्रहण करने और बढाने की वस्तु है। जब हम यह अनुभव करने लगे कि मेरी और दूसरे की आत्मा एक है—शरीर-भेद से दोनो मे भिन्नता आ गई है, तब हम तत्त्व के रूप में सत्य को मानते है। जब हम यह निश्चय करते हैं कि मै तो सत्य पर ही अटल रहूँगा, जो मुझे सच दिखाई देगा उसीको मानूँगा, तब मैं सिद्धान्त के रूप मे सत्य को मानता हूँ। और जब मै यह कहता हूँ कि मैं अपने जीवन को छल-कपट और स्वार्थ से रहित बनाऊँगा, तब मै एक गुण या वृत्ति के रूप से सत्य को मानता हूँ। इन भिन्न-भिन्न अर्थों मे एक ही 'सत्य' शब्द के प्रयुक्त होने के कारण कई बार भ्रम उत्पन्न हो जाता है। कभी गुण के अर्थ मे उसका प्रयोग किया जाता है और वह तथ्य या तत्त्व के रूप मे ग्रहण किया जाने लगता है, तब विवाद और कठिनाई पैदा हो जाती है।

यों तो 'सत्य' का आग्रह रखना, सत्य पर डटे रहना 'सत्याग्रह' है! किन्तु 'सत्याग्रह' में सत्य तीनों अर्थों मे ग्रहण किया गया है। सबसे पहले सत्याग्रही को यह जानना पड़ता है कि इस बात में सत्य क्या है? अर्थात् तथ्य, न्याय, औचित्य क्या है? यह जानने के बाद वह उस पर दृढ़ रहने का संकल्प करता है। इस संकल्प में या व्यवहार में उसे सच्चा शुद्ध रहने की परम आवश्यकता है। ये दोनों आरंभिक क्रियायें उसे

इसलिए करनी पड़ती है कि वह अन्तिम सत्य—आत्मतत्व—को अनुभव करना चाहता है—सारे जगत से अपना तादात्म्य करना चाहता है। इस प्रकार एक सत्याग्रही का ध्येय हुआ जगत् के साथ अपने को मिला देना—उसकी प्रथम सीढ़ी हुई सत्य का निर्णय करना, दूसरी सीढ़ी हुई उस पर दृढ़ रहना, और तीसरी सीढ़ी हुई अपने व्यवहार में सच्चा और शुद्ध रहना। इस आखिरी बात में वह जितना ही दृढ़ रहेगा, उतनी ही सत्य-निर्णय में उसे सुगमता होगी और उतना ही उसका निर्णय अधिक शुद्ध होने की संभावना रहेगी। सत्य पर दृढ़ रहने से उसकी तेजस्विता बढ़ेगी, शुद्धता होने से लोकप्रियता बढ़ेगी और जगत् के साथ अपनेको मिलाने के प्रयत्न से उसकी आत्मा का विकास होगा। उसकी सहानुभूति व्यापक होगी; उसका क्षेत्र विशाल होगा, वह क्षुद्रताओं और संकीर्णताओं से ऊपर उठेगा। तीनों के संगम के द्वारा उसे पूर्ण, सच्चा या स्वाधीन मनुष्य बनने में सहायता मिलेगी।

सत्याग्रह मनुष्य-मात्र के लिए उपयोगी है। यह समझना कि यह तो साधुओं और वैरागियों के ही काम का है, भूल है। सत्य पर डटे रहना, सच्चाई का व्यवहार करना, प्रत्येक दुनियादार आदमी के लिए भी उतना ही जरूरी है जितना कि साधु या वैरागी के लिए है। यदि सत्य पर भरोसा न रक्खा जाय, सच्चाई का व्यवहार न किया जाय, तो दुनिया के बहुतेरे कारोबार बन्द कर देने पड़ेंगे, बल्कि सांसारिक जीवन का निर्वाह ही असंभव हो जायगा। संसार में यद्यपि सत्य और झूठ का मिश्रण है, तथापि संसार-चक्र जिस किसी तरह चल रहा है, उसका आधार असत्य नहीं, सत्य है। जितना सत्य है उतनी सुव्यवस्था और सुख है; जितना असत्य है उतनी ही अव्यवस्था और दुःख है। कुछ लोग छोटे स्वार्थों—थोड़े लाभों, और जल्दी सफलता के लोभ में झूठ से काम ले लेते हैं—इसीलिए दूसरे लोगों को असुविधा और कष्ट उठाना पड़ता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि दुनिया में सत्य सरल व्यवहार तो कठिन माना जाता है और झूठ में सुविधा और लाभ दिखाई पड़ता है। यदि प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभव से लाभ उठाना चाहे, तो वह तुरन्त देख सकता है कि झूठ में कितनी अशांति, और कितनी दुविधा, कितनी कठिनाइयां, कितनी उलझनें हैं और सरल सत्य में मनुष्य कितनी झंझटों से बच जाता है। यदि सत्य का आदर न हो, तो परस्पर विश्वास रखना ही कठिन हो जाय और यदि परस्पर विश्वास न हो, वचन-पालन

की महत्ता न हो, तो ज़रा सोचिए संसार-व्यवहार कितने दिन तक चल सकता है ? इसके विपरीत सत्य का व्यवहार करने से न केवल अपनी साख, प्रतिष्ठा और प्रभाव ही बढ़ता है; बल्कि शांति, तेजस्विता और दृढ़ता भी बढ़ती है, जो कि सांसारिक और सफल जीवन के लिए बहुत आवश्यक है ।

परन्तु इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि व्यापारिक, आर्थिक और राजनैतिक मामलों में तो झूठ का सहारा लिये बिना किसी तरह काम नहीं चल सकता । यह बात इस अर्थ में तो ठीक है कि कुछ लोग जीवन में झूठ का आश्रय लेकर अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं; परन्तु इस अर्थ में नहीं कि यदि कोई यह निश्चय ही कर ले कि मैं तो किसी तरह सत्य से विचलित न होऊंगा तो उसका काम न चल सके, या उसे हानि उठाना पड़े । यदि वह छोटे और नजदीकी लाभों को ही लाभ न समझेगा, आर्थिक कठिनाइयों से ही न घबरा जायगा, तो झूठ का आश्रय लेने वाले की अपेक्षा वह अधिक सफल होगा; हां, उसे धीरज रखना होगा । सत्य का पालन करने वाले को जो कष्ट और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उसका कारण तो यह है कि अभी समाज की व्यवस्था बिगड़ी हुई है—शिक्षा और सुसंस्कार की कमी है । यह कल्पना करना चाहे हवाई किले बनाना हो कि सारा मनुष्य-समाज किसी दिन सत्यमय हो जायगा; परन्तु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि जितना ही वह सत्य की ओर अधिक बढ़ेगा, उतना ही वह सुख, सुविधा और सफलता में उन्नति करेगा ।

सृष्टि में अकेलेपन के लिए जगह नहीं है । सृष्टि शब्द ही अकेले-पन का विरोधी है । यदि वेदान्तियों की भाषा का आश्रय लिया जाय तो ईश्वर ने एक से अनेक—'एकोऽहं बहुस्याम'—होने के लिए सृष्टि-रचना की है । इसलिए सच्चे अर्थ में यहां कोई बात, कोई वस्तु 'व्यक्तिगत' नहीं हो सकती । जितने नियम, सिद्धान्त, आदर्श और व्यवहार बने हैं वे सब न बने होते, यदि सृष्टि में 'अकेलापन' या 'व्यक्तिगत' कुछ होता । इनकी उत्पत्ति व्यक्ति के जगत् के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही हुई है । अर्थात् इनका मूल्य सामाजिक है । समाज में रहते हुए भी मनुष्य ने कुछ बातें अपने लिए ऐसी रख ली हैं जिनका समाज से बहुत सम्बन्ध नहीं है और इसलिए वे व्यक्तिगत कही जाती हैं । सत्य तत्त्व के अर्थ में तो सृष्टि का आधार है; परन्तु सिद्धान्त और गुण के अर्थ में

सामाजिक नियम है। इस प्रकार सत्य के दो भाग हो जाते हैं—एक स्वतंत्र सत्य और दूसरा सामाजिक सत्य। सामाजिक सत्य स्वतंत्र सत्य का साधक है। स्वतंत्र सत्य मनुष्य का ध्येय और सामाजिक सत्य उस तक पहुँचने की सड़क है। सत्य तो मनुष्य की एक कल्पित या अनुभूत स्थिति (Fact) है, जिसके आगे उसने कुछ नहीं पाया है—परन्तु सबकी दृष्टि वहां तक नहीं जाती, न वह उन्हें आकर्षित ही करता है, न उन्हें उसमें विशेष दिलचस्पी ही मालूम होती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य सामाजिक सत्य की मंजिलें तय करता जाता है, त्यों-त्यों स्वतंत्र सत्य उसे लुभावना और महर्णीय मालूम होने लगता है और उसके गौरव, स्वाद या सौन्दर्य में उसकी रुचि होने लगती है। इसलिए जब तक बुद्धि में उसके स्वरूप को समझने की रुचि और हृदय में उसे अनुभव करने की उत्सुकता नहीं जाग्रत हुई है, तब तक सामाजिक सत्य से ही मनुष्य को आरम्भ करना चाहिए। वह सत्य पर अटल रहने की और जीवन को भीतर बाहर शुद्ध बनाने की प्रतिज्ञा करे। यह सत्याग्रही के लिए पहली बात हुई।

दूसरे को कष्ट न देने की वृत्ति का नाम ही अहिंसा है। वह सत्य से उत्पन्न होती है और सत्य की सहायक या पूरक है। सामाजिक सत्य का जितना महत्व है, उतना ही अहिंसा का भी महत्व है। परन्तु हम सत्य और अहिंसा को एक तुला पर नहीं रख सकते। सामाजिक गुण के अतिरिक्त सत्य का स्वतंत्र अस्तित्व और महत्व भी है। परन्तु अहिंसा ऐसी कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। फिर भी वह सत्य के ज्ञान और उसकी रक्षा के लिए अनिवार्य है। हालांकि उसका जन्म समाज की अपेक्षा से ही हुआ है। यदि संसार में कोई दूसरा व्यक्ति या जीव न हो तो किसीको कष्ट पहुँचाने का सवाल ही नहीं पैदा हो सकता।

सत्य जब तक स्वतंत्र है तब तक 'सत्य' है—परन्तु जब वह सामाजिक बनने लगता है तब अहिंसा का रूप धारण करने लगता है। सत्य का प्रयोग जब दूसरे पर किया जाता है, तो वह वहां जाकर अहिंसा बन जाता है। हमसे सत्य के रूप में निकला और दूसरे तक पहुँचते हुए अहिंसा में बदल गया। हमसे उस तक पहुँचते हुए कुछ भावनाओं की रासायनिक क्रिया उसपर होती है जिससे वह अहिंसा बन जाता है। चूंकि मुझे यह मंजूर है कि जिस तक मैं अपना सत्य पहुँचाना चाहता हूँ; वह उसे सत्य ही समझे, उसमें अपना लाभ ही समझे, इसलिए, मैं उसमें

मिठास और प्रेम की पुट लगा देता हूँ—यही अहिंसा का आरम्भ है। यदि मैं अपने ही मान्य सत्य की रक्षा कर लेता हूँ—दूसरे को अपने बराबर सुविधा और अधिकार नहीं देना चाहता—तो मैं सत्य का एकांगी और स्वार्थी पुजारी हुआ। परन्तु सत्याग्रही पूरे और सच्चे अर्थ में सत्य का भक्त होता है; इसलिए अज्ञानी के प्रति उसके मन में दया, प्रेम और सहानुभूति का ही भाव पैदा होता है। इन्हीं भावनाओं की पुट सत्य को अहिंसक बना देती है। सत्य जब मधुर और स्निग्ध होकर दूसरे तक पहुँचता है तो उसे स्वादु और स्वागत-योग्य मालूम होता है। सत्य मूलतः भी कटु नहीं हो सकता। वह तीखा हो सकता है; पर कटु नहीं। यदि सत्य ही सब में फैला हुआ है, तो फिर सत्य एक में से दूसरे में पहुँचते हुए, कहीं तीखा, और कहीं कड़ुवा क्यों मालूम होता है। क्योंकि सत्य जिन साधनों, जिन उपकरणों से एक के अन्दर से निकलकर दूसरे के अन्दर पहुँचता है, वे कुसंस्कारों और दोषों से लिप्त रहते हैं। उन कुसंस्कारों को पोंछने के लिए ही, या यों कहें कि उनके दोष से सत्य को बचाने के लिए ही प्रेम और मिठास की पुट जरूरी हो जाती है। कष्ट-सहन प्रेम, मिठास तथा सहानुभूति की स्थूल अभिव्यक्ति है। जो व्यक्ति अज्ञानी है, स्वार्थ ने जिसे अन्याय और अत्याचार के गड्ढे में गिरा रक्खा है, जो इस तरह अपने आप ही पतित हो चुका है, उसके प्रति एक मनुष्य के मन में तो सहानुभूति और दया ही उत्पन्न हो सकती है। यह सहानुभूति और दया ही उसे कष्ट देने के बदले कष्ट सहने के लिए प्रेरित करती है। और कष्ट-सहन के द्वारा सत्याग्रही दोनों हेतु सिद्ध कर लेता है—उस व्यक्ति का सुधार और अपने प्रति उसका मित्र-भाव। सत्य के इतने विवेचन के बाद हम यह देखेंगे कि सत्य की साधना से मनुष्य में कौन-कौन से गुण उदय होते हैं और वे किस प्रकार उसे पूर्ण स्वाधीन बनाने में सहायक होते हैं।

३: सत्य से उत्पन्न गुण

सत्य वह तत्व है जिसके बल पर सारा संसार-चक्र चल रहा है। उसको जानना, उसके लिए प्रयत्न करना, उसका अपने में अनुभव करना मनुष्य का स्वभाव-धर्म है। अनुभवियों ने कहा है कि आत्मा, परमात्मा सत्य से भिन्न नहीं—सृष्टि में सत्य जो कुछ है वह यही कि घट-घट में, अणु-अणु में एक ही आत्म-तत्व समाया हुआ है। कई

मनुष्य ऐसे मिलेंगे जो बुद्धि से इस ज्ञान को जानते हैं; किन्तु सत्य जिनके हृदय का धर्म नहीं बन गया है। वास्तव में आत्मा, जो जगत् का परम सत्य है, बुद्धि द्वारा जानने की वस्तु नहीं है। जिनका हृदय शुद्ध है उन्हें सत्य का स्फुरण अपने आप हुआ करता है। सत्य सीधा उनके दिल में जाकर पैठ जाता है। परन्तु कुसंस्कारों से जिनका हृदय दूषित और मलिन है, उन्हें उसकी प्रतीति एकाएक नहीं होती। बुद्धि के द्वारा जिन्होंने सत्य को जानने का यत्न किया है, उन्होंने बड़े-बड़े दर्शन-शास्त्र रच डाले हैं किन्तु वे इने-गिने विद्वानों के ही काम के हो गये हैं। वे बुद्धि की जिज्ञासा को तृप्त चाहे कर दें; किन्तु सत्य का साक्षात्कार तो अनुभव करने से ही होता है। इसलिए सत्य को जीवन का धर्म बनाने—आचरण में उतारने का ही यत्न सबसे सीधा और अच्छा मार्ग है। जो बात आपको सच प्रतीत हो, उसी पर डटे रहिए; किन्तु यह न समझ लीजिए कि आपने उसमें जो कुछ सत्य जाना है वही अन्तिम सत्य है। संभव है, आपकी धारणा में गलती हुई हो। इसलिए आप आगे के लिए आंखें खोलकर रखिए—देखते जाइए, अपने माने हुए सत्य के आगे भी कुछ दिखाई देता है या नहीं—किन्तु जबतक आगे निश्चित रूप से कुछ न दिखाई दे तब तक अपने माने सत्य पर ही अड़े रहिए। सत्य तो दुनिया मे एक है। इसलिए यदि आपकी लगन सच्ची है, तो आप उसे—असली सत्य को—किसी दिन अवश्य पाजायंगे। किन्तु आपकी वृत्ति हर बात में सत्य को देखने, सत्य को खोजने की रहे। जिस बात मे जो सत्य प्रतीत हो, उसे अपनाते जाइए, जो असत्य मालूम हो उसे छोड़ते जाइए। असत्य कई बार बड़ा लुभावना होता है, शीघ्र सफलता का प्रलोभन दिखाता है—किन्तु आप उसके फंदे में न फंसिए। यह अनुभव-सिद्ध है कि यदि आप उसके लालच में आते रहेंगे, तो संभव है कि कुछ बार थोड़े परिश्रम में और जल्दी सफलता मिल जाय; किन्तु आप विश्वास रखिए कि यह लाभ आगे के बड़े लाभ को दूर फेंक देता है और इसलिए असल में हानि ही हो जाती है। बार-बार झूठ का आश्रय लेते रहने से तो मित्रों और समाज में पैठ उठ जाती है और इससे होने वाली हमारी भौतिक और नैतिक हानि का अन्दाजा पाठक सहज ही लगा सकते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तो हमें यह अनुभव होगा कि झूठ को अपना कर यदि आप कोई तात्कालिक लाभ कर रहे हैं, तो उसी समय आप दूसरी बात में अपनी हानि करते हुए पाये

जायेंगे। चूंकि आपका ध्यान लाभ की तरफ है, आपको जल्दी है, इसलिए आप अपने कार्य के समस्त परिणामों को शांति के साथ नहीं देख रहे है—इसलिए वह हानि अभी आपको दिखाई नहीं देती; किन्तु यदि आप झूठ का आश्रय लेते हुए इस बात पर ध्यान रक्खेंगे कि देखें इससे कौन-सी हानि हो रही है, तो आपको उसे देखने में देर न लगेगी। फिर तो आपको असत्य से स्वभावतः अरुचि और अन्त में घृणा होने लगेगी और उसकी हानि इतनी प्रत्यक्ष हो जायगी कि आप असत्य के विरोध में प्रचार करने लगेंगे।

इस प्रकार अपने प्रत्येक कार्य और प्रत्येक व्यवहार में सत्य और असत्य की बार-बार छान-बीन करते रहने से आपको सबसे पहला लाभ तो यह होगा कि आपकी विचार-शक्ति बढ़ेगी। इससे आपको सारासार का, कर्तव्य-अकर्तव्य का, हानि-लाभ का, अच्छे-बुरे का, विचार करने की आदत पड़ेगी और आपमें विवेक जाग्रत होगा। जब आप सत्य-ग्रहण करने की ओर ही दृष्टि रक्खेंगे तो आपका मन एकाग्र होने लगेगा, और-और बातों को छोड़कर एक सत्य की ही ओर मन को बार-बार आना पड़ेगा, इससे उसे संयम का अभ्यास अपने आप होगा। जब हम केवल सत्य पर ही दृढ़ रहेंगे तो हमें अपने बड़े-बूढ़ों प्रियजनों और कुटुम्बियों के भी विरोध का सामना करना पड़ेगा। राज्य, समाज और धर्म के नाम पर स्थापित सत्ता का भी विरोध सहना पड़ेगा और करना पड़ेगा। उससे हमारे अन्दर साहस पैदा होगा। इन विरोधियों के विरोध और कष्टों को आनन्द के साथ सहने से कष्ट-सहन की शक्ति बढ़ेगी। सत्य-भक्त के लिए यह जरूरी होगा कि वह दूसरे के माने हुए सत्य का भी आदर करे। वह उसे अपने लिए सत्य तब तक न मानेगा, जब तक कि स्वयं उसे उसकी प्रतीति न हो जाय; परन्तु उसे अपने सत्य पर कायम रहने का अधिकार जरूर देगा। ऐसा करने में उसे अहिंसा का पालन करना होगा। यदि वह अपना सत्य उसपर जबरदस्ती लादने लगेगा, दुर्बल, भय अथवा शस्त्र-बल से उसे अपना सत्य मानने पर मजबूर करेगा तो, वह सत्य-भक्त नहीं रहेगा—अपने मान्य सत्य पर चलने का अधिकार सब को है—इस महान् सत्य की वह अवहेलना करेगा। इस प्रकार अहिंसा का पालन उसके लिए अनिवार्य हो जाता। सत्य का निर्णय करने में भी अहिंसा उसकी सहायक होती है। बल्कि अनिवार्य शर्त है। द्वेष हिंसा का एक रूप है। जब तक हमारा मन द्वेष

से कलुषित होगा तब तक हमारे हृदय में सत्य की पूरी अनुभूति न होगी—हमारा निर्णय शुद्ध न होगा। द्वेष से प्रभावित मन हमें स्वार्थ की ओर ले जायगा—हमारे द्वेष-पात्र के हित की रक्षा का उचित भाव हमारे मन में न रहेगा—इसलिए हमारा निर्णय न्याय या सत्य-मूलक न होगा। इसी तरह शुद्ध निर्णय या सत्य-शोधन के लिए हमारा अंतःकरण राग से भी दूषित न होना चाहिए। क्योंकि जब एक के प्रति राग यानी मोह, आसक्ति अथवा स्वार्थ-मूलक स्नेह होगा, तो हमारा मन उसके सुख, लाभ या हित की तरफ अधिक झुकेगा और हम दूसरे के स्वार्थ की उपेक्षा कर जायंगे। यह राग जन्म के समय चाहे प्रत्यक्ष हिंसा के रूप में न आता हो, परन्तु परिणाम के रूप में अवश्य हिंसा हो जाता है। जिसके प्रति हमारे मन में राग होता है, उसका अहित हम अक्सर ही कर डालते हैं—अलबत्ता उसका हित साधन करने की चेष्टा करते हुए ही। क्योंकि उसके प्रति अत्यधिक स्नेह हमें उसके सच्चे हित की ओर से अन्धा बना देता है—हम उसके श्रेय की अपेक्षा उसके प्रेय की अधिक चिन्ता करने लगते हैं—और उसे गलत रास्ते ले जाते है। राग को अपनाकर स्वयं अपनी भी हानि करते हैं। हम भी पथ-भ्रष्ट होते हैं। अपने कर्तव्य का निर्णय करने में भी हम राग के वशीभूत हो सत्य का मार्ग छोड़ देते हैं। उसकी नाराजगी के अन्देशे या खुश करने की चिन्ता से सत्य की उपेक्षा होने लगती है। और हित तो अन्ततः सत्य की प्रतीति, पालन और रक्षण से ही हो सकता है। इस तरह सत्य का पालन हमें राग-द्वेष से ऊपर उठने की शिक्षा देगा। इससे हमारे मन में समता का और स्थिरता का गुण आने लगेगा। अधिक और बार-बार कष्ट सहन करने से धीरज का विकास होगा। कठिनाइयों, विघ्नों, कष्टों से लड़ते हुए, पुरुषार्थ, निर्भयता की वृद्धि होगी। 'यह सब मैं सत्य के लिए सह रहा हूँ,' यह भावना अपूर्व बल देगी और उत्साह को बढ़ावेगी। सत्य के पथ पर चलने वाला अवश्य सफल होगा, यह विचार आशा और उमंग में वृद्धि करेगा। यों किसी भी उच्च ध्येय को ग्रहण करके उसकी सिद्धि में तल्लीन रहने से हममें से कई गुणों का विकास होगा, किन्तु अमर आशा और सफलता की अचल श्रद्धा सत्य के ध्येयवाले को ही प्राप्त होती है।

सत्य के साधक के लिए इतना ही काफी नहीं है कि वह स्वयं ही सत्य का अनुभव और पालन करता रहे, बल्कि उसका यह भी कर्तव्य

है कि अपने सत्य से दूसरे को भी लाभ पहुँचावे—दूसरे को भी उसका अनुभव करावे। यह वह दो तरह से कर सकता है—स्वयं अपने सत्य पर दृढ़ रहकर—उसका आचरण करते हुए और दूसरे लोगों में उसके लिए रुचि, प्रीति और लगन उत्पन्न करके। यह दूसरा काम उसे सत्य का प्रचारक भी बना देता है। प्रचारक बनने से उसमें संगठन की योग्यता आवेगी। उसे जनता की और भिन्न-भिन्न वर्गों की संस्कृति और मनोदशा का अध्ययन करना पड़ेगा, जिससे विवेक बढ़ेगा और समय तथा स्थिति देख कर भिन्न-भिन्न उपायो का अवलम्बन करना पड़ेगा, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहों से काम लेना पड़ेगा—इससे साधन-बहुलता और प्रसंगावधान आवेगा। सत्य जैसे दूरवर्ती लक्ष्य को सामने रखने से और अपने वर्तमान कार्यक्रम को सदैव उसके अनुकूल बनाये रखने की चिन्ता से उसमे दूरदर्शिता का प्रादुर्भाव होगा। अहिंसा का मूल सत्य पर स्थित है; किन्तु उसका स्वरूप प्रेम-मय है। जब हम इतना ही कहते हैं कि 'दूसरे को कष्ट न पहुँचाओ' तो उसका नाम अहिंसा है। किन्तु जब कहते हैं कि 'दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझो' तो उसका नाम सहानुभूति है और जब हम कहते हैं कि 'दूसरे को अपने समान चाहो' तो उसका नाम प्रेम है। अहिंसा तटस्थ है; प्रेम सक्रिय है। जहां प्रेम है, सहानुभूति है, वहां सभी मृदुल गुणो का अधिष्ठान हो गया समझिए। रस की उत्पत्ति प्रेम मे ही है। रस समस्त ललित कलाओ का प्राण है। एक ओर से सत्य का तेज और दूसरी ओर से अहिंसा की शान्ति तथा प्रेम का जीवन-रस मनुष्य को समस्त तेजस्वी और रमणीय गुणो से—मस्तिष्क और हृदय के गुणों से आभूषित करके जीवन की सार्थकता के द्वार तक निश्चित रूप से पहुँचा देगा।

४ : शस्त्र-बल के एवज में सत्याग्रह

सत्याग्रह भारतवर्ष को और उसके निमित्त से सारे जगत् को महात्माजी की एक अपूर्व देन है। विचार-जगत् में यद्यपि टाल्स्टाय ने इसको आधुनिक संसार मे फैलाने का थोड़ा यत्न किया है, फिर भी व्यावहारिक जगत में तो गांधीजी को ही उसे प्रचलित करने का श्रेय प्राप्त है। इस अध्याय के आरंभ में हमने सत्याग्रह के मूल-तत्त्व रूप को समझने का यत्न किया है, किंतु यहां हम उसको एक बल, एक शस्त्र के रूप में

विचारने की कोशिश करेंगे। महात्माजी का यह दावा है कि सत्याग्रह शस्त्र-युद्ध का स्थान सफलता-पूर्वक ले सकता है।

यहां हम इसी विषय पर कुछ विचार कर लेना चाहते हैं। महात्मा जी जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, जिसके आधार पर उन्होंने अपना जीवन बनाया है, जिसके बल पर उन्होंने दक्षिण अफ्रिका और, भारतवर्ष मे अपूर्व सफलतायें प्राप्त की हैं, एक-से-एक बढ़कर चमत्कार दिखाये हैं, उसे उन्होंने 'सत्याग्रह' नाम दिया है।

सत्य+आग्रह इन दो शब्दों को मिलाकर 'सत्याग्रह' बनाया गया है। इसमें मूल और असली शब्द तो सत्य ही है। सत्य पर डटे रहने का नाम है सत्याग्रह। अब प्रश्न यह है कि 'सत्य' क्या है? इसका निश्चयात्मक उत्तर वही दे सकता है, जिसने सत्य को पा लिया हो, जिसका जीवन सत्यमय हो गया हो, जो स्वयं ही सत्य-रूप हो गया हो। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों और दर्शनकारों ने इसे समझाने का यत्न किया है, पर वे इसकी महिमा का बखान करके या कुछ झलक दिखाकर ही रह गये है। मैं समझता हूँ—इससे अधिक मनुष्य के बस मे है भी नहीं। सत्य की पूर्णता, व्यापकता और घनता न तो बुद्धिगम्य ही है और न वर्णन-साध्य ही है। उसकी व्यापकता पर विचार करने लगते हैं, तो यह ब्रह्माण्ड भी छोटा मालूम होता है। घनता की तरफ बढ़ते हैं,तो कल्पित या मनोगत बिन्दु भी बड़ा दिखाई देता है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्म और विराट् से भी विराट् है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इससे अधिक वर्णन उसका नहीं हो सकता।

तब मनुष्य उसे समझे कैसे? प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि और शक्ति के ही अनुसार उसे समझ या ग्रहण कर सकता है। तो प्रत्येक मनुष्य के लिए सत्य वही हुआ, जो उसे जंच गया। तो क्या प्रत्येक जंचने वाली बात को सत्य ही मान लेना चाहिए? नहीं, निर्मल अन्तःकरण में जो स्फुरित हो, सात्विक बुद्धि में जो प्रवेश कर जाय, वही 'सत्य' शब्द से परिचित कराया जा सकता है। वह वास्तविक सत्य चाहे न हो, किन्तु उस व्यक्ति के लिए तबतक तो वही सत्य रहेगा, जबतक उसे आगे सत्य का और या भिन्न प्रकार से, दर्शन न हो। इसको सापेक्ष्य या अर्ध या आंशिक सत्य ही समझना चाहिए;—यह उस मनुष्य की असमर्थता, अपूर्णता अवश्य है, किन्तु अपने विकास की वर्तमान अवस्था में इससे अधिक सत्य का दर्शन उसे हो ही नहीं रहा है, तो वह क्या करेगा?

वह उसी आंशिक सत्य पर दृढ़ रहेगा और आगे सत्य-दर्शन की राह देखेगा, एवं उसके लिए यत्न करेगा। सत्य-शोधन का, सत्य को पाने का यही मार्ग है। किन्तु इसमें यह बात न भूलनी चाहिए कि सत्य-शोधन में प्रगति करने के लिए अन्तःकरण की निर्मलता और बुद्धि की सात्विकता का दिन-दिन बढ़ना अनिवार्य है। ऐसा न करेंगे तो आपकी गति कुण्ठित हो जायगी; आप उसी अपने माने हुए अर्थ या आंशिक सत्य पर ही—जो असत्य भी हो सकता है—चिपके रह जायँगे और सम्भव है कि उससे आपकी अधोगति भी हो जाय।

अब इन आंशिक सत्यों में झगड़ा शुरू हो तो क्या किया जाय? आप एक बात को सत्य माने हुए हैं, मैं दूसरी बात को। और वे दोनों परस्पर विरुद्ध हैं तो आपका मेरा परस्पर-व्यवहार और संबंध कैसा होना चाहिए? सहिष्णुता का या जोर-जुल्म का? यदि जोर-जुल्म का, तो फिर आप मुझसे मेरे सत्य पर डँटे रहने का अधिकार छीनते हैं। यह तो सत्य की आराधना नहीं हुई। आपको अपना ही सत्य प्रिय है, उसी की आपको चिन्ता है। मेरे सत्य की यदि आप बिल्कुल ही उपेक्षा करते हैं, तो आप जुल्मी, स्वार्थी, एकांगी, पक्षपाती क्यों नहीं हुए? यदि आपकी वृत्ति ऐसी है तो फिर क्या आप स्वयं भी अपने सत्य-शोधन का रास्ता नहीं रोक रहे हैं? इस दशा में तो आप अपने और मेरे दोनों के सत्य के बाधक हो गये। दूसरे शब्दों में आप सत्य के द्रोही बन गये। पर यदि आप सहिष्णुता का व्यवहार रखते हैं तो अपने और मेरे दोनों के लिए सत्य-शोधन का मार्ग विस्तृत कर देते हैं। दोनों में विग्रह और द्वेष की जगह प्रेम और मिठास का एवं सम्बन्ध बढ़ाते हैं। इसी वृत्ति का नाम अहिंसा है।

सत्य के शोधन में अहिंसा के बिना काम चल ही नहीं सकता। आप एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। यही नहीं, बल्कि अन्तःकरण की निर्मलता, बुद्धि की सात्विकता, जिनके बिना आपका अंतःकरण सत्य स्फुरित होने के योग्य ही नहीं बन सकता, वास्तव में देखा जाय तो इस अहिंसा-वृत्ति के ही फल हो सकते हैं। अन्तःकरण को निर्मल और बुद्धि को सात्विक आप तभी बना सकते हैं, जब आप अपने को राग-द्वेष से ऊपर उठाते रहेंगे। राग-द्वेष से ऊपर उठना अहिंसा का ही दूसरा नाम है।

इस तरह सत्य के साथ अहिंसा अपने-आप जुड़ी हुई है। दोनों

एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते। "दोनों की एक-दूसरे से पृथक या भिन्न कल्पना करना अपने को सत्य से दूर हटाना है। फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि सत्य साध्य है और अहिंसा साधन। अहिंसा के बिना आप सत्य को पा नहीं सकते, इसलिए उसका महत्व सत्य के ही बराबर है; किंतु उसका दरजा सत्य के बराबर नहीं हो सकता।

सत्य यदि वास्तव में सत्य है, सारा ब्रह्माण्ड यदि एक सत्य ही है, या सत्य नियम पर ही उसका आधार और अस्तित्व है, और यदि वही सत्य हम में ओत-प्रोत है तो फिर हमें अपनी छोटी-सी तलवार, पिस्तौल या मशीनगन, अणुबम अथवा अन्य भीषण शस्त्रास्त्रों से उनकी रक्षा करने की आवश्यकता ही क्या है? क्या हमारे ये भयानक और मारक साधन उनकी रक्षा कर भी सकेंगे? यदि हम मानते हैं कि हां, तो फिर ये सत्य से बढ़कर साबित हुए। तो फिर सत्य की अपेक्षा इन्हीं की पूजा क्यों न होनी चाहिए? 'सत्यमेव परो धर्मः' की जगह 'शस्त्रमेव परो धर्मः' का प्रचार होना ही उचित है। 'सत्यमेव जयते नाऽनृतम्' की जगह 'शस्त्रमेव जयते' की घोषणा होनी चाहिए। तो फिर अब जगत् में किसीने शस्त्र को सत्य से बढ़ कर क्यों नहीं बनाया? इसीलिए कि सत्य और शस्त्र की कोई तुलना नहीं। शस्त्र यदि किसी बात का प्रतीक हो सकता है, तो वह असत्य का। सत्य तो स्वयं रक्षित है। सूर्य की कोई क्या रक्षा करेगा? सत्य के तेज के मुकाबले में हजारों सूर्य कुछ भी नहीं हैं। चूंकि हममें सत्य कम होता है, इसीलिए हमें शस्त्र की सहायता की आवश्यकता प्रतीत होती है; क्योंकि असत्य हममें अधिक होता है और वह अपने मित्र, साथी या प्रतीक की ही सहायता प्राप्त करने के लिए हमें प्रेरित करता है। अतएव सत्य का हिंसा या शस्त्र से कोई नाता नहीं। यह बात सूर्य के प्रकाश की तरह हमारे सामने स्पष्ट रहनी और हो जानी चाहिए।

सत्य की शोध और सत्य पर डँटे रहने की प्रवृत्ति से ही वह प्रतिकार-बल उत्पन्न होता है, जो सत्याग्रही का वास्तविक बल है। सत्य को शोधने की बुद्धि उसे नित्य नया प्रकाश देती है और जो सत्य स्फुरित हुआ है, उस पर डँटे रहने से उसमें दृढ़ता, बल और असत्य से लड़ने की स्फूर्ति आती है। इस प्रकार सत्याग्रह में ज्ञान और बल दोनों का समावेश अपने आप होता रहता है। जहां ये दोनों हैं, वहां पराजय, असफलता, अशांति, दुःख और चिन्ता कैसे टिक सकते हैं? सत्य के

इसी अनन्त और नित्य नवीन ज्ञान, एवं अमोघ बल के आधार पर महात्माजी कहा करते हैं कि शुद्ध सत्याग्रही एक भी हो, तो वह सारी दुनिया को हिला सकता है। कौन कह सकता है कि उनका यह दावा बुद्धिगम्य नहीं है? सत्य के त्रुटियुक्त, अपूर्ण और छोटे प्रयोगों से भी जब हमने जबरदस्त शक्ति उत्पन्न होती हुई देखी है तो इसमें क्या शक हो सकता है कि सत्याग्रही जितना ही अधिक शुद्धता और पूर्णता के निकट पहुँचेगा, उतनी ही उसकी गति, तेज, बल अपरिमित और दुर्दमनीय होंगे।

सारांश यह है कि एक ओर सत्य का अमित तेज, बल, पराक्रम, पौरुष, साहस और दूसरी ओर अहिंसा की परम आर्द्रता, मृदुता, मधुरता, विनयशीलता, स्निग्धता, सुजनता, इन दोनों के सम्मेलन का नाम है सत्याग्रह।

सत्याग्रह एक गुण भी है और बल भी है। प्रत्येक गुण के दो कार्य होते हैं—एक तो हमारी अनुकूलताओं को बढ़ाना और दूसरे प्रतिकूलताओं को रोकना। जब हमारा कोई गुण प्रतिकूलताओं को रोकता है, बाधाओं को हटाता है, तब वह एक बल हो जाता है। जब हम किसी सामाजिक, व्यक्तिगत, राजनैतिक या किसी भी दोष, कुप्रथा, कु-नियम को मिटाने के लिए किसी न्याय, या सत्य बात पर अड़े रहते हैं, सब प्रकार के कष्ट और कठिनाइयों को आनन्द और धीरज के साथ सहते हैं, किन्तु अपनी बात पर से नहीं डिगते, तब हम सत्याग्रह को एक बल के रूप में संसार के सामने पेश करते हैं। 'सत्याग्रह' वस्तु की उत्पत्ति वास्तव में इसी बल के रूप में हुई है; परन्तु 'सत्याग्रह' शब्द बनते समय उसमें सत्य के सभी सामाजिक गुणों का तथा स्वतंत्र सत्य का भी सामवेश कर दिया गया है, जिससे 'सत्याग्रह' का भाव एकांगी, संकुचित या अपूर्ण न रहे।

सत्याग्रह का रूप सविनय कानून-भंग है। यह एक बलवान अस्त्र है। जिस नियम को हम न्याय और नीति के विरुद्ध समझते हैं, उसको न मानने का हमें अधिकार है। यदि एक कु-नियम को हटाने के लिए दूसरे और समय पड़ने पर विरोध-स्वरूप सभी नियमों का अनादर करना पड़े, तो यह भी करने का हमें अधिकार है। परन्तु बुरे नियमों को हम सदा के लिए अमान्य कर सकते हैं और दूसरे नियमों को थोड़े काल के लिए केवल विरोध-स्वरूप ही। दोनों अवस्थाओं में अनादर का सूचक

भुगतना ही वह बल है, जिससे समाज जाग्रत होता है और समाज-व्यवस्था बिगड़ने नहीं पाती। यदि हमारा नियम-भंग उचित होगा, तो हमारा कष्ट-सहन समाज में हलचल और जागृति उत्पन्न करेगा, यदि अनुचित होगा तो हम उसका फल अपने-आप भुगत के रह जायंगे और आगे के लिए अपना रास्ता ठीक कर लेंगे।

परन्तु नियम-भंग का वास्तविक अधिकार उन्हीको प्राप्त होता है, जो दूसरी सब परिस्थितियो में नियमों का पालन चिन्ता के साथ करते रहते हैं। जो नियम-भंग मे अच्छे-बुरे नियमो का भेद नहीं करते, अथवा जब चाहे तभी नियम-भंग करते रहते हैं, उनके नियम-भंग का कोई नैतिक मूल्य नही होता और इसलिए उनकी प्रतिष्ठा और प्रभाव चला जाता है और उनके नियम-भंग से समाज का उपकार या सुधार भी नही होता। नियम-भंग तभी प्रभावशाली होता है, तभी वह एक अमोघ अस्त्र का काम देता है जब वह बुरे नियम का हो और नियम-पालक व्यक्ति के द्वारा किया गया हो।

फिर नियम-भंग सत्याग्रही का अन्तिम शस्त्र है। सत्याग्रही सबसे पहले तो उस नियम की बुराई समाज या राज्य के सूत्र-संचालकों को बताता है; फिर लोकमत को तैयार करके उसके विरुद्ध शिकायत करता है; इतने से यदि काम न चले, तो आन्दोलन खड़ा करके उस नियम को भंग करता है—और अन्त मे सारी व्यवस्था के ही खिलाफ बगावत खड़ी कर देता है। इस क्रम से चलने से उसका बल दिन-दिन बढ़ता जाता है; उसके पक्ष की न्याय्यता को लोग अधिकाधिक समझने लगते है और इसलिए उसके साथ सहानुभूति रखते है, उसे सहायता देते हैं, एवं अन्त में उसका साथ भी देते है। इसके विपरीत एकबारगी नियम-भंग करने वाला अकेला रह जाता है और हतबल हो जाता है।

इस प्रकार सत्याग्रही एक सुधारक होता है; जहां भी उसे असत्य, अन्याय, अनौचित्य मालूम होगा वही वह सुधार करने में प्रवृत्त होगा। उसका सुधार करने के लिए यदि उसे विरोध करना पड़ेगा, लड़ाई लड़नी पड़ेगी तो वह पीछे नहीं हटेगा; परन्तु वह लड़ाई मोल ले लेने के लिए किसीके घर नहीं जायगा। 'आ बैल सींग मार' यह उसकी रीति नहीं होगी। उसका पथ निश्चित है। वह चला जा रहा है। रास्ते में कठिनाई, रुकावट, विघ्न आ जाते हैं, तो उन्हें हटाने लगता है। इसके लिए उसे विरोध, आंदोलन, लड़ाई करनी पड़ती है। जब विघ्न

हट गया, रास्ता साफ हो गया, वह फिर शांति और उत्साह के साथ आगे बढ़ने लगता है। इस अर्थ में वह योद्धा तो है; युद्ध उसे कदम-कदम पर करना पड़ता है—कभी अपने दुर्गुणों के साथ, कभी कुटुम्बियों के साथ, कभी समाज के नेताओं के साथ और कभी राज्य-कर्त्ताओं के साथ; किन्तु युद्ध उसके जीवन का लक्ष्य नहीं है।

सत्याग्रही व्यक्ति का सुधार चाहता है, उसका नाश नहीं। क्योंकि वह मानता है कि कोई भी व्यक्ति दो कारणों से अन्याय, अत्याचार करता है या किसी दोष को अपनाता है। या तो स्वार्थ-वश या अज्ञान वश। स्वार्थ-साधना की जड़ में भी अन्ततः अज्ञान ही है। अब अज्ञान को दूर करने के, मनुष्य को जाग्रत और न्यायी बनाने के दो ही साधन उसके पास हैं—एक तो युक्तियों के द्वारा उसके दिमाग को समझाना और इससे काम न चले तो स्वयं कष्ट उठाकर उसके हृदय को जाग्रत करना। मारकर व्यक्ति को वह मिटा सकता है; पर उसका सुधार नहीं कर सकता। वह अन्यायी और अत्याचारी को सुधार करके अपना मित्र, साथी बनाना चाहता है। उसका नाश करने से यह उद्देश्य सिद्ध न होगा। फिर व्यक्ति का नाश करने से हम उसके गुणों का भी तो नाश कर देंगे। बुरे से बुरे व्यक्ति के लिए भी हम यह नहीं कह सकते कि उसमें कोई गुण नहीं है। यदि उसमें गुण है तो उसकी रक्षा करना, उससे समाज को लाभ पहुँचाना हमारा धर्म है। हां, उसकी बुराई को हम नहीं चाहते—तो बुराई को मिटाने का उद्योग करें। किन्तु बुराई मिटाने के ऐवज़ में हम उस व्यक्ति को ही मिटा दें तो क्या इसे हमारी उद्देश्य-सिद्धि कहेंगे?

सत्याग्रही व्यक्ति पर तलवार इसलिए भी नहीं उठाना चाहता कि वह मानता है कि अपने विचारों के अनुसार चलने का अधिकार सब को है। अधिकार के मानी हैं समाज द्वारा स्वीकृत नियम के अन्दर चलने की पूर्ण स्वाधीनता। यदि आपके और उसके विचार या निर्णय में भेद है, तो क्या एक के लिए यह उचित है कि इसी बात के लिए दूसरे का नाश कर दे? सत्याग्रही, ऐसे प्रसङ्गों पर, दूसरों पर बलात्कार करने की अपेक्षा स्वयं कष्ट उठाता है। अपनी इस सहनशीलता के द्वारा एक तो वह दूसरे को अपने विचारों पर चलने की उतनी स्वाधीनता देता है, जितनी कि वह खुद लेता है और दूसरे उसके मन में एक हलचल पैदा करता है कि मैं गलती पर तो नहीं हूँ। उसे वह आत्म-निरीक्षण में

प्रवृत्त करता है। यह आत्म-निरीक्षण उसे सुधार के पथ पर पहुँचाता है। बस सत्याग्रही का काम हो गया।

सत्याग्रही की अहिंसा का सम्बन्ध व्यक्तियों से है, प्रणालियों, नियमों और संगठनों से नहीं। आवश्यकता हो जाने पर इन्हें मिटाने में वह बिल-कुल हिचकिचाहट नहीं करता। वह मानता है कि प्रणालियां आखिर मनुष्य ही बनाता है। इसलिए मनुष्य के सुधार के साथ प्रणालियां भी सुधरने लगेंगी। यह सच है कि प्रणालियां भी मनुष्य के सुधार के ही लिए बनाई जाती हैं और यदि प्रणाली अच्छी हुई, तो मनुष्य जल्दी सुधर सकेगा; परन्तु प्रणाली और मनुष्य की तुलना में मनुष्य बड़ा है। इसलिए मनुष्य को नष्ट कर देने की कल्पना सत्याग्रही को अनुचित और हानिकर मालूम होती है। किसीको मारने की कल्पना हम तभीतक कर सकते हैं, जब तक हम अपने हित का विचार करते हैं—यदि उसके हित का विचार करने लगें, तो तुरन्त समझ में आ जायगा कि मारना हमारी स्वार्थ-साधुता है। जो मनुष्य सब के हित की भावना नहीं कर सकता तो वह सत्य का अनुयायी कैसे हो सकता है? और यदि सत्य का अनु-यायी नहीं है तो वह अपनी और समाज की प्रगति कैसे कर सकता है, यह समझ में आना कठिन है। अबतक का इतिहास और वर्तमान जगत इसलिए हमारी विशेष सहायता नहीं कर सकता कि वह स्वयं ही अपूर्ण और दुखी है। यदि हिंसा और असत्य के मुकाबले में अहिंसा और सत्य हमें व्यक्ति और समाज के लिए अधिक हितकर मालूम होते हों तो हमारा इतना ही कर्तव्य है कि उनका दृढ़ता से पालन करते चले जायं। यह सम्भव है या नहीं, ऐसी शंका किसी पुरुषार्थी के मन में तो नहीं उत्पन्न होनी चाहिए। जगत् के कई असम्भव समझे जानेवाले चमत्कार मनुष्य के ही प्रयत्न और पुरुषार्थ के फल हैं। यदि हम समाज में सुव्यवस्था कर सकें, शिक्षा और संस्कार फैलाने की अच्छी योजना कर सकें, तो यह ऐसी बात नहीं है जो मनुष्य की क्षमता के बाहर हो। सत्याग्रही मनुष्य के अपार बल को जानता है; इसलिए न तो असं-भावनाओं से हतोत्साह होता है, न विघ्नों से घबराता है। सत्याग्रही निराशा, असफलता और थकान को जानता ही नहीं। यदि हमने सत्य को आंशिक रूप में भी अनुभव कर लिया है, तो बिना किसी बाहरी प्रेरणा और प्रोत्साहन के भी हमारी प्रगति दिन-दिन होती ही चली जायगी और हमारे पथ की बाधायें हुँकार-मात्र में हटती चली जायंगी।

सत्य में यह बल और सामर्थ्य कहां से आ गया ? सत्य चूंकि सारे जगत् में फैला हुआ है इसलिए उसकी ओर सबका सहज आकर्षण है। जो व्यक्ति केवल सत्य की ही साधना करता है; सत्य के पीछे तमाम सुखो, वैभवों और प्रयोजनों को भी छोड़ने के लिए तैयार रहता है, उसके प्रति शत्रु-मित्र सब खिंचते चले आते हैं। उनके अन्दर समाया हुआ सत्यांश उन्हें बड़े सत्यांश की ओर खींचकर ले जाता है। फिर सत्याग्रही दूसरे को कष्ट देना नहीं चाहता—दूसरे का बुरा नहीं चाहता, तो ऐसा कौन होगा, जो उसकी सहायता करना न चाहे ? वह तो शत्रु से भी प्रेम करना चाहता है तो शत्रु उससे कितने दिन तक शत्रुता रख सकेगा ? या प्रतिपक्षी तक जिसके सहायक होने लगते हैं, उसे सफलता क्यों न मिलती जायगी ? सफलता मे उसे उतनी ही कमी रहेगी, या देरी लगेगी, जितनी कि उसकी सत्य और अहिंसा की साधना में कसर रहेगी।

चूंकि समाज व्यक्तियों से ही बना है, व्यक्तियो के और व्यक्तियों पर किये गये प्रयत्नो से समाज प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। समाज में कुछ ही व्यक्ति सूत्र-संचालक हुआ करते हैं। जनसमाज प्रायः उन्हीं का अनुसरण करता है। यदि हमने उन कुछ लोगो को अपने सत्य और अहिंसा-बल से प्रभावित किया होगा, तो उनके सारे समाज पर और उनकी बनाई प्रणालियो पर उसका असर हुए बिना कैसे रह सकता है ? सत्याग्रही जब यह कहता है कि मैं तो हृदय-परिवर्तन चाहता हूँ, तब उसका यह भाव होता है कि प्रतिपक्षी हमारे सत्य और अहिंसा बल को अनुभव करे—पहले उसके मन मे यह क्रिया होने लगती है कि 'अरे, इनका कहना ठीक है, इनकी बात वाजिब है, इनकी मांग न्यायोचित है।' इसके बाद हमारे कष्ट-सहन और उसके आत्म-निरीक्षण से उसके हृदय-कपाट खुलने लगते हैं और हमपर अत्याचार करते हुए भी उसका दिल भीतर से कमजोर पड़ता चला जाता है। फिर एक दिन आता है जब वह थक जाता है और हमारा मतलब पूरा करने की तैयारी दिखाता है। यही हृदय-परिवर्तन की क्रिया के चिन्ह हैं। जब वह हमारा मतलब पूरा कर देता है, तब हृदय-परिवर्तन पूर्ण हो जाता है। सत्य और अहिंसा की यही विशेषता है कि वह प्रतिपक्षी की बुराई को मिटाकर उसे हमारा मित्र और साथी बनाता है एवं दोनों ओर प्रेम, सद्भाव, एकता की वृद्धि करता है—जहां कि असत्य और अहिंसा

कभी एक को और कभी दूसरे को मिटाने का यत्न करते हुए द्वेष, मत्सर, कलह, बैर और इनके कितने ही बुरे साथियों का प्राबल्य समाज मे करता रहता है ।

शत्रु को मारना हमे सहज और स्वाभाविक इसलिए प्रतीत होता है कि हमने अपने स्वार्थ पर ही प्रधान दृष्टि रक्खी है । हम यह भूल जाते हैं कि हमारा शत्रु भी आखिर मनुष्य है, उसके भी घर-बार, बाल-बच्चे हैं उसका भी समाज मे कुछ स्थान है, उसमें भी आखिर कुछ गुण हैं और उनका भी समाज के लिए उपयोग है । कोई मनुष्य महज अपनी बुराई के ही बल हर समाज में नहीं टिका रह सकता । हमें उसकी अच्छाई ढूंढने का यत्न करना चाहिए । ऐसा करने पर हम अपनी इस भूल को तुरन्त समझ लेंगे । यदि हम स्वार्थी होंगे तो हम न्यायी नहीं हो सकते। यदि हम न्यायी नही है, तो हममे और हमारे शत्रु में, जिसे कि हम अन्यायी कहते है, अन्तर क्या रहा? सिर्फ अंशों का ही अन्तर हो सकता हो । पर इसका भी कारण यह क्यो न हो कि हमें अभी इतने अन्याय और अत्याचार की सुविधा नहीं मिली है । यदि मूल बुराई हमारे अन्दर मौजूद है और हमे उसकी चिन्ता नहीं है, तो सुविधा और अनुकूलता की देर है कि हम अन्यायी और अत्याचारी बनने लग जायँगे । यदि हम अपने स्वार्थ को उतना ही महत्व देंगे जितना कि दूसरे के स्वार्थ को, तो हमें किसीको मार-मिटाने की कल्पना अग्राह्य होने लगेगी ।

यहां हमें यह न भूलना चाहिए कि हिंसा का सम्बन्ध मनुष्य के मन और शरीर से है । किसीके शरीर और मन को कष्ट पहुँचाना ही हिंसा है । आत्मा तो दोनो की उससे परे है । आत्मा को कष्ट नहीं पहुँचता, परन्तु शरीर और मन को अवश्य पहुँचता है । यदि आत्मा की एकता और अमरता पर ही हमारी मुख्य दृष्टि है—शरीर और मन के सुख-दुःखों का विचार नही है तो फिर अत्याचार, पराधीनता आदि की भी शिकायत हमें क्यो करनी चाहिए ? हमें यदि गोली मारी जाय तो बुरा कहा जाता है; पर यदि हम मार दें तो उसे हम जायज मानते हैं; यह न्याय समझ में नहीं आता । यदि आप वास्तव में न्याय-प्रिय हैं, तो दोनों के हित, कार्य और स्वार्थ पर समान दृष्टि रखिए । यदि आप दोनों एक ही साधन को जायज मानते है, तब तो फिर आपके और उसके बीच न्याय-अन्याय का प्रश्न नहीं है—सत्यासत्य का प्रश्न नहीं है, बल्कि बलाबल और अनुकूलता-प्रतिकूलता का प्रश्न है । यदि आप सूक्ष्म

रीति से विचार करेंगे, तो आप तबतक न्याय करने में समर्थ न हो सकेंगे, जबतक आप हिंसा को अपने हृदय में स्थान देते रहेंगे। जबतक आपमें हिंसा-भाव होगा तबतक आपकी वृत्ति अवश्य स्वार्थ की ओर अधिक झुकेगी और दूसरे का सुख, स्वार्थ, हित आपके हृदय में सुरक्षित न रह सकेगा। यदि आप सच्ची समता, साम्य-भाव चाहते हैं तो आपको शत्रु-मित्र के प्रति एक-सी न्याय-भावना रखनी होगी। जब तक शत्रु के प्रति मन में द्वेष है, तब तक उसे कष्ट पहुँचाने की भावना बनी ही रहेगी। और जब तक द्वेष है तब तक समता और न्याय की सम्भावना कैसे रहेगी?

सत्याग्रही सत्य और न्याय के लिए लड़ता है। वह दिन-दिन प्रबल इसीलिए होता चला जाता है कि वह शत्रु-मित्र सबके साथ न्याय करना चाहता है—न्याय से ही रहना चाहता है। वह शत्रु को मिटाना नहीं, सुधारना चाहता है। इसलिए शत्रु भी उसकी बड़ाई को मानता है। सत्याग्रही अपने शरीरबल के द्वारा नहीं; बल्कि आत्मिक गुणों और बलों के द्वारा शत्रु को प्रभावित करना चाहता है। वह अपने शत्रु के हृदय पर विजय प्राप्त करना चाहता है। शारीरिक विजय की परिणति प्रति-हिंसा में होती रहती है—जहां कि हार्दिक विजय की परिणति मैत्री में होती है। बल्कि सत्याग्रह मे हार-जीत किसी एक पक्ष की नहीं होती—दोनों की विजय होती है—सत्याग्रही की उसके प्रतिपक्षी पर और प्रतिपक्षी की अपनी बुराइयों पर। इस तरह सत्य और अहिंसा अर्थात् सत्याग्रह उभय-कल्याणकारी है।

५ : सत्याग्रह और आध्यात्मिकता

कितने ही स्थूल-बुद्धि लोग 'आध्यात्मिक' शब्द सुनते ही बिगड़ उठते हैं। जब यह कहा जाता है कि सत्याग्रह एक आध्यात्मिक बल है, तब उनकी बुद्धि चक्कर खाने लगती है। वे महात्माजी को यह कहकर कोसने लगते हैं कि इन्होंने राजनीति में धार्मिकता और आध्यात्मिकता घुसेड़कर देश को पीछे हटा दिया है। अतएव इस बात की परम आवश्य-कता है कि हम आध्यात्मिक शब्द का मर्म समझने का यत्न करें।

हर वस्तु के दो रूप होते हैं—एक सूक्ष्म और मूल तथा दूसरा स्थूल और विस्तृत। वस्तु के सूक्ष्म और मूल रूप को आध्यात्मिक एवं स्थूल तथा विस्तृत रूप को व्यावहारिक कहते हैं। पहला अदृश्य और दूसरा

दृश्य होता है। पहला बीज और दूसरा पेड़ है। इतना समझ लेने पर महात्माजी की धार्मिकता और आध्यात्मिकता का व्यावहारिक—राजनैतिक भाषा में अर्थ किया जाय तो, वह ईमानदारी, दयानतदारी, वफादारी, सच्चाई, यही हो सकता है। महात्माजी कहते हैं कि सत्याग्रह का पूरा चमत्कार देखना हो, तो उसे ठीक उसी तरह चलाओ, जिस तरह मैं बताता हूँ। क्या उनका यह कहना अनुचित है? उन्होंने बार-बार कहा है कि सत्याग्रह को बल मिलता है मनुष्य की अपनी सच्चाई से। क्या अपने तईं सच्चा होना एक मनुष्य और स्वतंत्रता के सिपाही के लिए लाजिमी नहीं है? सच्चाई के मानी भी आखिर क्या हैं? तन, मन और वचन की एकता। यह एकता तो किसी भी कार्य की सफलता के लिए अनिवार्य है, फिर ३५ करोड़ को आजाद बनाने के यत्न में सफलता पाने के लिए इसकी उपेक्षा हम कैसे कर सकते हैं?

सत्याग्रह प्रेम का अस्त्र है; यदि हम शत्रु से वैसा ही प्रेम कर सकें, जैसा कि हम अपने भाई से करते हैं, तो हम अकेले भी उसे जीतने के लिए काफी हैं। परन्तु जो इतने ऊँचे न उठ सकें, वे यदि बदले की भावना भी निकाल दें, तो सत्याग्रह के बल का अनुभव अपने अन्दर कर सकते हैं; और शत्रु भी उसे अनुभव किये बिना न रहेगा। यदि शत्रु का हृदय स्वार्थ से इतना गन्दा और अन्धा हो गया है कि हमारा प्रेमास्त्र सीधे उसके हृदय को नहीं जगा सका, तो हमारे और उसके मित्रों और हम-दर्दों पर उसका असर इतना जरूर पड़ेगा कि उसकी संयुक्त शक्ति उसके हृदय को जगने पर मजबूर कर देगी। सत्याग्रह तो अमोघ और पावक बल है। ऐसा बल है कि वह उस शस्त्र के बांधने वाले को भी मनुष्यत्व में ऊंचा उठाता है और उसे भी ऊंचा उठने के लिए मजबूर करता है जिसपर वह चलाया जाता है। दोनों का फल होता है आस[illegible]और पर समाज में मनुष्यता की वृद्धि। इस प्रकार सत्याग्रह की लड़ाई हमें पशु की भूमिका से उठाकर मनुष्य की भूमिका में ले जाती है।

यदि राजनैतिक आन्दोलन या युद्ध का अर्थ यह किया जाय कि उसका आधार तो प्रतिहिंसा ही है, शत्रु के प्रति घृणा और बदले की भावना ही वह बल है जिससे एक देशभक्त को बलिदान की प्रेरणा मिलती है, तब तो देशभक्ति, राष्ट्रीयता, राष्ट्र-प्रेम नाम की कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं रह जाती है। और यदि इसीका नाम देश-भक्ति या राष्ट्र-सेवा है, तो कहना होगा कि हमने मनुष्यता को पशुता के समकक्ष कर

दिया है। प्रतिहिंसा पशु का धर्म है, मनुष्य में वह पशुता के अविशिष्ट को सूचित करती है। मनुष्य के विकास की गति पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर है और मानवी गुणों का समुचित विकास किये बिना हम न तो ऐसी राज्य-व्यवस्था और न समाज-व्यवस्था कायम कर सकेंगे, जिसमें बहुजन-समाज का अधिकांश हित सिद्ध हो सके। यदि घृणा, प्रतिहिंसा, बदला इन भावनाओं की बुनियाद पर हम राज्य-व्यवस्था बनायेंगे तो समाज में इन्हींकी स्पर्धा मुख्य होगी और समाज के सूत्र उन्हींके हाथों मे रहेंगे, जो इन बलों में बढ़-चढ़ कर हों। क्या उनसे हम जनता के स्वराज्य की आशा रख सकते हैं? वर्तमान प्रजा-सत्ताओं में यद्यपि स्वतंत्र-देशभक्ति जैसी चीज भी है, तथापि मानना होगा कि उनके राष्ट्र-धर्म का आधार परस्पर का भय अर्थात हिंसा प्रति-हिंसा का बल है। किन्तु यदि हमें उसीका अनुकरण करना होगा, तो कहना होगा कि हम पश्चिमी राष्ट्रों के वर्तमान आन्दोलनों से, स्थान-स्थान पर फूटती हुई क्रान्ति-धाराओं से, कोई शिक्षा लेना नहीं चाहते।

यदि राष्ट्र-धर्म, स्वातंत्र्य-प्रेम, स्वतंत्र वस्तु है, हम अपने राष्ट्र और स्वातंत्र्य के लिए सब कुछ स्वाहा कर दे सकते है, तो उसीकी साधना के लिए क्या हम अपने कुछ दोषों, कुछ भावनाओं को त्याग या बदल नहीं सकते? मान लीजिए कि हमारे सामने प्रतिहिंसा का मार्ग बन्द हो—फिर वह हमको चाहे कितना ही प्रिय हो और हमारी दृष्टि में कितना ही फलोत्पादक हो—और शत्रु से प्रेम किये बिना, अथवा बदले का भाव हटाये बिना, हम उसपर हावी न हो सकते हों, तो क्या हमारे राष्ट्र-धर्म और स्वातंत्र्य-प्रेम का यह तकाजा नहीं है कि हम इतना-सा त्याग उसके लिए कर दें? यदि हम इतना भी नहीं कर सकते, जो कि हमारे जीवन का एक अंश-मात्र है, और सो भी अवांछनीय अंश है, तो कैसे माना जा सकता है कि हम अपने-आपको उसके लिए सच्चे अर्थ में मिटा दे सकते हैं? यह कितने आश्चर्य की बात है कि देश-हित के लिए हम नीच कर्म तक करनेवाले की तो सराहना करें, किन्तु यदि हमसे उच्च कर्म करने के लिए कहा जाय, उच्च भावनाओं का पोषण करने के लिए कहा जाय, तो हम कहें—'हम देवता नहीं हैं, हमसे तो असम्भव शर्तें करायी जाती हैं!' यदि हम देवता नही हैं, तो मैं चाहता हूँ कि, हम पशु भी न रहें। हम पशुता से मनुष्यता की ओर जा रहे हैं और देवता बनना पशु बनने से तो हरगिज बुरा नहीं है।

राजनीति क्या मनुष्य के समग्र जीवन और समाज के व्यापक जीवन से कोई भिन्न या बाहर की वस्तु है ? यदि नहीं, तो उसे मानव और समाज-जीवन से मिलकर ही रहना पड़ेगा और उसकी पुष्टि ही उसे करनी पड़ेगी। यह कितनी अदूरदर्शिता है कि हम समस्त और सम्पूर्ण मानव-जीवन को भुलाकर राजनीति का विचार करें और फिर उन लोगों को बुरा कहें, जो एक अंश पर नहीं बल्कि संपूर्णता पर विचार किये हुए हैं और अंश को अंश के बराबर एवं पूर्ण को पूर्ण के बराबर महत्व देते है ।

सत्याग्रह के प्रयोगों के कुछ फल तो हमने देख लियें हैं। हमारी अधीरता यदि सत्याग्रह की पूरी कीमत चुकाने के लिए तैयार नहीं है, और जिस 'राजनीति' के हम हिमायती बन रहे है, उसमें से यदि ईमानदारी, सच्चाई, वफादारी, दयानतदारी, निकाल दी जाय, तो वह आजादी का परवाना बनने के बजाय गले की फांसी सिद्ध होगी, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

६ सत्याग्रही के नियम

सत्याग्रहियों में दो प्रकार की वृत्ति के लोग पाये जाते है—एक तो वे जिनका यह ख्याल है कि अधिकाधिक तादाद में जेलों में पहुँच कर अधिकारियों को घबरा दें और चारों तरफ से ऐसी परेशानी पैदा कर दें कि जिससे तंग आकर वे झुक जांय। दूसरे इस प्रवृत्ति के लोग होते है, जो चाहते हैं कि हमारे कष्ट-सहन, त्याग और तपश्चर्या का परिणाम हमारे विरोधी के हृदय पर हो, उसकी मनुष्यता और सात्त्विकता जागृत हो। कहना यह होगा कि इस दूसरी तरह के सत्याग्रही देश में बहुत थोड़े है। उचित है कि इस कोटि के सत्याग्रहियों की संख्या देश में बढ़े, क्योंकि यही शुद्ध सत्याग्रही की वृत्ति है। सत्याग्रही की अहिंसावृत्ति की यही कसौटी है। इस कोटि के थोड़े भी सत्याग्रही हों तो पहली कोटि के अधिक सत्याग्रहियों की अपेक्षा ज्यादा उपयोगी और कारगर साबित होंगे। बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि पहली कोटि का सत्याग्रह वास्तविक सत्याग्रह नहीं है। जिसमें प्रतिपक्षी को जरा भी दबाने, डराने और परेशान करने की भावना हो, वह अहिंसा नहीं है। और इस भावना से किया गया सत्याग्रह वास्तविक सत्याग्रह नहीं है, यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। इसमें

जो बल सत्याग्रही लगाता है वह वास्तव में एक प्रकार का हिंसा-बल है, भले ही वह हाथों से मारपीट और मुंह से गाली-गलौज न करता हो।

यदि हमारा अवलोकन हमें इस नतीजे पर ले जाता है कि हमारे सत्याग्रह के फलस्वरूप विरोधियों की मनुष्यता और सात्त्विकता प्रकट होने या बढ़ने के बजाय उनमें क्रूरता और कटुता बढ़ी है, तो हम यह निचोड़ निकाल सकते हैं कि सत्याग्रहियों के गुण और वृत्ति में और भी संशोधन की जरूरत है। जब तक हमें यह अनुभव होता हो कि हमारे सत्याग्रह से हमारा विरोधी मित्र बनने के बजाय उलटा अधिक शत्रु बनता है, तब तक यही मानना चाहिए कि हमारे सत्याग्रह में अर्थात् हमारे अहिंसा और प्रेमभाव में कहीं कोई दोष है और अभी खुद हमें प्रेम की आंच में तपने की जरूरत है।

यों तो एक सत्याग्रही का मूलधन उसके अन्तःकरण की अहिंसा-वृत्ति और सत्य पर ही सदा-सर्वदा डटे रहने की दृढ़ता है; और उसका कोई नाप किसी महज बाहरी कसौटी से निकालना या महज [illegible] नियम उपनियम से उसका नियमन करना कष्टसाध्य है, परन्तु फिर भी जो व्यक्ति सत्याग्रह के पथ पर चलना चाहता है, उसके लिए कई नियम पथ-दर्शन का काम दे सकते हैं और उसकी प्रगति में बहुत सहायक हो सकते हैं। महात्माजी ने सात नियम या कसौटियां बनाई हैं, जिससे सत्याग्रही अपनी वृत्ति और प्रगति की जांच कर सकता है।

(१) सत्याग्रही की ईश्वर में सजीव श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि ईश्वर ही उसकी आधार-शिला है।

(२) वह सत्य और अहिंसा को अपना धर्म मानता हो और इसलिए उसे मनुष्य-स्वभाव की सुप्त सात्त्विकता में विश्वास होना चाहिए। अपनी तपश्चर्या के रूप में प्रदर्शित सत्य और प्रेम के द्वारा वह विरोधी की इस सात्त्विकता को जाग्रत करना चाहता है।

(३) वह चरित्रवान हो और अपने लक्ष्य के लिए जान व माल कुर्बान करने के लिए तैयार हो।

(४) वह आदतन खादीधारी हो और कातता हो।

(५) वह निर्व्यसनी हो, जिससे कि उसका मन और बुद्धि स्वच्छ हो।

(६) अनुशासन और नियमों को मानने के लिए तत्पर हो।

(७) जेल के नियमों को, जो निश्चितरूप से आत्म-सम्मान के विरुद्ध न हों, मानता हो।

इन्हें पढ़कर किसी को यह चिन्ता और डर न होना चाहिए कि इनका पालन असम्भव है। उसके मनमें, जिसने अपने जीवन को दिन पर दिन अच्छा और उन्नत बनाने का संकल्प कर लिया है, ऐसी निराशा या कमजोरी के भाव पैदा न होने चाहिए। जो सच्ची लगन से जितना ही प्रयत्न करता है उसका मधुर फल उसको अवश्य ही मिलता है। महात्माजी भी तो आखिर अपने अन्तिम प्रयत्न और अटूट लगन से ही महात्मा बने हैं न। हमारा काम तो इतना ही है कि हम सच्चे मन से प्रयत्न करें। ईश्वर अवश्य हमे सिद्धि प्राप्त करायेगा।

७ : सत्याग्रह-व्यक्तिगत और सामूहिक

बहुतेरे लोग समझते हैं कि व्यक्तिगत और सामूहिक सत्याग्रह में केवल मात्रा का ही भेद है—दिये अलग-अलग जलते हैं, तब तक व्यक्तिगत है और हजारों दिये एक साथ जलने लग गये तो वही सामूहिक हो गया। पर केवल इतना ही समझ लेना काफी नहीं है। व्यक्तिगत सत्याग्रह जहां गुण पर विशेष ध्यान देता है वहां सामूहिक में संख्याबल प्रधान है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उसमे गुण-बल वांच्छनीय नहीं है। उसका तो अर्थ सिर्फ इतना ही है कि कुछ व्यक्तियों मे जिस गुण-बल की आशा रक्खी जा सकती है, वह सामूहिक में सहसा संभवनीय नहीं है। व्यक्तिगत सत्याग्रह की विशेषता या प्रभावोत्पादकता उसकी शुद्धता और उज्ज्वलता में ही है, जहां कि सामूहिक की संख्याबल में। निःसन्देह दोनों के प्रभाव में भी अन्तर होगा। व्यक्तिगत सत्याग्रह, शुद्ध—उज्ज्वल होने के कारण, सात्विक और निर्मल स्फूर्ति हृदय में पैदा करेगा; जिसके प्रति वह किया गया है, उसमें भी, तथा आसपास के वायुमण्डल में भी वह शुद्ध प्रेरणा औरपथ-दर्शन का काम देगा; किन्तु सामूहिक अपने संख्याबल से आपके काम को ही बन्द कर देगा, आपकी गति को ही, आपके यन्त्र या तन्त्र को ही रोक देगा। व्यक्तिगत सत्याग्रह का प्रभाव सीधा मनुष्य के हृदय पर पड़ेगा, वह उच्च भावनाओं और उच्च विचारों के क्षेत्र में विचरने लगेगा, और उच्च मनोवृत्ति से अपना निर्णय करेगा। इससे भिन्न, सामूहिक सत्याग्रह मुकाबले वाले के सामने अपने हानि-लाभ का चित्र खड़ा कर देगा, उसके मन में यह तुलना होने लगेगी कि इसकी मांग को पूरा कर देने में भलाई है, या अपनी बात पर डटे रहने में। यदि सामूहिक सत्याग्रह काफी जोरदार है, तो उसे निर्णय कर लेना होगा कि

आपकी मांग पूरी कर दे। व्यक्तिगत सत्याग्रह अपनी निर्मल, उज्ज्वल निर्धूम ज्योति से वायुमण्डल को प्रदीप्त करता है, व सामूहिक की एकत्र आग चारों ओर अपनी लपटें फैलाती हुई एक प्रचण्ड ज्वाला निर्माण करती है, जिसमे बडे-बडे भयंकर और विषैले जन्तु भी स्वाहा हो जाते हैं और सारा वायुमण्डल तपने लगता है। यदि समाज सुसंस्कृत है तो व्यक्तिगत सत्याग्रह काफी और शीघ्र परिणामदायी हो सकता है; किन्तु यदि समाज हानि-लाभ की ही भाषा समझता और बोलता है, तो सामूहिक सत्याग्रह ही वहां अधिक और जल्दी परिणाम ला सकता है। सामूहिक सत्याग्रह में क्रान्तिकारिणी शक्ति है। किन्तु यह न मान लेना चाहिए कि सामूहिक सत्याग्रह के संचालकों से भी वही गुण-बल न चाहा जाता हो, जो व्यक्तिगत सत्याग्रह से चाहा जाता है। जब तक व्यक्तिगत सत्याग्रह की परीक्षा में उत्तीर्ण संयोजक या संचालक न हो तब तक सामूहिक सत्याग्रह चलाया ही नहीं जा सकता।

सत्याग्रह-युद्ध एक पूर्ण युद्ध-कला है, और वह विधि-वत् ही होना चाहिए। उसका पूरा शास्त्र अभी बन नहीं पाया है, और न बन ही सकेगा। क्योंकि सत्य नित्य नवीन विकास पानेवाली वस्तु है, इसलिए सत्याग्रह का शास्त्र कभी पूर्ण नहीं होगा, वह भी नित्य नया विकास पावेगा। फिर भी उसके स्थूल नियम और कसौटियां तो स्थिर होती जायँगी, जैसे-जैसे भिन्न-भिन्न प्रयोगों के फलाफल पर विचार होकर निर्णय बँधते जायँगे। मनुष्य की अपनी अपूर्णता भी सत्याग्रह-शास्त्र को पूर्ण न होने देगी। और इसमें कुछ हानि का भी डर न रखना चाहिए। सत्याग्रह में सत्य की शोध तो जारी रहती ही है अर्थात् एक परिणाम के अनुभव के आधार पर दूसरा प्रयोग किया और उसके परिणाम पर तीसरा। इसी तरह जब तक एक वैज्ञानिक की तरह सत्याग्रही की सत्यशोधक-वृत्ति जागृत और उद्यत है तब तक हानि का कोई डर नहीं है। क्योंकि सत्याग्रह का मूल बल आन्तरिक वृत्ति पर जितना अवलम्बित है उतना बाहरी नियमोपनियम पर नहीं।

८ : सत्याग्रह—वैध या अवैध

यद्यपि केवल भारतवर्ष ही नहीं सारा जगत पिछले २० वर्षों से सत्याग्रह के व्यक्तिगत और सामूहिक प्रयोगों से परिचित है फिर भी हमारे देश में तथा बाहर भी एक ऐसा समुदाय है जो सत्याग्रह को

'अवैध' मानता है। इसलिए यहां हम इस विषय पर भी विचार कर लेना चाहते हैं।

सविनय कानून-भंग सत्याग्रह का एक राजनैतिक स्वरूप है और इसीपर आपत्ति उठाई जाती है। वे कहते हैं कि राज-नियमों के भंग करने का किसीको अधिकार नहीं है। राज-नियम यानी कानून आखिर तो प्रजा के प्रतिनिधियों के ही द्वारा, प्रजा के भले के लिए ही, बनाये जाते हैं। फिर उनको भंग करने वाला प्रजा-द्रोही, प्रजा का मान भंग करने वाला, समाज की व्यवस्था को तोड़ने वाला क्यों न माना जाय ? और ऐसे प्रजा-द्रोह को यदि वैध माना जाय तब तो व्यवस्था, शांति, प्रजा-हित सबका खातमा ही समझना चाहिए। सरकार के लिए यह एक जटिल समस्या हो जायगी। यही एक ऐसा बड़ा काम हो जायगा कि उसको सुलझाने और उसका मुकाबला करने मे ही उसकी सारी या अधिकांश शक्ति लगती रहेगी एवं दूसरे जन-हितकारी कामो के लिए उसे अवकाश ही नहीं रहेगा। अतएव कानून-भंग का अधिकार किसी को देना सरकार और समाज का नाश करना है।

सत्याग्रह या सविनय कानून-भंग के हिमायती कहते हैं कि कानून प्रायः बहुमत से पास होते है और उस अंश मे अल्प-मत पर उनका प्रयोग उनकी इच्छा के विरुद्ध होता है, अतएव यदि वे नियम या कानून या उनके किसी अंश को न मानें तो उनका यह व्यवहार सर्वथा नीतियुक्त है। फिर यदि नियम या कानून ऐसा हो जो उनकी समझ में प्रजा के वास्तविक नहीं, बल्कि झूठे प्रतिनिधियों द्वारा बनाये गये हों, जिनसे सरेदस्त प्रजा का पोषण नहीं, शोषण होता हो, तो उनका तोड़ा जाना, उनके खिलाफ बगावत खड़ी करना, धर्म और पुण्य कार्य है, उनके आगे सिर झुकाना अधर्म और पाप है। यदि ऐसे नियमों के विरोध और भंग करने का अधिकार प्रजा और उसके प्रतिनिधियो को न रहे तो अनर्थ होगा। अन्याय और अत्याचार का ठिकाना न रहेगा। मुट्ठी-भर लोग धन-बल या प्रभाव-बल से प्रजा के प्रतिनिधियों के आसन पर बैठ कर, प्रजा के हित के नाम पर, प्रजा को चूसते रहेंगे और मनमानी करते रहेंगे। क्या इसीका नाम व्यवस्था और सरकार है ? ऐसी सरकार के विरोध करने का अधिकार प्रजा के पास न रहने से ही एक और सशस्त्र बगावत और क्रांतियां होती हैं, एवं प्रजा शासकों के अत्याचार से त्राहि-त्राहि करती है। भारत को छोड़ दीजिए, जहां कि विदेशी

शासन है; किन्तु उन देशो को ही लीजिए जहाँ कि स्वदेशी शासन है। वहां भी यह पुकार जोरो से मच रही है कि थोड़े से प्रभावशाली और बलशाली व्यक्ति मनमाने तौर पर प्रजा की बागडोर घुमाते हैं, थोड़े लोगों के, धनी, रईस, जमींदारों के, हितों की ही विशेष परवा करते हैं, और जन-साधारण, किसान-मजदूरों की पूछ और सुनवाई नहीं होती। यदि सरकार समाज की बनाई हुई होती है, और यदि समाज में जन-साधारण किसान-मजदूरों की ही संख्या अधिक है, तो फिर कानून ऐसे ही बनने चाहिए जिनसे जनता का भला हो। ऐसे ही कानून नीतियुक्त हो सकते हैं। किन्तु यदि इसके विपरीत होता हो तो ऐसे कानून का बल नैतिक नहीं रह जाता और इसलिए उन्हें तोड़ना किसी प्रकार अपराध या प्रजाद्रोह नहीं हो सकता।

दोनों प्रकार की दलीलें सुनने के बाद हम स्पष्टतः इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि केवल अक्षरार्थ करने से पहले पक्ष की बात भले ही एक हद तक ठीक प्रतीत होती हो, किन्तु यदि मूलाधार पर ध्यान रक्खा जाय तो दूसरे पक्ष का ही कथन यथार्थ है। शरीर की अपेक्षा आत्मा का महत्व सदा से ही अधिक रहा है, रहना चाहिए और रहेगा। कानून शरीर है, जन-हित आत्मा है। यदि कानून जन-हित का विरोधी हो तो उसका भंग करना सबसे बड़ा जन-हित है। और जिनपर समाज या शासन-व्यवस्था का भार हो उन्हें उचित है कि वे कानून भंग करने वालों की बातों को प्रेम और गौर से सुनें और उनका समाधान करने का यत्न करें, न कि सत्ता-बल से उन्हें दबावें या कुचलें। प्रजा-हित का जितना दावा शासक करते हैं, कम-से-कम उतना ही दावा वे कानून भंग करने वालों का मान लेंगे, तो फिर उन्हें उनके दमन करने का प्रयोजन ही न रह जायगा। यदि कानून भंग करने वालों की एक बड़ी जमात बन गई तब तो शासकों के लिए, यदि वे सच्चे अर्थ में शासक हैं, तो और भी उचित है कि उनकी मांगों पर गौर करें और उनकी पूर्ति करें। जो शासक ऐसा नहीं कर सकते हैं, समझना चाहिए कि उनकी व्यवस्था का नैतिक आधार खिसक गया है और वह अधिक समय तक नहीं टिक सकेगी।

९ : सत्य-भंग के कुछ उदाहरण

हमारे आचरण में सत्य-भंग के कुछ ऐसे उदाहरण देखे जाते हैं जिनका विवेचन सत्य-साधकों के लिए उपयोगी होगा। एक मित्र ने एक बार हलकी-सी आपत्ति की—'सत्य-जीवन से हरिजन-सेवा का क्या संबंध?' यह आपत्ति सूचित करती है कि हमने सत्य को अपने सेवा-चेष्टाओं से कितनी दूर मान रखा है। इसलिए और भी आवश्यक है कि हम सत्य के भिन्न-भिन्न पहलुओं और सत्य-साधना में प्राप्त अनुभवों की चर्चा कर लिया करें।

फर्ज कीजिए मुझे सत्यनारायण से काम लेना है। मेरे काम का एक स्वरूप ऐसा है जिससे सत्यनारायण का भी लाभ है, या जिसमें उसकी रुचि है। मैं उसका वही रूप सत्यनारायण के सामने रखता हूँ, और यह जताने की कोशिश करता हूं कि यह सत्यनारायण ही के लाभ में है। उसमें मेरा जो स्वतंत्र लाभ या हित है वह मैं उसके सामने नहीं रखता। इसमें मैं यह व्यावहारिक लाभ (?) देखता हूँ कि ऐसा करने से सत्यनारायण का एहसान मुझपर न रहेगा; उलटा वह मेरा एहसानमन्द रहेगा। मेरी बुद्धि में यह सत्य का भंग है। क्योंकि मैंने अपना असली आशय उससे छिपाकर उसे यह समझने का अवसर दिया कि मैं उसपर उपकार कर रहा हूँ। स्वयं उपकृत होने के बदले में उसे उपकृत की श्रेणी में रख देता हूं।

अब यह विचार करें कि भला मुझे ऐसा करने की प्रवृत्ति ही क्यों हुई? या तो मैं उसके उपकार का बदला चुकाने में कंजूसी करना चाहता हूँ, या उसपर उपकार लादकर किसी समय उसे दबाने की इच्छा रखता हूँ। ये दोनों वृत्तियां सत्य की आराधना से दूर हैं। यदि ऐसा कोई अशुभ भाव मेरे मन में नहीं है, तो फिर मुझे ऐसा द्राविडी प्राणायाम करने की जरूरत ही क्या है? सीधी बात ही क्यों न कह दूं, "भाई, मेरा यह काम है, तुम्हारी सहायता की जरूरत है। करदोगे तो एहसानमन्द होऊंगा।' और एहसान चुकाने की तत्परता भी रखनी चाहिए। सम्भव है, ऐसा करने से लोग मुझे 'व्यावहारिक' या 'व्यवहार-कुशल' न कहें; पर मैं सत्य का अनुगामी अवश्य कहलाऊंगा।

मुझे एक मित्र ने निमंत्रण दिया कि तुम हमारे काम में शामिल हो जाओ। मेरी इच्छा नहीं है कि मैं उसमें शामिल होऊं, या वह काम

बनने पावे। मैंने एक ऐसे मित्र का नाम ले दिया कि इन्हें भी शरीक करना चाहिए, जिससे दूसरे लोग पसोपेश में पड़ जाते हैं, या उन्हें ले लें तो दूसरों से उनका झगड़ा हो जाता है। यह सत्य का भंग है। यदि मैं समझता हूँ कि मुझे उस काम में शामिल न होना चाहिए, या उस काम का होना उचित और लाभप्रद नहीं है तो मुझे स्पष्ट इन्कार कर देना चाहिए और दूसरे मित्रों के नाराज होने की जोखिम उठा लेनी चाहिए। अपनी बला दूसरेके सिर डालना कायरता ही है; और जो कायर है वह सत्य-साधक नहीं बन सकता। सत्य की साधना में महान् साहस और पुरुषार्थ की आवश्यकता रहती है। जो बड़ी-बड़ी जोखिमें उठा सकता है वही सत्य की राह पर चल सकता है।

मैं चाहता हूँ कि आपके साथ काम करूँ, या आपकी संस्था का सदस्य बनूं; किन्तु मै कोशिश यह करता हूँ कि आप मुझसे कहें, मै आपसे कहना नहीं पसन्द करता, तो यह भी सत्य का भंग है। इसमें मैं अपने-आपको अनुचित रूप से बड़ा समझने का या आपके एहसान से बचने का प्रयत्न करता हूँ। दोनों वृत्तियां सत्य की उपासना के अनुकूल नहीं हैं।

मै देखता हूँ कि आप मेरे या दूसरे के साथ अन्याय करते हैं, मुझे या दूसरे को अनुचित रूप से दबाते हैं; परन्तु मैं न तो आपसे कहता हूँ कि आपका यह कार्य अनुचित है, न सामनेवाले से ही कहता हूँ कि तुम्हें यह अन्याय सहन न करना चाहिए; और खामोश बना रहता हूँ, तो यह भी सत्य का भंग है। भयभीत होकर चुप रहना एक बात है और क्षमाशील बनकर चुप रहना दूसरी बात है। जो डर से दब गया है वह खुशामद करने लग जायगा; और जो क्षमाशील है वह समय पड़ने पर उसे फटकारने और शर्मिन्दा करने में भी कसर न रक्खेगा।

आपकी बात मुझे बुरी लगी है, मैं आपसे नाराज होगया हूँ, फिर भी ऐसा दिखाता हूँ मानो कुछ हुआ ही नहीं है। यह भी सत्य-भंग है। कई जगह स्त्रियों को तो उलटी यह शिक्षा दी जाती है कि मन का भाव अन्यथा बताया जाय। कई बार हमारी इच्छा नहीं होती कि यह मनुष्य यहां रहे या ठहरे; किन्तु उससे रहने और ठहरने का बहुत आग्रह करते हैं। यह भी सत्य के विपरीत है। इससे जीवन सरल बनने के बजाय जटिल बनता है। अपने आपको ज्यों-का-त्यों प्रकाशित करने की वृत्ति रखना सत्याभिमुख होना है; और अपने-आपको छिपाने की या अन्यथा

दिखाने की कोशिश करना सत्य-विमुख होना है। एक मित्र ने कहा कि किसी चीज को छिपाना और उसको खानगी मानना दो चीजें हैं। मेरी समझ से यह शब्दच्छल है। छिपाने के तो मानी ही है दूसरे को अन्धकार में रखना। प्रकाश और अन्धकार का बैर है। सत्य महा प्रकाश है। 'खानगी' वही चीज हो सकती है, जिसका दूसरे से ताल्लुक नहीं, जिसपर दूसरे का अधिकार नहीं। यदि आप ऐसा काम कर रहे है जिसका मुझपर असर पड़नेवाला है, और आप उसे 'खानगी' कहकर छिपा लें तो वह सत्य का भंग ही समझना चाहिए।

१० : उपवास और भूख-हड़ताल

सविनय कानून-भंग की तरह सत्याग्रह के दो और अंश हैं—उपवास और भूखहड़ताल। आत्मशुद्धि और प्रायश्चित्त की भावना से जो अनशन किया जाता है उसे उपवास और दूसरे से अपनी न्यायोचित मांग को पूरा कराने के उद्देश से जो अनशन किया जाता है उसे भूख-हड़ताल कहते हैं। भारतवासियो के धार्मिक जीवन में यद्यपि उपवास कोई नई वस्तु नहीं है, परन्तु फिर भी गांधीजी जिस तरह और जिस स्वरूप मे उसे देश के सामने रख रहे हैं वह प्रत्येक हिन्दू ही नहीं, भारतवासी के मनन करने योग्य है। गांधीजी ने अपने जीवन में कई बार उपवास किये है। उसपर इधर-उधर आपस मे और सार्वजनिक-रूप से टीका-टिप्पणियां तो बहुत हुईं, परन्तु हमने इन उपवासों के महत्व और रहस्य को समझने का, जितना कि चाहिए, यत्न नहीं किया। यह उदासीनता या उपेक्षा हमारी निर्बलता और निर्जीवता की सूचक है। जीवित मनुष्य वह है जो नये विचार, नये प्रकाश और नवीन धारा के लिए अपना जीवन-द्वार खुला रखता है। विवेक से काम लेना एक बात है और दरवाजा बन्द कर रखना या आगन्तुक की उपेक्षा करना दूसरी बात है। उपेक्षा से विरोध हजार दर्जे अच्छा। विरोध में जीवन होता है। विरोध से जीवन खिलता है। उपेक्षा और उदासीनता मनुष्य और समाज को अंत मे निर्बल, भीरु और निस्सत्व बनाकर छोड़ते है।

उपवास के दो स्वरूप हैं—एक आध्यात्मिक, अर्थात् जिसका प्रधान असर कर्त्ता पर होता है और दूसरा व्यावहारिक, जिसका प्रधान असर दूसरों पर होता है। विवाद आध्यात्मिक उपवास के संबन्ध में इतना नहीं खड़ा होता जितना व्यावहारिक के सम्बन्ध में। आत्मशुद्धि के लिए

उपवास की योग्यता को प्रायः सब स्वीकार करते हैं, किन्तु दूसरों को सुधारने या दूसरो से अपनी मांग पूरी कराने के लिए किये गये उपवास अर्थात भूख-हड़ताल को लोग या तो बलात्कार कहते हैं या कायरता। मुंहफिरापन कहकर लोग उसका मखौल भी उड़ाते हैं। परन्तु यदि गम्भीरता से वे इस पर सोचने लगें तो तुरन्त जान जायंगे कि जो मनुष्य किसी उच्च और न्याययुक्त उद्देश के लिए रोज थोड़ा-थोड़ा घुल घुलकर अपने प्राण का बलिदान करे वह कायर कैसे कहा जा सकता है? उसी प्रकार जो दूसरे को किसी प्रकार का कष्ट न देकर स्वयं मरणान्त कष्ट उठा लेता है वह अत्याचारी कैसे कहा जा सकता है? यदि मै आपके लिए उपवास करता हूँ तो मैं आपके हृदय को स्पर्श करता हूँ। आपका दिल तुरन्त आपके दिमाग को जाग्रत करता है और आप सोचने लगते है कि यह उपवास जा है या बेजा? इसमे मेरी जिम्मेदारी कहां तक है? वह किसी एक नतीजे पर पहुँचेगा, या तो उपवास-कर्त्ता गलती पर है, या खुद उसका ख्याल गलत है। यदि उपवास-कर्त्ता उसकी समझ से गलती पर है तो उसमें यह हिम्मत आवेगी कि वह उसके बलिदान को सहन करे। यदि उसका खयाल गलत है तो उसे उसके सुधारने की प्रेरणा होगी और बल मिलेगा। दोनों दशाओं में वह किसी एक निर्णय पर पहुँचेगा और वह उसका अपना निर्णय होगा। इस सारी विधि में, बतलाइए, बलात्कार कहां है?

फिर जिस मनुष्य ने हिंसक साधनों का परित्याग कर दिया है, उसके पास अपने कार्य-साधन के लिए कोई अन्तिम बल भी तो होना चाहिए न। हिंसा में यदि अन्तिम बल दूसरों को मार डालना है, तो अहिंसा में अन्तिम बल अपने आपको मिटा देना है। सो उपवास करते-करते अन्त में प्राणतक दे देना अर्थात प्रायोपवेशन करना अहिंसक का ब्रह्मास्त्र है। हां, बेशक उसके लिए बहुत योग्यता और सावधानी की जरूरत है। परन्तु यदि किसीने गलत बात पर और बिना प्रसंग के ऐसे ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर दिया तो घाटे में खुद वही अधिक रहेगा और अपनी साख एवं प्रतिष्ठा खो बैठेगा। किन्तु कई बार प्रयोग के दोष को हम सिद्धांत का दोष मान लेते हैं। उसमें दबाव की कल्पना कर लेते हैं। यह भूल है। यहां इसे जरा विस्तार से समझ लें।

यदि भूख-हड़ताल का 'इशु' (प्रयोजन) गलत नहीं है, तो फिर भूख-हड़ताल मूलतः दूसरे पर दबाव डालने वाली नहीं है। अपनी किसी

न्यायपूर्ण मांग को पूरा करवाने के लिए जब भूख-हड़ताल की जाती है, तब हम ऊपर कह चुके हैं कि हड़ताली जबरदस्ती नहीं करता है। वह सिर्फ प्रतिपक्षी के हृदय को स्पर्श करके मस्तिष्क को जाग्रत करता है। मस्तिष्क सोचने लगता है कि हड़ताली की मांग पूरी की जाय या नहीं। इसके लिए उसे मांग के औचित्य पर विचार करना पड़ता है; अपने हानि व लाभ उसके सामने खड़े होने लगते हैं। फिर वह दो में से एक बात को चुन लेता है। यह हो सकता है कि कहीं तो वह अपने लाभ को महत्व दे, कहीं नहीं। किन्तु जो-कुछ वह निर्णय करता है वह खूब विचार-मन्थन के बाद करता है। जहाँ इतनी मानसिक क्रियायें होती हों, वहां दबाव की कल्पना कैसे की जा सकती है? दबाव तो तब हो सकता है, जब सोचने और निर्णय करने का अवसर न दिया जाय। 'इशु' यदि गलत है; मांग यदि न्यायोचित नहीं है, तो वह दुराग्रह हो सकता है; किन्तु उसमें दबाव नहीं हो सकता। यदि आप यह समझते है कि हड़ताली की मांग न्यायोचित है, तो आप उसे स्वीकार कर लें, यदि समझते हैं कि कोरा हठ है; दुराग्रह है, तो उसे मर जाने दें। दोनों चुनाव आपके सामने हैं। इनमें से किसी एक के लिए आपको मजबूर नहीं किया जाता है। अब आप यदि मांग के न्याय्यान्याय्य को भूलकर हड़ताली के कष्टों या मरण के भय से किसी बात को मंजूर कर लेते हैं, तो यह आपकी गलती है, आपकी कमजोरी है, न कि भूख-हड़ताल के सिद्धांत का दोष।

यदि आपका निर्णय आपको न्यायपूर्ण मालूम होता है तो आप दृढ़ रहिए; हड़ताली को मर जाने दीजिए। इसमें घबराने या डरने की बात ही क्या है? यदि हड़ताली सत्य और न्याय पर है, तो आखिर तक अविचल रहेगा और उसका सत्य आपको ढीला कर देगा; यदि आप सत्य पर हैं, तो वह आगे चलकर ढीला पड़ जायगा, हड़ताल को आगे चलाने का उत्साह कम होता चला जायगा। यदि कोई दुराग्रह-पूर्वक प्राणत्याग ही कर दे, तो अपने दुराग्रह का फल पा गया। यदि न्यायपूर्ण मांग के होते हुए भी उसको प्राण ही छोड़ देना पड़े तो वह सत्य के खातिर मर मिटा। उसका बलिदान आप से अपनी मांग पूरी कराने का बल दूसरों में उत्पन्न करेगा। मनुष्य आखिर अन्तिम अस्त्र का प्रयोग ही तो कर सकता है, फिर वह अस्त्र चाहे पिस्तौल हो, चाहे अपना प्राणत्याग। सफलता की गारण्टी तो कोई भी नहीं दे

सकता है। यदि दे सकता है तो शस्त्र नहीं, बल्कि प्राणोत्सर्ग ही दे सकता है।

मैं तो जितना ही अधिक विचार करता हूँ, सत्याग्रही के पास अन्तिम बल के रूप में, हिंसात्मक शस्त्रों की जगह, उपवास और अंत में प्रायोपवेशन ही उपयुक्त दिखाई पड़ते हैं। शस्त्र-युद्ध में सेनापति यदि हजारों सशस्त्र सैनिकों की फौज लेकर लड़ सकता है तो निःशस्त्र युद्ध में भी हजारों सत्याग्रही जिस प्रकार जेलों मे जा सकते है, उसी प्रकार अनशन-द्वारा प्रायोपवेशन भी कर सकते है। हां, शस्त्र-युद्ध की तरह अभी इसके नियम-उपनियम नहीं बने हैं; किन्तु जैसे-जैसे इसके प्रयोग सफल होते जायगे और हम इस दिशा मे आगे बढ़ते जायंगे, तैसे-तैसे विधि-विधानो की रचना अपने आप होती जायगी। आवश्यकता है उत्साह के साथ इनके प्रयोगों को देखने और करने की। मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि सत्याग्रह दुनिया की सुव्यवस्था और शांति के लिए एक अमूल्य ईश्वरी-प्रसाद सिद्ध हुए बिना न रहेगा।

११ : भूख-हड़ताल आत्म-हत्या है ?

क्या भूख हड़ताल आत्महत्या है ? इसका निर्णय करने के लिए सबसे पहली बात तो यह जाननी चाहिए कि भूख-हड़ताल अनशन या उपवास का एक अंग है। हम ऊपर देख चुके है कि केवल आत्मशुद्धि के लिए जो किया जाता है उसे आमतौर पर उपवास कहते हैं, और किसी मांग को पूरा कराने के लिए जो अन्न त्याग किया जाता है उसे प्राय भूख-हड़ताल कहते हैं। अपनी मांग को पूरा कराने के लिए मनुष्य के पास दो ही अन्तिम अस्त्र है—(१) या तो सामने वाले को मार गिरावे, (२) या खुद मर मिटे। पहला मार्ग सनातन से चला आ रहा है, आज भी जगत् में उसका दौर-दौरा है; किन्तु दूसरा—कहना चाहिए कि एक तरह से नया है—अब नवीन प्रकाश के साथ दुनिया के सामने आ रहा है। किन्तु इसे बाज लोग 'आत्महत्या' के नाम से पुकारते हैं। मेरी राय में 'हत्या' उसे कहते हैं जिसमें कर्त्ता का कोई उद्देश न हो और निरपराध का वध किया जाता हो। यदि निरुद्देश दूसरे को मार डाला है तो वह पर-हत्या हुई, यदि निरुद्देश ही अपने को मार डाला है तो वह आत्म-हत्या हुई। भूख-हड़ताल में तो एक स्पष्ट उद्देश्य है, इसलिए वह आत्महत्या कदापि नहीं हो सकती। आत्महत्या करने

वाला तो अपने जीवन से ऊबकर, जीवन मे कष्टों से घबराकर जीवन को त्यागने के लिए तैयार होता है और इसलिए वह पहले दरजे का कायर होता है; किन्तु भूख-हड़ताली को कायर कैसे कह सकते हैं ? वह अपने जीवन से घबराया हुआ नहीं होता है, वह तो सोच समझकर, हिसाब लगाकर, जान की बाजी लगाये हुए है। हां, यह बात ठीक है कि भूख-हड़ताल अन्तिम अस्त्र है। यदि अन्य उपायों का अवलम्बन किये बिना ही कोई एका-एक भूख-हड़ताल कर देता है, तो वह उस अनाड़ी डाक्टर की तरह है, जो दूसरी दवाओं को आजमाने के पहले इंजेक्शन से ही शुरूआत करता है, या उस गंवार सिपाही की तरह है, जो बात-बात पर तलवार खींच लेता है और गरदन उतार लेता है। निश्चय ही थोड़े दिनों मे ऐसे गंवार की साख चली जायगी। या तो वह घबराकर बीच-बीच में भूख-हड़ताल छोड़ता जायगा, या मरकर अपनी गलती की सजा आप पा जायगा।

किन्तु इस पर कहा जाता है कि यह भावुकताहीन तार्किकता है और भारत की शिक्षा और परिस्थिति के अनुकूल नहीं। इसपर मेरा जवाब यह है कि ऐसी भावुकता जो मनुष्य की निर्बलता को बढ़ाती हो, उसे दबकर दूसरो की इच्छा पर चलने के लिए मजबूर करती हो, त्यागने योग्य है, और यदि आज भारत मे ऐसी भावुकता बड़ी मात्रा में मौजूद है, तो यह भारत के लिए बल और प्रशंसा की बात नहीं है। भावुकता पर विवेक का प्रभुत्व होना चाहिए। कोरी तार्किकता को तो मेरी भी विचारश्रेणी मे स्थान नहीं है। मैं अनुचित भावनाओं की रोक अवश्य चाहता हूँ और उसके लिए जीवन में विवेक का प्राबल्य बहुत आवश्यक है।

फिर मेरा यह भी मत है कि मनुष्य को इस प्रकार दबने देना जहां उसकी मनुष्यता को मिटाना है, तहां मैं यह भी मानता हूँ कि मनुष्य इस तरह सदा दबकर रह भी नहीं सकता। दो चार बार शुरू में अनुचित रीति से दब जाने के बाद अपने आप उसके मन में यह विरोध-सा उत्पन्न होगा कि मैं कब तक इसके हठ के सामने झुकता रहूँ। ऐसा तेज यदि मनुष्य में नहीं है, या उत्पन्न नहीं हो सकता, तो फिर उसके लिए कोई आशा ही नहीं है।

अब तक चूंकि भारत के सामने एक शस्त्र का ही मार्ग था, इसलिए इस प्रकार अपनी नजरों के सामने किसीको भूखा मरने देने का

नैतिक बल उसमें आज चाहे कम दिखाई पड़ता हो, किन्तु यदि भूख-हड़ताल में दुराग्रह का जोर होता जायगा, तो ऐसी प्रतिकार-भावना भी समाज में बढ़े बिना न रहेगी और उससे समाज में बहुत शुद्ध तेज का उदय होगा, जिससे समाज एक ओर विनयशील और दूसरी ओर बहुत तेजस्वी बनेगा।

यह बात नहीं कि भूख-हड़ताल का उद्देश्य हृदय को स्पर्श और विचारों को जाग्रत करके ही पूर्ण हो जाता है, बल्कि अपनी मांग को मनवाना ही उसका वास्तविक उद्देश्य है। हृदय को स्पर्श और विचारों को जाग्रत करना तो उद्देश-सिद्धि की आरम्भिक क्रियाएं हैं। भूख-हड़ताली तो विचार जाग्रत करने के बाद प्रतिपक्षी से निर्णय भी कराना चाहता है और उसपर अमल भी; किंतु वह विचार-पूर्वक। यदि कोई मनुष्य भावुकता-वश किसी दुराग्रह का शिकार बनता है, तो यह दोष भूख-हड़ताल के सिद्धांत का या भूख-हड़ताली का नहीं है, उसकी अपनी अति-भावुकता का है। उसे ऐसी दशा में विवेक से काम लेना चाहिए। दबाव तो उसको कहते हैं जब बिना विचार करने का मौका दिये किसी पर धौंस जमाकर कोई काम करा लिया जाय। यदि मैं हाथ में पिस्तौल ले कर कहूँ कि बोलो—मानते हो या गोली दाग दूं। तो निःसन्देह मैं उसे विचार करके निर्णय करने का मौका नहीं देता हूँ। किन्तु जब मैं भूख-हड़ताल करता हूँ तब, जब तक मैं मर नहीं जाता, रोज-ब-रोज उसे तथा उसके और मित्रों को बार-बार विचार करने का मौका देता हूँ। भूख-हड़ताल का नाम सुनते ही मेरे हृदय को एक धक्का लगता है—मैं सोचने लगता हूँ, मेरा क्या कर्तव्य है, इसकी मांग जा है या बेजा, इसकी मांग पूरी करूं या इसे भूखा मरने दूं। यह विचार-मन्थन अवश्य होता है। इसके बाद जो निर्णय होगा, वह सही हो या गलत, जबरदस्ती कराया गया निर्णय नहीं है।

फिर दबाव डालना एक चीज है, दबाव पड़ना दूसरी। मैं यह निःसंकोच होकर कहता हूँ कि भूख-हड़ताल में दबाव डालने का उद्देश्य नहीं होता। जो ऐसे उद्देश्य से करते हों, वे अधिक दिनों तक हड़ताल में टिक भी न सकेंगे। इसके विपरीत हर तरह की बुराई, बदनामी तथा जोखिम का मुकाबला करके भी दबाव के वशीभूत किसीको न होना चाहिए। दबाव तो तभी न पड़ेगा, जब मैं पड़ने दूंगा। यदि मैं दबाव में आता हूँ तो भूल मेरी है, न कि भूख-हड़ताली की। हां, भूख-हड़ताली

को यदि यह प्रतीत होने लगे कि सामने वाला दबाव से ही उसकी मांग को मंजूर कर रहा है, तब उसका कर्तव्य है कि वह उसे चेतावनी दे और उसकी बुद्धि और विवेक को जाग्रत करने तथा स्वयं निर्णय करने के लिए उत्साहित करे। वह उसे समझावे कि यदि तुम मेरे प्राणों के चले जाने के भय या मोह से मेरी मांग कबूल करते हो तो न करो। मेरी मृत्यु को सहने का बल भगवान तुम्हें दे देगा, यदि तुम सच्चाई पर होगे। तुम्हें अपने सत्य की अधिक चिन्ता रखनी चाहिए, बनिस्बत मेरी मृत्यु के। दबाव न पड़ने देने की इतनी सावधानी के बाद एक भूख-हड़ताली इससे अधिक और क्या कर सकता है ?

भूख-हड़ताल चूंकि नया रास्ता है, इसलिए आरम्भ में इसमें भूलें होंगी, दोनों तरफ के लोग भूल करेंगे। किन्तु इससे हमें डरना न चाहिए, न जल्दी में गलत प्रयोगों या थोड़े बुरे परिणामों को देखकर उसके विरुद्ध ही राय कायम करना चाहिए। उसकी मूलभूत अच्छाई को हमें न भुला देना चाहिए। शस्त्र-प्रयोग की अपेक्षा स्वयं मरने के प्रयोग में खुद हड़ताली को ही ज्यादा कष्ट भोगना पड़ता है, इसलिए दुरुपयोग की जोखिम और भी कम है।

अब रह जाता है भूख-हड़ताल के अधिकार का प्रश्न। मेरी समझ में व्यावहारिक दृष्टि से यही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। खुद या मित्रों द्वारा समझाने-बुझाने के तमाम वैध और न्यायोचित उपायों के काम में ला चुकने पर ही भूख-हड़ताल के प्रयोग का अधिकार मनुष्य को है। यदि विपक्षी ने सुलह का द्वार खुला रक्खा हो तो भूख-हड़ताल कर बैठना अनुचित प्रहार है। इसी प्रकार भूख-हड़ताल के मध्य में भी यदि सुलह का द्वार खुल जाता हो तो भी भूख-हड़ताल जारी रखना दुराग्रह हो जायगा। भूख-हड़ताली का बल 'सत्यबल' है। जो सच्चाई पसन्द है, वह सदा दूसरे की बात को सुनने और समझने के लिए तैयार रहेगा और उसमें से सत्य ग्रहण करेगा। इसी वृत्ति का नाम समझौता-वृत्ति है और यह भूख-हड़ताली में अवश्य होनी चाहिए। इसके अभाव में उसके दुराग्रह में परिणत होने की बहुत आशंका है।

१२ : उपवासी के प्रति हमारी दृष्टि

जब कभी कोई उपवास या भूख-हड़ताल करते हैं तो लोग अक्सर उनके प्राण बचाने की ज्यादा चिन्ता करने लगते हैं, उनके

उद्देश्य की पूर्ति की उतनी नहीं। एक बार एक जैन मुनि ने उपवास किया था, तो एक-दो दूसरे जैन मुनियों ने मुझसे उनके प्राण बचाने का अनुरोध किया था। गांधीजी ने जब-जब उपवास किये हैं, तब भी लोगों को उनके प्राणों की अधिक चिन्ता हुई। यह स्वाभाविक-जैसा तो है, पर इसमें छिपे हमारे मोह को हमें समझ लेना चाहिए, नहीं तो उपवास आदि का मर्म हम ठीक-ठीक न समझ पावेंगे। गांधीजी के एक उपवास के अवसर पर मैंने लिखा था—

'गांधीजी फिर उपवास करेंगे'—यह सुनकर किसका दिल न धड़क उठा होगा, किसके दिल से यह प्रार्थना न निकली होगी कि भगवान भारत के इस बूढ़े तपस्वी की रक्षा करें? किसे यह चिन्ता न हुई होगी कि इतनी लम्बी और शरीर को चकनाचूर कर देने वाली यात्रा से थके-मांदे, अधमरे बूढ़े शरीर को यह कष्ट कैसे सहन होगा? हम जब तक पामर मनुष्य हैं, तब तक यह सब स्वाभाविक है। किंतु प्रश्न यह उठता है कि हमारी यह घबराहट क्या गांधीजी के योग्य है? जिन्होंने उनके आदर्शों को अपनाया है, उनके सिद्धान्तों को समझने का, उनकी भावनाओं को अपने रक्त में मिलाने का यत्न किया है, क्या उनका अधीर हो बैठना, विकल-विह्वल होजाना उचित होगा, गांधीजी को इस से सन्तोष और प्रसन्नता होगी?

"इस दृष्टि से जब विचार करते हैं तो कहना होगा कि प्रायश्चित्त और आत्मशुद्धि के लिए अंगीकार किये गये बड़े-से-बड़े कष्ट और खतरे की कल्पना से न घबराना ही गांधीतत्त्व का सच्चा ज्ञान प्रकट करना है। हम उनके शरीर के जोखिम में पड़ जाने की चिन्ता से विह्वल अवश्य हो जाते हैं, किन्तु यह विचार करना भूल जाते हैं कि ऐसे उपवासों से उन की आत्मा को कितनी शांति मिलती है, कैसा समाधान होता है, और साथ ही उनके अनुयायियों तथा विरोधियों पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है जिससे कि उनके जीवन-कार्य की प्रगति में भारी सहायता पहुँचती है।

"बार-बार गांधीजी कहते हैं कि विरोधियों की बातों को सहन करो, उनके प्रति अपनी सहिष्णुता तथा अपने कार्य के प्रति अपनी दृढ़ता के द्वारा उनके हृदयों को बदलो, उनके साथ ज्यादती या बल-प्रयोग करोगे तो मुझे प्रायश्चित्त करना होगा, और बावजूद इसके भी जब लोग उसके विरुद्ध आचरण करते हैं तो गांधीजी उसका प्रायश्चित्त

क्यों न करें ? मैं तो समझता हूँ, ऐसी अवस्था में यदि गांधीजी अपने अनुयायियों का शासन करने के लिए अपने को दण्डित न करें तो गांधी-पन कुछ न रहे, और उनके जीवन-कार्य की शुद्धि, बल, पवित्रता, प्रगति सब नष्ट हो जाय। इसके साथ ही विरोधियों को शांत करने, उनके हृदय में अपने जीवन-कार्य की सत्यता अंकित करने का साधन इस आत्म-ताड़ना से बढ़कर और क्या हो सकता है ? ऐसी दुर्घटनाओं से यदि गांधीजी अपने लिए यह सार निकालते हों कि अभी मुझ में कुछ खामी, कुछ कमी, कुछ दोष, कुछ मलिनता भरी हुई है, जिसकी अभिव्यक्ति मैं लोगों की ऐसी हिंसावृत्ति में पाता हूँ, तो उनकी शान्ति और शुद्धि के लिए भी इससे बढ़कर और उपाय क्या हो सकता है ? मुझे तो बड़ा दुःख होता है जब हम गांधीजी के ऐसे उपवासों का मर्म न समझकर उस से आत्मशोधन की स्फूर्ति पाने के बदले उनके शरीर की चिन्ता से दुखी होकर उनका विरोध या वाद-विवाद करने लगते हैं। हमारी इस मनो-वृत्ति से गांधीजी को कदापि सन्तोष और आनन्द नहीं हो सकता। वे ऐसे निर्बल अनुयायियों पर कदापि अभिमान का अनुभव नहीं कर सकते। वे तो हमारी इस निर्बलता को भी अपने हृदय की अथाह दया-वृत्ति से धोने का ही यत्न करेंगे, किन्तु हमारे आत्मतेज का यह तकाजा है कि हम गांधीजी के लिए गौरव की वस्तु बनें, न कि दया की। जब तक गांधीजी को यह अनुभव होता रहेगा, कि लोगों ने मेरे संदेश को ठीक-ठीक नहीं समझा है, मेरे शरीर का उन्हें काफी मोह है, मेरी आत्मा और मेरे जीवन-कार्य की उतनी चिन्ता उन्हें नहीं है, तब तक विश्वास रखिए, आपके विषय मे उन्हे आन्तरिक समाधान नहीं हो सकता। मुझे तो निश्चय है कि गांधीजी ऐसे उपवासों से हरगिज नहीं मर सकते, उनका शरीर भी इनसे सहसा क्षीण नहीं हो सकता; किन्तु गांधीजी अवश्य जल्दी क्षीण हो जायँगे, यदि वे यही देखते रहेंगे कि इन लोगों ने मुझे या तो गलत समझा है, या समझा ही नहीं है। मैं जानता हूँ कि यह कहना भी एक तरह से गांधीजी को न समझने के ही बराबर है, क्योंकि उनके जीवन या मरण का आधार बाह्य जगत् से उतना नहीं है जितना कि आंतरिक श्रद्धा और आत्म-बल से है। फिर भी बाह्य जगत् की घटनाएं जिस अंश तक किसी पर प्रभाव डाल सकती हैं, उस अंश तक गांधीजी इस बात से अवश्य संतुष्ट होंगे कि लोग उनकी तप श्चर्याओं के महत्त्व को समझें, उनसे उचित शिक्षा और स्फूर्ति ग्रहण करें

न कि उनकी तरफ से उदासीन रहें या उनके केवल बाह्य-रूप से ही प्रभावित होकर उसके प्रति अपनी अरुचि प्रदर्शित करते रहें। गांधीजी के शरीर के प्रति हम जो प्रेम दिखाते हैं, उससे उनके प्रभाव को कुछ समाधान भले ही हो, किन्तु उनकी आत्मा को तो सच्चा संतोष और आनन्द तभी हो सकता है, जब हम उनकी आत्मिक आराधना के रहस्य को समझें, उसकी तह तक पहुँच जावें और ऐसे कष्ट या खतरे के अवसर पर घबरा जाने के बदले उन्हें अपने हृदय की श्रद्धा, साहस, निर्भयता और निश्चिन्तता का सन्देश भेजें।"

यहां जो बात गांधीजी के लिए कही गई है, वह प्रत्येक सत्याग्रही पर घटित होती है।

२—अहिंसा

१ : अहिंसा का मूल स्वरूप

सत्य जिस तरह स्वतंत्र, निरपेक्ष और स्वयंपूर्ण है उस तरह अहिंसा नहीं। यह सृष्टि सत्य के विभिन्न रूपों के सिवा और कुछ नहीं है। यह सब सत्य का ही विकास है। यदि सत्य अपने मूल निराकार स्वरूप और भावरूप में रहता तो अहिंसा की कोई आवश्यकता ही न रहती, उसका उदय ही न होता। सत्य तो उस तत्व या नियम का नाम है जो अपने आप मे परिपूर्ण है और जिसे रहने या फैलने के लिए किसी दूसरी वस्तु के सहारे की आवश्यकता नहीं। किन्तु अहिंसा निष्क्रिय पक्ष में किसी को दुःख न पहुँचाने और सक्रिय पक्ष में प्रत्येक के साथ प्रेम करने की भावना या वृत्ति का नाम है। कोई होगा तभी तो उसे दुःख न पहुँचाने का या उससे प्रेम करने का भाव पैदा होगा; जब कोई था ही नहीं, केवल सत्य ही अपने असली रूप में स्थित था—एक-रूप, एक-रस था—तब अहिंसा का उदय कैसे हो सकता था? किन्तु सत्य के विकसित और प्रसारित होते ही, भिन्न-भिन्न नाम-रूप धारण करते ही, उनका पारस्परिक सम्बन्ध कैसा रहे, यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न हुआ और चूंकि भिन्न-भिन्न नाम-रूप वास्तव में एक ही सत्य का विकास है, इसलिए उसमें सम्बन्ध प्रेम, सहयोग और सहिष्णुता का ही हो सकता था—इसी स्वाभाविक भावना का नाम अहिंसा रक्खा गया।

इस प्रकार सत्य यद्यपि निरपेक्ष है और अहिंसा सापेक्ष—दूसरे की अपेक्षा से स्थित—है तो भी जबतक सृष्टि है तबतक उसका अस्तित्व

है। जबतक जगत् है और नाम-रूप है तबतक अहिंसा बनी ही हुई है। अर्थात् जबतक हम हैं तबतक अहिंसा है। हमारे अस्तित्व और पारस्परिक सम्बन्ध के साथ वह सदा मिली और लगी हुई है।

जब हम मूल, पूर्ण और निरपेक्ष सत्य को समझने का यत्न करते हैं, तब तो आगे चलकर यह भी मानना होगा कि अहिंसा-भाव सत्य का ही एक अंग या एक अंश है। वह सत्य से बढ़कर तो हो ही नहीं सकता, बराबर भी चाहे न हो, अंशमात्र ही हो, किन्तु वह सत्य से पृथक नहीं है, न हो सकता है। यदि वस्तुमात्र और भावमात्र सत्य का ही विकास है तो अहिंसा को उससे पृथक कैसे कर सकते हैं? फिर जगत् में हम देखते हैं कि और भावों की अपेक्षा प्रेमभाव सबसे प्रबल है। आमतौर पर प्रेम जितना आकर्षित और प्रभावित करता है। उतना सत्य नहीं। तब यह क्यों न कहें कि सत्य का आकर्षक रमणीय रूप ही प्रेम या अहिंसा है। जो हो। इतना अवश्य मानना होगा कि सत्य और अहिंसा का नाता अमिट है और केवल सत्य को पाने के लिए ही नहीं बल्कि जगत् का अस्तित्व ठीक-ठीक रखने के लिए, समाज को सुख-शांतियुक्त बनाने के लिए, वह अनिवार्य है।

यह तो हुई सत्य और अहिंसा के स्थान और परस्पर संबन्ध तथा महत्त्व की बात। अहिंसा का मूल तो हमने देख लिया, अब उसका स्वरूप देखने का यत्न करें। सत्य जिस प्रकार एक अनिर्वचनीय तत्त्व, सत्य नियम या व्यवस्था है, उसी प्रकार अहिंसा भी वस्तुतः अवर्णनीय भाव है; दोनों की प्रतीति और अनुभूति तो हो सकती है, किन्तु परिभाषा नहीं बनाई जा सकती। परिभाषा शब्दों और उसके बनाने वाले की योग्यता और विकास-स्थिति से मर्यादित रहती है। किसीने अपने जीवन को पूर्ण अहिंसा और सत्यमय बना भी लिया तो शब्दशक्ति की मर्यादा के बाहर वह नहीं जा सकता। अपने सम्पर्क से वह अहिंसा और सत्य का उदय आपमें कर सकता है, किन्तु वाणी या लेख द्वारा वह उतनी अच्छी तरह आपको नहीं समझा सकता। यह शब्दों द्वारा जानने की वस्तु है भी नहीं। किन्तु जहां तक शब्दों की पहुंच है वहां तक उसे समझाने का प्रयत्न भी अधिकारी पुरुषों ने किया है।

अहिंसा की साधारण और प्रारम्भिक व्याख्या यह हो सकती है— 'किसीको भी अपने मन, वचन कर्म द्वारा दुःख न पहुंचाना।' यह साधक की प्रारम्भिक भावना है। इसके बाद की भावना या अवस्था है प्राणि-

मात्र के प्रति सक्रिय प्रेम की लहर मन में दौड़ाना। इससे भी ऊपर की और अन्तिम अवस्था है जगत् के प्रति अभेद-भाव को अनुभव करना। यह सत्य के साक्षात्कार की स्थिति है। यहां अहिंसा और सत्य एक हो जाते हैं। इसलिए कहते हैं कि अहिंसा सत्य के साक्षात्कार का साधन है। जबतक दो का भाव है तबतक अहिंसा साधन-रूप में है; जब दो मिटकर एक हो गए तब अहिंसा लोप हो गई और चारों ओर एक सत्य ही सत्य रह गया।

पहले कहा जा चुका है कि सृष्टि में दो प्रकार के गुण-धर्म पाये जाते हैं—एक कठोर और दूसरे मृदुल। साहस, तेज, पराक्रम, शौर्य आदि कठोर और दया, क्षमा, सहनशीलता, उदारता आदि मृदुल गुणों के नमूने कहे जा सकते हैं। कठोर गुणों मे सत्य का और मृदुल में अहिंसा का भाव अधिक समझना चाहिए। सत्य में प्रखरता और अहिंसा में शीतलता स्वाभाविक है। ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू की तरह, पुरुष और प्रकृति की जोडी की तरह, अभिन्न है। दुष्टता और क्रूरता जिस प्रकार सत्य की विकृति है उसी कार दब्बूपन, कायरता, अहिंसा की विकृति है।

तब प्रश्न यह उठता है कि एक ओर दुष्टता और क्रूरता तथा दूसरी ओर दब्बूपन और डरपोकपन आया कहां से ? और ये भाव उदय भी क्यों हुए ? बुद्धि को तो यही उत्तर देना पड़ता है कि जब सत्य ने ही सारी सृष्टि के रूप में विकास पाया है तब दुष्टता; कायरता आदि भी सत्य में से ही पैदा हुए है और किसी न किसी रूप में वे सत्य के ही साधक या पोषक होते होंगे। यह मान भी लें कि इन दुर्गुणों से और दोषों से समष्टि या सृष्टि या सत्य का कोई हेतु सिद्ध होता होगा, तो भी उस व्यक्ति के लिए तो ये उस काल में सुखकारी नहीं हो सकते। सत्य और समष्टि के राज्य में, सम्भव है, गुण-दोष की भाषा ही न हो; वहां तो सब कार्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परस्पर पोषक ही होते हों, किन्तु साधारण मनुष्य और साधक के लिए तो गुण गुण है और दोष दोष है। सत्य स्वरूप हो जाने पर, सम्भव है, गुण-दोषों की पहुँच के वह परे हो जाय, किन्तु तब तक तो गुण-दोष का विवेक रखकर ही उसे आगे बढ़ना होगा। कहने का भाव यह है कि यदि किसी में दुष्टता, क्रूरता, और कायरता या दब्बूपन है तो उसे यह मानकर सन्तोष न करना चाहिए कि आखिर इससे सृष्टि का कोई न कोई हित ही सिद्ध होता होगा—बल्कि यह मानना चाहिए कि मुझे ये सत्य और अहिंसा की तरफ नहीं ले जायंगे। जहां दुष्टता और कायरता है वहां सत्य और

अहिंसा की शुद्ध वृत्ति का अभाव ही समझना श्रेयस्कर है। जो सत्यवादी उद्दण्ड हो और अहिंसावादी डरपोक हो तो दोनों को पथभ्रष्ट ही समझना चाहिए। उद्दण्डता दूसरों को दबाती है और कायरता उद्दण्डता से डरती है। दूसरों से दबना और दूसरों को दबाना दोनों सत्य और अहिंसा की मर्यादा को तोड़ते हैं। जो मनुष्य चाहते हैं कि हमारा जीवन पूर्ण, स्वतंत्र और सुखी हो एवं हम दूसरे के सुख, स्वाधीनता और विकास में सहायक हो उन्हें सत्य और अहिंसा की विकृति से बचकर उनकी शुद्ध साधना के सिवा दूसरा मार्ग ही नहीं है।

यह तो अहिंसा का तात्त्विक विवेचन हुआ। अब हमें उसके स्थूल-रूप, उसके विकास और उसकी मर्यादाओं का भी विचार कर लेना उचित है।

२ : अहिंसा का स्थूल स्वरूप

'हिंस' धातु से हिंसा शब्द बना है। इसका अर्थ है—मारना, कष्ट पहुँचाना। कष्ट दो तरह से पहुँचाया जा सकता है—एक तो प्राण निकाल कर और दूसरे घायल करके। यह तो हुई प्रत्यक्ष हिंसा। अप्रत्यक्ष हिंसा उसे कहते हैं जिससे शरीर को तो किसी प्रकार कष्ट या आघात न पहुँचे किंतु मन जख्मी हो जाय। इसे मानसिक हिंसा कह सकते हैं। इसी तरह हिंसक की दृष्टि से भी हिंसा दो प्रकार की हो सकती है—एक तो वह जब हिंसक अपने शरीर या शस्त्र के द्वारा हिंसा करे और दूसरा वह जब अपने मन, बुद्धि के व्यापारों के द्वारा कष्ट पहुँचावे। अहिंसा हिंसा के विपरीत भाव और क्रिया को कहते हैं। अर्थात् किसी के शरीर और मन को अपने शरीर या मन बुद्धि के द्वारा किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है।

हिंसा और अहिंसा मन की वृत्तियां हैं। जब तक कोई भाव मन मे ही रहता है तबतक उससे दूसरे को विशेष लाभ-हानि नहीं पहुँचती, सिर्फ अपने ही को पहुँचती है। यदि मेरे मन में किसी की हत्या करने का विचार आया तो जब तक मैं प्रत्यक्ष हत्या न कर डालूंगा तब तक भला-बुरा परिणाम मुझ तक ही मर्यादित रहेगा। इसीलिए समाज या राज्य में कोई अपराध तब माना जाता है जब वह काम या उसका प्रयत्न हो चुकता है। हां, अपराध में अपराधी की भावना भी अवश्य देखी जाती है। यदि कार्य बुरा हो और भावना शुद्ध और ऊंची हो तो उसका दोष कम हो जाता है। अर्थात् एक दृष्टि से केवल भाव

या विचार सामाजिक अपराध नहीं है तो दूसरी दृष्टि से भाव का महत्त्व क्रिया के परिणाम को न्यूनाधिक करने में बहुत है। यद्यपि सामाजिक रूप में क्रिया और प्रयत्न ही अपराध माना गया है तथापि इससे दूषित विचार या भाव का दोष कम नहीं हो जाता है। सिर्फ अन्तर इतना ही है कि उस व्यक्ति पर ही उसका विशेष असर होता है; इसलिए समाज-व्यवस्थापकों ने उसे सामाजिक दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं दिया है। परन्तु इससे भाव और विचार का असली महत्त्व कम नहीं हो जाता। भाव से विचार, विचार से प्रयत्न और प्रयत्न से काम बनता है। इसलिए किसी भी कार्य का बीज असल में भाव ही है। यदि कार्य से बचना हो तो ठेठ भाव तक से बचने की चेष्टा करनी होगी। फिर यदि व्यक्ति के मन में दूषित भाव भरा हुआ है तो किसी न किसी दिन उससे दूषित कार्य अवश्य हो जायगा और समाज को नुकसान पहुँच जायगा। केवल दूषित भावों और विचारों का भी बुरा असर पड़ता है। वह दूसरों में दूषित भाव और विचार उत्पन्न करता है। इसीलिए बुरे विचारों का समाज में फैलाना भी बुरा समझा गया है। इसके अलावा समाज के व्यक्ति जितने ही निर्दोष, शुद्ध और उच्च विचार और भाव रखते होंगे उतना ही समाज मे सुख, स्वातंत्र्य, शान्ति अधिक होगी। स्वयं व्यक्ति तो उससे बहुत ऊंचा हो ही जाता है। इसलिए बुरे भावो तक की रोक व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो दृष्टियों से आवश्यक है।

यहां तक तो हमने हिंसा-अहिंसा के सूक्ष्म और स्थूल रूपों का विचार किया। अब यह प्रश्न उठता है कि हिंसा का निषेध क्यो किया जाता है? हिंसा एक त्याज्य दोष क्यों माना गया है? यह सिद्ध है कि सृष्टि अच्छे और बुरे भावो का मिश्रण है। सृष्टि में जब मनुष्य विविध व्यापार करने लगा तो उसे अनुभव होने लगा कि कुछ बाते ऐसी हैं जिससे हानि और दुःख होता है; कुछ ऐसी जिनसे लाभ एवं सुख होता है। वह लाभ और सुख पहुँचाने वाली बातों को अच्छा और हानि तथा दुःख पहुँचानेवाली बातों को बुरा ठहराता गया। आरंभ मे उसकी दृष्टि अपने सुख-दुःख और लाभ-हानि तक ही केन्द्रित रही होगी—फिर कुटुम्ब समाज आदि तक उसकी परिधि बढ़ी है। ज्यों-ज्यों यह परिधि बढ़ती गई त्यों-त्यों अच्छी और बुरी समझी जाने वाली बातो में भी भिन्नता होती गई। शुरू में उसने दूसरों को मार कर या कष्ट पहुँचा कर अपना लाभ करने में बुराई न समझी होगी। उसे यह स्वाभाविक व्यापार मालूम

हुआ होगा। पर ज्यों-ज्यों उसकी भावनाओं का विकास हुआ और कुटुम्ब तथा समाज के सुख-दुःख उसे अपने ही सुख दुःख से मालूम होने लगे, त्यों-त्यो उसे अपने सुख, स्वाद, लाभ के लिए दूसरे को कष्ट पहुंचाना अनुचित प्रतीत होने लगा। उसने यह भी देखा कि स्वेच्छाचार, अत्याचार को यदि बन्द करना है तो 'हिंसा' को बुराई मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार व्यक्तिगत उन्नति और सामाजिक सुव्यवस्था के लिए अहिंसा की उत्पत्ति हुई; किन्तु आरम्भ मे यह मनुष्य तक ही सीमित होगी। फिर उन पशु-पक्षियों तक फैली जिनसे मनुष्य-समाज का लाभ होता था। सिर्फ उन्हीं मनुष्यों या पशुओं की हिंसा क्षम्य या अपरिहार्य समझी गई जिनसे समाज को प्रत्यक्ष हानि पहुँचती है। इस तरह मूलतः हिंसा अच्छी तो कहीं भी—किसी भी समाज में—नहीं मानी गई है सिर्फ अनिवार्य समझकर कहीं-कहीं उसे मर्यादित रूप में क्षम्य मान लिया गया है।

परन्तु लाभ या हानि, सुख या दुःख से अर्थात् स्वार्थ से बढ़कर भी एक उच्च भावना अहिंसा की जड मे समाई हुई मालम होती है। मनुष्य ने देखा कि यदि मुझे कोई घायल करता है, मेरे किसी आत्मीय को कोई मार डालता है तो मुझे कितना दुःख होता है। वह नहीं चाहता कि उसे ऐसा दुःख कोई दे। तो उसने यह भी अनुभव किया कि दूसरे को भी—पशु-पक्षी कीट-पतंग तक को भी—मारने या घायल करने से कष्ट पहुंचता है; तो उसकी स्वाभाविक सहानुभूति ने उसे अपने पर एक कैद लगाना उचित और आवश्यक बताया। इस सहानुभूति या दया की भावना ने उन मनुष्यों और पशु-पक्षियों को भी न मारना, न कष्ट देना उचित समझा, जो मनुष्य-समाज को हानि भी पहुँचाते हों। यदि कष्ट पहुँचाना अनिवार्य हो जाय तो ऐसा ध्यान रक्खा जाय कि वह कम से कम हो। यहां आकर अहिंसा एक त्रिकालाबाधित धर्म हो गया। इस सहानुभूति ने ही मनुष्य को एकात्मता के अनुभव पर पहुँचाया। या यों कहें कि सबमें एक ही आत्मा होने के कारण स्वभावतः मनुष्य में इस सहानुभूति का भी जन्म हुआ है। सबमें एक आत्मा एक चेतन-प्रवाह है, यह जगत् का परम सत्य है और इसीके अनुसार जीवन बनाते समय अहिंसा की उत्पत्ति हुई। आगे चलकर यह भाव दृढ़ हुआ कि सबमें एक ही आत्म-तत्त्व है तो फिर न कोई किसीका शत्रु है, न कोई किसीको हानि पहुँचाते हैं। सब अपने-अपने कर्मों के अनु-

सार फल पाते हैं और अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य करते हैं। जो हमें हानि पहुँचाता है, या हमारा शत्रु बनता है, यह उसकी कुबुद्धि या अज्ञान है, इसलिए वह तो और भी सहानुभूति या दया का पात्र है। जिन महापुरुषों ने इस ऊंची अहिंसावृत्ति की साधना अपने अन्दर की है, उनके सामने बड़े-बड़े हिंस्र पशुओं ने हिंसा-भाव छोड़ दिया है। इससे दो बातें सिद्ध हुई—एक तो एकात्मभाव और दूसरे उसकी साधना के लिए अहिंसा का प्रभाव।

इस प्रकार यद्यपि अहिंसा की उत्पत्ति स्वार्थ-भाव से हुई, परन्तु वह चरम सीमा तक पहुँची दया-भाव के योग से। अब प्रश्न यह रहता है कि एक व्यक्ति तो अपने जीवन में अहिंसा की चरम सीमा तक पहुँच सकता है, परन्तु सारा समाज कैसे पहुँच सकता है? और जब तक सारा समाज न पहुँचे तो किसी न किसी रूप में हिंसा अनिवार्य हो जाती है। मामूली जीवन-व्यापार मे भी कई प्रकार की अनिच्छित हिंसा हो जाती है। तब व्यवहार-शास्त्रियों ने यह व्यवस्था बांधी कि अहिंसा है तो सर्वोच्च-वृत्ति, हिंसा है तो सर्वथा त्याज्य, परन्तु यदि खास-खास स्थितियों में वह अपरिहार्य ही हो जाय तो उसे क्षम्य समझना चाहिए—किन्तु उस दशा में भी यह शर्त रख दी कि उस हिंसा में हमारी भावना शुद्ध हो अर्थात् हमारा कोई स्वार्थ उसमे न हो। बल्कि यों कहें कि संकल्प करके यदि कोई हिंसा करनी पड़े तो वह उस हिंसा-पात्र के सुख और हित के ही लिए होनी चाहिए। फिर भी यह दोष तो समझा ही जायगा। इसका दोषत्व हलका करने के लिए हमें उचित है कि हम दूसरी बातों में उसकी विशेष सेवा-सहायता कर दें, जिससे उसको और समाज को हमारी भावना की शुद्धता का परिचय मिले।

इस विवेचन से हम इन परिणामों पर पहुँचे—

(१) किसी को किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है।

(२) यदि मन में हिंसा की भावना न हो और मामूली जीवन-व्यापार करते हुए किसीको कष्ट पहुँच जाय तो उस हिंसा में कम दोष समझा जाय। जैसे भोजन करने, खेती करने आदि में होने वाली हिंसा।

(३) यदि किसी दशा में संकल्प करके किसीको कष्ट पहुँचाना पड़े, तो यह केवल उसीके हित और सुख की भावना से करने पर क्षम्य समझा जा सकता है। जैसे डाक्टर द्वारा किया जाने वाला आपरेशन

पिछली दोनों अवस्थाओं में दो शर्तें हैं—

(अ) हिंसा की भावना न हो, और

(ब) दूसरी बातों में हिंसा-पात्र की विशेष सेवा-सहायता की जाय।

३ : अहिंसा = शोषणहीनता

हिंसा का सामाजिक रूप है शोषण। यदि समाज से हिंसा को मिटाना है तो पहले हमें अपनी शोषण-वृत्ति पर हमला करना होगा। हम अपनी बुद्धि सत्ता, धन, ज्ञान आदि सभी बलों के द्वारा दूसरों से अपना स्वार्थ साधते हैं और उनको उसके बदले में थोड़ा मिहनताना दे देते हैं। यह अन्याय है और हिंसा का ही एक रूप है। यह तो हम सब मानते हैं कि अहिंसा का मार्ग और अहिंसा का बल हिंसा से उत्कृष्ट और उदात्त है। अगर कोई यह कहे कि यह व्यवहार में कठिन है तो यह उसकी कमजोरी की दलील है। लेकिन अहिंसा का अर्थ इतना ही नहीं है कि शरीर से किसी को चोट या नुकसान न पहुंचावे, बल्कि मन से भी किसी का बुरा सोचना या बदला लेने की भावना रखना हिंसा है, क्योंकि शरीर से नुकसान पहुंचाये बिना भी हम दूसरों के दिलों पर घातक चोट पहुँचा सकते है। इसलिए सच्ची 'अहिसा' उसके शारीरिक क्रियाओं द्वारा प्रकट होने में ही नहीं, बलिक कर्त्ता के हृदय के वास्तविक उच्च संस्कारों में होती है। अगर हम इस दुनिया को स्वर्ग बनाना चाहते हैं, और हैवान नहीं इन्सान की तरह रहना चाहते हैं, तो हमें इस गुण का विकास करना ही होगा! अहिंसा के मानी है क्रियात्मक, निष्क्रिय ही नहीं, प्रेम। दयालुता, क्षमा, सहिष्णुता, नम्रता और ऐसे ही कोमल और मधुर गुणों का समन्वय होना। इन गुणों के बिना समाज में पूर्ण शान्ति और सुख के साथ रहना और सुख तथा स्वातंत्र्य के पवित्र ध्येय की ओर अबाध गति से चलना असम्भव है। इसलिए हर एक व्यक्ति का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह इस उच्च ध्येय की प्राप्ति के लिए अपने तन-प्राण लगा दे। दूसरे शब्दों में कहें तो अगर हमें न्याय के आधार पर संसार में जिन्दगी बितानी है, तो हमें समाज में से मन, वचन और कर्म-गत शोषण की भावना का उन्मूलन करना चाहिए। शोषण का अर्थ है—जो चीज न्यायतः हमारी नहीं है, उसका अनुचित उपयोग करना। इसलिए अगर हम न्याय और सचाई के साथ जीना चाहते हैं, तो हमें अपने अन्दर हिंसा का लेश भी नहीं रहने देना चाहिए,

क्योंकि आखिर हम दूसरों का शोषण बिना हिंसा का सहारा लिये कर ही कब सकते है ? जहा कही समाज में शोषण विद्यमान है, वहां अवश्य किसी न किसी रूप में हिंसा विद्यमान होगी। हिन्दुस्तान के देहात का आज सबसे ज्यादा शोषण हो रहा है। कस्बों और शहरो के निवासी चाहे वे राजा-महाराजा हों, रईस-जागीरदार हों, शासक हों, व्यापारी हों, जमींदार हों, और चाहे धर्माधिकारी हों, गांवों के शोषण मे लगे हुए है। जब तक क्या शारीरिक और क्या मानसिक—हिंसा हमारे समाज मे निर्मूल नही हो जाती, तब तक ग्रामों की पुनर्रचना की कोई भी योजना कामयाब नही हो सकती। इसीलिए एक ओर हमे देहातियो को कस्बों तथा नगरों के निवासियों द्वारा होने वाले शोषण का अहिंसात्मक रूप से प्रतिरोध करने की शिक्षा देनी होगी और दूसरी ओर हमें कस्बों और नगरों के निवासियो को अहिंसा का विकास करना यानी दूसरे शब्दो मे केवल समानता, न्याय और सच्चाई के उसूलों पर कायम रहकर ज़िन्दा रहना और फूलना फलना सिखाना होगा। उसी दशा मे कस्बों और नगरों के निवासी देख लेंगे कि उनको किसी भी प्रकार हिंसा का आश्रय लेने की जरूरत नहीं है और यह अच्छी तरह महसूस करेंगे कि शोषण और हिंसा दोनों एक दूसरे के साथ ही रह सकते है। यह शोषण जितना अच्छी तरह खादी-सिद्धान्त के द्वारा मिट सकता है उतना और किसी तरह नही।

अहिंसा की एक कसौटी तो यह है कि उसके फलस्वरूप प्रतिपक्षी की सात्विकता जाग्रत हो। पर साथ ही खादी हमारी अहिंसा वृत्ति या शोषण-हीनता की एक दूसरी कसौटी है। जिसमें अहिंसा का संचार हो गया है या हो रहा है, वह काते बिना और खादी पहने बिना रह ही नहीं सकता, यह महात्माजी का निश्चित मत है। ऊपर-ऊपर देखने से यह बात एकाएक किसी की समझ में न आवेगी, क्योंकि जो खादी को महज एक कपड़ा और कातने की एक शारीरिक क्रिया मानते हैं उन्हें इसे समझने में अवश्य कठिनाई पेश आ सकती है। परन्तु खादी का इतना ही अर्थ करना और समझना खादी के महान् उद्देश्य को न समझने जैसा है। यह निर्विवाद है कि वही समाज-व्यवस्था और समाज-रचना मानव-जाति के लिए सुख, शान्ति और स्वतन्त्रता देने वाली हो सकती है, जिसमें सब परस्पर प्रेम, सहयोग और न्याय का व्यवहार करें। इन गुणों की वृद्धि के लिए अहिंसा-वृत्ति का विकास होना जरूरी है। या यों कहें, कि अहिंसा का

ही दूसरा नाम प्रेम, सहयोग और न्याय की भावना है। खादी में ये तीनों भावनाएं निहित हैं। खादी के द्वारा परिश्रम का न्यायोचित बँटवारा जितना अच्छी तरह हो सकता है, उतना और किसी पद्धति से होता हुआ नहीं दिखाई देता। इसकी क्रियाओं में जो जैसा परिश्रम करते हैं, उसके अनुसार उसका वाजिब मेहनताना स्वाभाविक रूप में उन्हें मिल जाता है और उसके नफे को सीधा हड़पने वाली कोई तीसरी शक्ति नहीं ठहर सकती। नीचे ठेठ किसान से लेकर ऊपर पहनने वालों तक सभी लोगों के सहयोग की उसमें जरूरत है और सभी का सहयोग वह बढाती है। इसका सारा आधार समाज से मुनाफा, शोषण, स्वार्थ-साधन आदि हिंसात्मक वृत्तियों को मिटाने वाली शिक्षा पर है। इसलिए यह शुद्ध अहिंसा या प्रेम की निशानी है। इतना सब भाव एक 'खादी' शब्द के अन्दर छिपा हुआ है। अतः सत्याग्रही को चाहिए कि इसके प्रचार में प्राणपन से जुट पड़ें। खादी खरीद कर पहन लेने से संतोष न मानें, खुद कातने वाले बन जायं और जब सचमुच कातने लगेंगे और खादी के पूर्वोक्त भाव का मनन करते रहेंगे तो वे देखेंगे कि वे समाज से शोषण को मिटा रहे हैं और आज से अधिक अहिंसा-विकास वे अपनेमें पायेंगे।

४ : शंका-समाधान

परन्तु सत्य और अहिंसा के इन श्रेष्ठ सिद्धान्तो पर अनेक तर्क वितर्क और शंकाएं की जाती हैं। उन पर भी यहां विचार कर लेना उचित होगा। वे इस प्रकार हैं—(१) यदि समाज में हम सत्यवादी और अहिंसक बनकर रहें, तो चोर-डाकू हमें लूट न ले जायँगे? (२) अत्याचारी हमें बरबाद न कर देंगे? (३) दुराचारियों के हाथों समाज और व्यभिचारियों के हाथों बहन-बेटियों की रक्षा कैसे होगी? (४) दूसरे सशस्त्र समाज या देश हमें निगल न जायँगे? (५) फिर इनका पालन है भी कितना कठिन? यह तो योगी-यतियों और साधु-सन्तों के किये ही हो सकता है। झूठ बोले और डर बताये बिना तो समाज में एक मिनट काम नहीं चल सकता। (६) फिर अबतक इतिहास में किसी ऐसे समाज या देश का उदाहरण भी तो नहीं मिलता कि जहां सत्य और अहिंसा मनुष्य का दैनिक जीवन बन गया हो। (७) मनुष्य के आदिम काल में भी तो गण-तंत्र और प्रजातंत्र थे—पर क्या वहां सत्य

और अहिंसा का ही साम्राज्य था ? (८) जिन ऋषि-मुनियों ने या विचारकों अथवा दार्शनिकों ने इन तत्वों को खोज निकाला है उन्हींके जमाने में ऐसे समाज के अस्तित्व का पता नहीं मिलता—फिर अब इस विज्ञान और बुद्धिवाद के युग में, इन बातों का राग अलापने से क्या फायदा ? (९) बुद्ध, महावीर और ईसामसीह तो सत्य और अहिंसा के महान् प्रचारक और हामी हुए हैं न ? क्या वे संसार को सत्य और अहिंसामय बना गये ? बल्कि इसके विपरीत यह देखा जाता है कि बौद्ध और ईसाई आज सबसे बड़े हिंसक साधनों को अपनाये हुए हैं और जैन बुजदिल बने बैठे हैं ! ! (१०) हिंसा तो जब प्रकृति में भरी हुई है, जब खुद ईश्वर प्रकृति का ही एक रूप हिंसा-प्रधान है, तब मनुष्य में से उसे हटाने का प्रयत्न कैसे सफल हो सकता है और इस प्रकार प्रकृति और ईश्वर के विरुद्ध चलने की आवश्यकता भी क्या है ? (११) यदि लेनिन अहिंसा का नाम जपता रहता तो क्या आज बोलशेविक क्रान्ति द्वारा वह संसार को चकित कर सकता था ? (१२) क्या अशोक ने अहिंसा की दुहाइयां देने और ढिंढोरा पिटवाने का प्रयत्न नहीं किया ? तो क्या लोग अहिंसक और सज्जन बन गये ? दुर्जनों का अन्त आ गया और वे सुधर गये ? (१३) और यदि एक समाज अथवा राष्ट्र निःशस्त्र रहने या नीतिमान बनने का बीड़ा भी उठा ले, तो जबतक दूसरे सभी समाज और राष्ट्र इन बातों को न अपनायें तबतक अकेले के बल पर काम कैसे चल सकता है ? उसकी सिधाई, भलमनसाहत और निःशस्त्रता का लाभ उठाकर दूसरे समाज और राष्ट्र उसे डकार न जायंगे ? (१४) क्या युधिष्ठिर तक को प्रसंग पड़ने पर झूठ नहीं बोलना पड़ा ? राम और कृष्ण ने दुष्टों का दलन करने के लिए हथियार नहीं उठाये ? क्या कृष्ण ने असत्य और कपट का आश्रय नहीं लिया ? गीता के रचयिता से बढ़कर तुम अपनेको ज्ञानी और होशियार समझते हो ? (१५) समाज का लाभ मुख्य है। जिस किसी साधन से वह सिद्ध हो, वही हमारे अपनाने लायक है। हम साधन को उद्देश्य से बढ़कर नहीं मानना चाहते। उद्देश्य को भूलकर वा समाज-हित को बेचकर हम किसी तरह सत्य और अहिंसा पर चिपके रहना नहीं चाहते। यह अन्ध-श्रद्धा है और हम इसके कट्टर विरोधी हैं। (१६) हम बुद्धिवादी और विज्ञानवादी हैं; जब जैसा मौका देखते हैं काम करते हैं। उन्हीं बातों को मानते हैं, जिनका कारण, हेतु और लाभ समझ में आ जाय। अन्धे की तरह

जिन्दगी भर एक ही दवा पीने के लिए, एक ही सड़क पर चलने के लिए हम तैयार नहीं। (१६) कौन कह सकता है कि कपट का आश्रय लेने वाले या शस्त्र बांधनेवाले उपकारी, आदर्शवादी या देशभक्त नहीं थे? शिवाजी, प्रताप, क्या देश-सेवक न थे? लेनिन क्या रूस की जनता का महान् उद्धारक नहीं साबित हुआ है? (१८) अत्यन्त सत्य का पालन करने वाला व्यवहार में भोंदू और बुद्धू ठहरता है और अत्यन्त अहिंसा का पालक कायर और निर्वीर्य। दूसरे उसे ठगकर ले जाते हैं, बेवकूफ बना जाते हैं, डरा धमकाकर अपना मतलब साध लेते हैं और वह सत्य और अहिंसा का पल्ला पकड़े रहकर रोता बैठा रहता है। आदि आदि।

इनका समाधान—

(१) सत्यवादी और अहिंसक बनने का परिणाम तो उलटा यह होगा कि चोर-डाकू भले आदमी बनने की कोशिश करेंगे। क्योंकि सत्य और अहिंसा का प्रेमी इस बात की खोज करेगा और उसका असली उपाय ढूंढ निकालेगा कि समाज में चोर-डाकू पैदा ही क्यों होते हैं? भौतिक आवश्यकताओं का पूरा न होना और मन के अच्छे संस्कारों की कमी ही चोर-डाकुओं की जननी है। अतएव सत्यवादी और अहिंसक या यों कहें कि एक सत्याग्रही या सच्चा स्वतन्त्र मनुष्य समाज के उस ढांचे को ही, उस नियम को ही बदल देगा, जिसमें आज, औरों के मुकाबले में, उनकी भौतिक आवश्यकताएं पूर्ण नहीं होती हैं। फिर वह सत्-शिक्षा और सत्-संस्कारों के प्रचार में अपनी शक्ति लगावेगा, जिससे उनका विवेक-बल जाग्रत होगा और वे रफ्ता-रफ्ता हमारे ही सदृश भले आदमी बनकर चोर-डाकू बनना अपने लिए अपमान, शर्म और निन्दा की बात समझेंगे। समाज में आज भी यदि बहुतांश लोग चोर-डाकू नहीं हैं तो इसका कारण यही है कि उनके लिए भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति और मानसिक विकास के सब दरवाजे खुले हैं। इसी तरह इन दो बातों की सुविधा होने पर वे भी अपनी बुराई क्यों न छोड़ देंगे?

पर हां, जबतक उनका सुधार नहीं हो जाता तबतक उनके उपद्रवों का डर रह सकता है। हमारी अपनी सरकार होते ही ५-१० साल के अन्दर ऐसी स्थिति पैदा की जा सकती है कि सरकार के तथा खानगी प्रयत्नों से उनके खाने-पीने आदि का सुप्रबन्ध हो जाय और उनके मन पर भी इतने संस्कार डाले जा सकते हैं, जिससे वे इस बुराई को छोड़ दें।

अपनी सरकार होते ही सत्याग्रही का यह कर्तव्य होगा कि एक ओर तो वह सरकार पर प्रभाव डाले कि वह समाज-रचना के विषयों में आवश्यक सुधार करे और दूसरे स्वतः भी अपनी शक्ति उनके मानसिक विकास और आचारिक सुधार में लगावे। उनके सुधार होने तक यदि सशस्त्र पुलिस और जेल आदि रख भी लिये जायं तो हर्ज नहीं है। हां, ये होंगी कम से कम बल-प्रयोग करनेवाली। पुलिस का काम रक्षा करना और जेल का काम सुधार करना होगा। फिर यदि समाज में अधिकांश लोग सत्याग्रही वृत्ति के होंगे तो अव्वल तो उनके पास इतना धन-दौलत ही न होगा जो चोर-डाकू उन्हें लूटने के लिए उत्साहित हों, दूसरे जिनके पास होगा भी और वे लूटे भी जायंगे तो उनकी अहिंसा-वृत्ति उनसे बदला लेने की कोशिश न करेगी। या तो वे खुद ही आगे होकर, यह समझ कर कि ये पेट के लिए बुराई करते हैं, अपने पास से उनको आवश्यक सामग्री दे देंगे, या उनके बलपूर्वक ले जाने पर वे उन्हें सजा दिलाना न चाहेंगे, उलटा उनके सुधार और सेवा का उद्योग करेंगे, जिसका कुदरती असर यह होगा कि वे शर्मिन्दा होंगे, अपनी बुराई पर पछतावेंगे और उसे छोड़ने का उद्योग करेंगे।

फिर अहिंसकों के मुकाबले मे हिंसकों को ही उनसे तथा अत्याचारियों से हानि पहुँचने का अधिक डर रहेगा, क्योंकि वे अपनी प्रतिहिंसा के द्वारा उनके बुरे और हिंसक भावों को बढ़ाते और दृढ़ करते रहते हैं। इसके विपरीत अहिंसक उनकी बुराई और हिंसा का बदला भलाई और प्रेम तथा सेवा के द्वारा चुकावेगा, जिससे वे उसके मित्र बनेंगे और अपना सुधार करेंगे। इसका एक यह भी सुफल होगा कि अहिंसक लोगों की वृत्ति का सुफल देखकर हिंसक भी अहिंसक बनने का प्रयत्न करेंगे, जिससे चोर-डाकुओं एवं अत्याचारियों की जड़ और भी खोखली हो जायगी। जब हम जेल को सुधार-गृह बनाकर, जगह-जगह और खासकर ऐसे ही उपद्रवी लोगों में पाठशालाएं खोलकर, मौखिक उपदेश, साहित्य और अखबार तथा अपने सदाचरण के उदाहरण के द्वारा एवं समाज के ढांचे में परिवर्तन कर के सारा वातावरण ही बदल देंगे तो फिर चोर, डाकुओं और अत्याचारियों के उपद्रवों की शंका रह ही कैसे सकती है? आज तो हम उनके रोगों का असली इलाज कर नहीं रहे हैं—अपनी स्वार्थी और हिंसक-प्रवृत्तियों द्वारा उलटा उनको बढ़ावा ही दे रहे हैं और फिर उनका डर बताकर अपनेको सज्जन और सत्या-

ग्रही बनाने से हिचकते हैं। यह उलटी गंगा नहीं तो क्या है ?

(२), (३), (४) चोरों और डाकुओं के बाद अत्याचारियों में उन्हीं लोगों की गणना हो सकती है जो या तो समाज में किसी तरह, ज़ोरो-जब्र से सत्ता को हथियाना चाहते हैं, या किसीकी बहन-बेटी पर बलात्कार करना चाहते हैं। सत्ताभिलाषी स्वदेश के कुछ व्यक्ति या समूह तथा पड़ौस के विदेशी लोग या राष्ट्र दोनों हो सकते हैं। स्वदेश के लोग दो प्रकार के होंगे जो सत्ता को हथियाना चाहेंगे—एक तो वे जो समाज और सरकार में अपनी पूछ कम होजाने के कारण या सत्ता छिन जाने के कारण उससे असन्तुष्ट होंगे और दूसरे वे जो तत्कालीन सत्ता या सरकार को काफी अच्छा न समझते होंगे। पहले प्रकार के लोग स्वदेशी राष्ट्रों से सांठ-गांठ करके भी उपद्रव मचा सकते हैं और पड़ौसी राष्ट्रों को आक्रमण के लिए बुला सकते हैं। परन्तु अव्वल तो इतने बड़े बलशाली और प्रभुताशाली ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लेनेवाले लोग और उनकी बनी सरकार[1] इतनी कमज़ोर, अकुशल और अप्रिय न होगी कि स्वदेश के उपद्रवी लोगों का इलाज शान्तिपूर्वक न कर सके और यदि थोड़े समय के लिए उसे बलप्रयोग की आवश्यकता हुई भी तो वह उससे पीछे न हटेगी। वह उन लोगों के भी सुख-सुविधा, सन्तोष आदि का इतना ध्यान रक्खेगी और उनके अन्दर ऐसा संस्कार डालने का प्रयत्न करेगी जिससे उनके असन्तोष की जड़ ही कट जाय। पड़ौसी राष्ट्रों से वह सन्धि कर लेगी, उन्हें निर्भयता का आश्वासन देकर उनसे मित्रभाव रक्खेगी और समय पड़ने पर बन्धुभाव से उनकी सहायता भी करेगी। उनकी विपत्तियों में वह मित्र का काम देगी, तो फिर वे व्यर्थ ही क्यों हमपर आक्रमण करने लगेंगे ? फिर आज-कल यों भी अपने-अपने देश में स्वतंत्र और सन्तुष्ट रहने की मनोवृत्ति प्रत्येक राष्ट्र में प्रबल हो रही है। ऐसी दशा में यह आशंका रखना व्यर्थ है, और इतना करते हुए भी जबतक उनसे ऐसी किसी प्रकार के हमले की संभावना है तबतक राष्ट्रीय रक्षक सेना भी, अपवाद के तौर पर, रक्खी जा सकती है। सत्याग्रही सरकार तो एक विशेष लक्ष्य को लेकर, अपने आदर्शों की प्रचारिका बन

---

१. संसार के इतिहास में सामाजिक और राष्ट्रीय रूपमें सत्य और अहिंसा का प्रयोग पहली ही बार भारतवर्ष में हो रहा है, इसलिए प्रधानतः उसी को ध्यान में रखकर इन अध्यायों की रचना की गई है। —लेखक

कर स्थापित होगी; अतएव उसका प्रयत्न तो केवल पड़ौसी राष्ट्रों को ही नहीं, बल्कि सारे भू-मण्डल को अपने प्रचार के प्रभाव में लाना होगा। और चूंकि उसका मूलाधार हिंसा, प्रतिहिंसा, लूट आदि न होंगे, इसलिए दूसरे राष्ट्र उसके प्रति सिवा मित्रभाव के दूसरा भाव रख ही न सकेंगे।

अब रह गई दुराचारियों और बहन-बेटियों पर बलात्कार करनेवालों की बात। सो अव्वल तो सत्याग्रही अर्थात् सज्जन समाज में यों ही नीति और सदाचार का बोलबाला होगा, जिससे ऐसे दुष्टों का दुराचार और बलात्कार का हौंसला बहुत कम हो जायगा। और आज भी बलात्कार के उदाहरण तो इने गिने ही होते हैं। छिपे या प्रकट दुराचार का कारण तो है गुलामी और सन्नीति-प्रचार की कमी। सो अपनी सरकार होते ही गुलामी तो चली ही जायगी और नीति तथा सदाचार के प्रचार और उदाहरण से इन बुराइयों को निर्मूल करना कठिन न होगा। यदि वातावरण और लोकमत इन बुराइयों के खिलाफ रहा और सरकार ने समाज में सदाचार को सर्वप्रथम स्थान दिया तो कोई कारण नहीं कि ये बुराइयां समाज में रहने पावें।

अक्सर यह भी पूछा जाता है कि बलात्कारियों और अत्याचारियों से साबका पड़ने पर झूठ बोलकर या बल-प्रयोग करके काम चलाये बिना कैसे रह सकते हैं? यदि झूठ बोलनेसे किसीकी जान बचती हो, एक छोटी या थोड़ी हिंसा करने से बड़ी और अधिक हिंसा से समाज बच जाता हो, तो उसका अवलम्बन क्यों न किया जाय? सो अव्वल तो ऐसे बलात्कारियों और अत्याचारियों के उदाहरण समाज में इने-गिने होते हैं। मैंने अपने कितने ही मित्रों से यह सवाल पूछा है कि आपके सारे जीवन में कितने ऐसे प्रसंग आये हैं, जब एक अत्याचारी तलवार या पिस्तौल लेकर आपके सामने खड़ा हो गया है और आपको झूठ बोलकर जान बचानी पड़ी हो, या कोई बलात्कारी आपकी आंखों के सामने तलवार के बल किसी स्त्री पर बलात्कार करने पर उतारू हुआ हो और आपके सामने झूठ बोलने या उसे मार डालने की समस्या पैदा हुई हो? प्रत्येक पाठक यदि इस प्रश्न का उत्तर दें तो वह सहज ही इस नतीजे पर पहुँच जायगा कि ऐसी दुर्घटनाएं आज भी समाज में इक्की-दुक्की, अपवाद-रूप ही, होती हैं। चोर-डाकू, दुराचारी और बलात्कारी का दिल खुद ही इतना कमजोर होता है कि किसीकी आहट

पाते ही, जरा भी भय की आशंका होते ही, उसके पैर छूटने लगते हैं। ऐसी दशा मे अपवाद-रूप उदाहरणों को इतना महत्त्व देकर समाज-व्यवस्था के मूल-भूत नियमों और सिद्धान्तों का महत्त्व कम करना, या उनको गौण-रूप देना किसी प्रकार उचित नहीं है। दूसरे यदि मनुष्य सचमुच सत्याग्रही, या पूरे अर्थ में सज्जन है, तो उसकी उपस्थिति का नैतिक प्रभाव, जो भी उसके साथ या सामने हो, उसपर पड़े बिना नहीं रह सकता। यदि कहीं इने-गिने अवसर जीवन में ऐसे आते भी हैं कि मनुष्य सत्य और अहिंसा का पालन करते हुए बड़े धर्म संकट में पड़ता है, तो उसे सजग और दृढ़ रहकर अपने नियम पर डँटे रहना चाहिए। वास्तविक सत्य और अहिंसा का प्रभाव तो कभी विफल हो ही नहीं सकता; किन्तु यदि मान भी लें कि इनका अवलंबन करने से ऐसे समय में कुछ हानि, किसीकी गिरफ्तारी, वध, सतीत्वहरण, आदि न भी बच सके, तो वह उतना बुरा नहीं है, जितना झूठ या हिंसा का आश्रय लेकर ऐसे किसी प्रसंग पर तात्कालिक लाभ या बचाव कर लेना। मनुष्य के किसी भी कार्य का असर अकेले उसीपर नहीं होता। उसकी जिम्मेवारी जितनी अधिक होती है उतना ही उसका असर बढ़ता जाता है। उसे सदा इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि मुझसे कोई काम ऐसा न बन पड़े, जिसकी मिसाल लेकर दूसरे भी वैसा ही करने लगें। यदि एक सत्य या अहिंसावादी, आनबान के और परीक्षा के ऐसे अवसरों पर ही, अपने नियम से डिगने लगे तो उसकी सच्चाई और दृढ़ता ही क्या रही? यों तो आम तौर पर हर आदमी, जबतक कोई भारी दिक्कत नहीं आती, या कोई धर्म-संकट नहीं उपस्थित होता, तबतक नियमों का पालन करता ही है; आजमाइश का मौका तो उसके लिए ऐसे अपवादों और असमंजसताओं के समय ही होता है और उन्हींमें यदि वह कच्चा उतरा तो फिर वह बेपेंदी का लोटा ही ठहरेगा। जहां खतरे का या दृढ़ता का अवसर है वहां यदि वह दुम दबाने लगा, या डगमगाने लगा, तो फिर उसकी सच्चाई पर कौन विश्वास करेगा? यदि वह सचमुच सत्य और अहिंसा का कायल है, तो ऐसे प्रसंगों पर अव्वल तो आततायियों को समझाने और उनके दिल तथा धर्म को जाग्रत करने—अपील करने—का अवसर थोड़ा-बहुत जरूर रहता है। यदि इसमें वह विफल हुआ, या इसके लिए अवसर नहीं है, तो वह बजाय इसके कि खामोश देखता हुआ या भागकर अथवा छिपकर आततायी का मनोरथ पूरा होने दे, उसके

और मजलूम के बीच में पड़ जायगा और अपनी जान में जान है तब तक उसे अत्याचार या बलात्कार न करने देगा। एक बलात्कारी की क्या हिम्मत कि वह उसके प्राण लेकर भी बलात्कार पर आमादा रहे ? चोर-डाकुओं को उनकी इच्छित चीजें या तो खुद आगे होकर दी जा सकती हैं, या उनकी रक्षा में अपने प्राणों की आहुति दी जा सकती है। यदि हम सचमुच प्राणों को हथेली पर लिए फिरते हैं तो हमारे इस बलिदान का नैतिक असर या तो उसी समय या कुछ समय बाद खुद इन्हीं आततायियों पर और उनके दूसरे लोगों पर भी पड़े बिना न रहेगा। समाज के सामने भी हम नियम-पालन, निर्भयता और बलिदान की मिसाल पेश करेंगे, जिसका नैतिक मूल्य उसके लिए भी बहुतेरा होगा। आततायियों की आत्मा जाग्रत होगी, समाज में निर्भयता और बलिदान के लिए दृढ़ता आवेगी। यदि झूठ बोलकर ऐसी अवस्था में काम चलाया जाय तो मेरी राय में वह सिवा कायरता के और कुछ नहीं है। ऐसे अवसर पर भाग जाना और झूठ बोलना बराबर है। भाग जाना शारीरिक क्रिया है और झूठ बोलना मानसिक—इसलिए वह अधिक बुरा है। भाग जाने, या झूठ बोलने वाले की अपेक्षा तो आततायी को मार डालने वाला ज्यादा बहादुर है—लेकिन बिना हाथ उठाये, उनके अज्ञान और आवेग पर दया लाकर, अपनी आहुति दे देनेवाला सब तरह श्रेष्ठ, वीर, आदरणीय और अनुकरणीय होता है। अहिंसक में एक नंबर की बहादुरी होती है। वह खतरे से नहीं घबराता, दूसरे की रक्षा, सहायता के लिए जीवन का कुछ मूल्य नहीं समझता, मृत्यु उसके सामने एक भय नहीं बल्कि एक सखी होती है और जिसे मृत्यु का अथवा और संकटों एवं आपत्तियों का भय नहीं है उसके लिए अत्याचारियों और बलात्कारियों के सामने कायरता दिखाने का मौका और प्रश्न ही क्या है ?

(५) यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जो बात बहुत सीधी, सरल, सुसाध्य और स्वाभाविक है वह कठिन समझी जाय। क्या सच बोलने और सच कहने से ज्यादा आसान झूठ बोलना और उसे निबाहना है ? एक झूठ को छिपाने या मजबूत बनाने के लिए आदमी को और कितना झूठ बोलना पड़ता है, कितनी उलझनों और परेशानियों में पड़ना पड़ता है और अन्त को पोल खुलने पर उसे कितना बदनाम होना पड़ता है, अपनी सारी साख खो देनी पड़ती है। क्या इससे कठिन और हानिकारक सच का बोलना और करना है ? क्या किसीके साथ प्रेम करना, दया

दिखाना, माफ कर देना ज्यादा मुश्किल है, बनिस्बत उससे घृणा या द्वेष करने या मार-पीट करने और मार डालने के ? जरा दोनों क्रियाओं के परिणामों पर तो गौर कीजिए ! हमारे मन पर प्रेम, सच्चाई, क्षमा, सहयोग, उदारता, उपकार के संस्कार अधिक होते हैं या असत्य और हिंसा, घृणा, द्वेष आदि दुर्विकारों के ? खुद अपने, कुटुम्ब के तथा समाज के और पशु-पक्षी के भी जीवन को हम बारीकी से देखेंगे तो हमको पता चलेगा कि पहले प्रकार के संस्कार अधिक हैं और इसीलिए यह समाज एवं संसार टिका हुआ है। तो फिर मनुष्य के लिए अधिक सरल, सुसाध्य और स्वाभाविक बात क्या होनी चाहिए—सत्य और अहिंसा का पालन या असत्य और हिंसा का ? जिसके परिणामों का स्वागत करने के लिए लोग उत्सुक रहते हैं वह, या जिसका विरोध और प्रतिरोध करने पर तुले रहते हैं वह ?"

भला कोई बतावे तो कि योगी-यति कहे जाने वालों और सांसारिक पुरुष कहे जाने वालों के जीवन-नियमों में फर्क क्या है ? क्या सांसारिक मनुष्य पूर्ण स्वतंत्रता का उपासक नहीं है ? यदि है तो वह सत्य और अहिंसा की अवहेलना कैसे कर सकता है ? योगी-यति या साधु-सन्त तो हम उन लोगों को कहते हैं, जिनकी रग-रग में ये दोनों बातें भर गई हैं। ऐसी दशा में तो जिन लोगों को सच्चा स्वतंत्र, पूरा मनुष्य हमें कहना चाहिए और जिनके जीवित आदर्शों को देख-देख हमें अपना जीवन स्वतंत्र और सुखी बनाना चाहिए, उनकी हम मखौल उड़ाकर स्वतंत्रता के पाये को ही ढीला कर डालना चाहते हैं ! जो मन, कर्म और वचन से जीवन के अच्छे नियमों का पालन करता है वही योगी यति और साधु-सन्त है। किसी गृहस्थ या सांसारिक समझे जाने वाले व्यक्ति के लिए मन-कर्म-वचन से सच्चा होना क्यों मुश्किल, मुजिर और बुरा होना चाहिए, यह समझ मे नहीं आता। झूठ बोल देने, या मारपीट कर देने से थोड़े समय के लिए काम बनता हुआ भले ही दिखाई दे; पर आगे चलकर और अन्त को उसकी साख उठे बिना एवं उसपर प्रतिहिंसा का आक्रमण हुए बिना न रहेगा, जिसकी हानि सत्य और अहिंसा का पालन करने में दिखाई देने वाली कठिनाइयों से कहीं बढ़कर होगी। सत्य और अहिंसा का पालन करने के लिए तो सिर्फ स्वतंत्रता के प्यार की, हृदय को सच्चा और सरस बनाने की आवश्यकता है। क्या यह बुरी और कठिन बात है ? मनुष्य का यह सबसे बड़ा भ्रम है कि झूठ बोले बिना संसार में

एक मिनट काम नहीं चलता। जैसे हम होंगे वैसा ही समाज बनायेंगे। यदि आज समाज गिरा हुआ है, पिछड़ा हुआ है, उसमें झूठ पाखण्ड और हिंसा का बोलबाला है और यदि हम सच्चे मनुष्य और स्वतंत्रता के प्यासे हैं, तो हमारे लिए अधिक आवश्यक है कि हम दृढ़ता और उत्साह से इन नियमों का पालन और प्रचार करके समाज को सुधारें। गंदे, गिरे और पिछड़े समाज मे यदि ये बातें कठिन, हानिकर और भयंकर प्रतीत होती हैं, तो स्वच्छ, उठे और आगे बढ़े समाज में क्यों होने लगीं? और यदि अच्छी, हितकर बातें कठिन हों, महँगी भी हों, तो भी वे प्राप्त करने और रखने योग्य हैं; तथा बुरी बातें यदि आसान और सस्ती भी हों तो भी छोड़ने और फेंक देने योग्य है। अच्छी बातें शुरू में कठिन होनेपर भी आगे चलकर आसान हो जाती हैं। और बुरी बातें शुरू में आसान होने पर भी अन्त में उलझन और परेशानी में डाल देती हैं—यह किसे अनुभव नहीं होता है? संसार मे शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो, जिसने सत्य के बजाय झूठ को और प्रेम के बजाय द्वेष को अपने जीवन का धर्म माना हो और जो सदा-सर्वदा झूठ ही बोलकर, गालियां ही देकर या मारपीट कर ही जीवन-यापन करता हो। यदि यह ठीक है, और झूठ या भयप्रयोग अर्थात् हिंसा मनुष्य की कमजोरी के साथ थोड़ी रियायत-मात्र है, केवल अपवाद है, तो फिर यह कहना कहां तक ठीक है कि झूठ और धमकी के बिना संसार का काम चल ही नहीं सकता। आज जो झूठ और भय-प्रयोग दिखाई दे रहा है या उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है उसका कारण यही है कि हम अपनी कमजोरियों से बिल्कुल ऊपर उठने का सतत प्रयत्न नहीं करते हैं, रियायतों से लाभ उठाने और सुविधाएं भोगने का आदी हमने अपने को बना रक्खा है, अपनी वर्तमान नर-पशुता को ही हमने मनुष्यता समझ रक्खा है। मनुष्य ने अभी तक सामूहिक रूप से सच्ची मनुष्यता या सामाजिकता के पूरे दर्शन नहीं किये है, और जिस हद तक किये हैं, उनका पालन करने में वह सदा ही एक-से उत्साह से अग्रसर नहीं रहा है। इसपर यह कहा जा सकता है कि यह सृष्टि तो ऐसी ही चली आ रही है, और चलती रहेगी—मनुष्य और समाज को पूर्ण और आदर्श बनाने की उछल-कूद चार दिन की चांदनी से अधिक नहीं रह सकती तो इसका उत्तर यह है कि फिर मनुष्य में बुद्धि और पुरुषार्थ नामक जो महान् गुण और शक्तियां हम देखते हैं उनका क्या उपयोग? यह

तो काहिली और अकर्मण्यता की दलील प्रतीत होती है।

(६) इतिहास में ऐसे व्यक्तियों के तो उदाहरण जरूर मिलते हैं, जिनकी मानवी उच्चता, श्रेष्ठता और भव्यता को लोग मान रहे हैं। बहुत दूर के ऋषि-मुनियों को जाने दीजिए—ऐतिहासिक काल के बुद्ध, महावीर, ईसा, सेंट फ्रांसिस ऑफ एसिसि, तुकाराम, रूसो, टॉल्सटॉय, थोरो और वर्तमान काल के रोमा रोलां तथा महात्मा गांधी के ही नाम इसके लिए काफी हैं। इतिहास में यदि किसी अहिंसा और सत्य के पुजारी देश या समाज का उदाहरण नहीं मिलता तो क्या इससे यह सिद्ध हो सकता है कि इतिहास का बनना अब खतम हो चुका? क्या हम लोग कोई नया इतिहास नहीं रच सकते? मेरा तो खयाल है कि भारतवर्ष इस समय एक नये और भव्य इतिहास की नींव डाल रहा है। कुछ साल पहले जिस अहिंसा का मजाक उड़ाया जाता था और अहिंसा की दुहाई देनेवाला जो गांधी पागल और हवाई किले बनानेवाला समझा जाता था उसी अहिंसा के बल और संगठन की प्रशंसा आज सारे जगत् में हो रही है और वही गांधी आज महान् जागृति का नेता बन रहा है—हालांकि अभी तो यह शुरुआत-मात्र है। जब हम अपनी आंखों के सामने अहिंसा और सत्य के बल को फैलते और अपना चमत्कार बताते हुए देख रहे हैं तब इतिहास के खण्डहरों को खोदने की क्या जरूरत है?

(७) आदिम-कालीन गणतंत्रों और प्रजातंत्रों के टूटकर उनकी जगह बड़े-बड़े एकतंत्री साम्राज्यों के बनने का कारण यह है कि उनमें अहिंसा और सत्य का प्रचार नहीं था। जो-कुछ था वह यही कि छोटी-छोटी जातियां अपनी-अपनी पंचायतें बनाकर अपना मुखिया चुन लेती थी और अपना काम-काज चला लिया करती थीं। अपने मुखिया के अति-रिक्त और किसीका शासन वे न मानती थीं। उनकी स्वतंत्रता का अर्थ था—पंचायत के अधीन रहना। उनमें अपनी इच्छा के खिलाफ दूसरे से न दबने का तो भाव था; पर जातीयता या सामाजिकता को अक्षुण्ण रखने के लिए परम आवश्यक सत्य और अहिंसा की कमी थी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का न्याय प्रचलित था। लोग आपस में लड़ते-झगड़ते थे, और न्याय के लिए पंचायतों में उन्हें आना पड़ता था। नीति और सभ्यता उसमें थी तो; पर वह ज्ञानपूर्वक उतनी नहीं थी, जितनी परम्परागत थी। फिर भी उस समय की और अब की नीति और सभ्यता की परिभाषा में भी कितना अन्तर है! इन गणतंत्रों का टूट जाना और

उनकी जगह महान् साम्राज्यों का स्थापित होना उलटा इसी बात को सिद्ध करता है कि उनमें सत्य और अहिंसा की कितनी आवश्यकता थी।

(८) भारतीय ऋषि-मुनियों के समय मे सत्य और अहिंसा को सामाजिक रूप प्राप्त करने का अवसर इसलिए नहीं मिला कि उस समय में समाज के पूर्ण परिणत रूप की कल्पना के इतने स्पष्ट दर्शन नहीं थे। उनके काल में यद्यपि नीति का प्रचार था, राजा या मुखिया लोग भी जनता का हित-साधन करते थे; फिर भी शस्त्र, सेना आदि सामाजिक आवश्यकताएं समझी जाती थीं। और यह निर्विवाद है कि जबतक समाज से झूठ और तलवार का पूर्ण बहिष्कार नहीं हो जाता, तब तक वह स्वाधीन किसी भी दशा मे नहीं हो सकता।

मेरी समझ मे नहीं आता कि विज्ञान और बुद्धिवाद सत्य और अहिंसा के विरोधक कैसे हो सकते है? सत्य की शोध तो विज्ञान का और सत्य का निर्णय बुद्धि का मुख्य कार्य ही ठहरा। विज्ञान और बुद्धिवाद का अर्थ यदि उपयोगितावाद लिया जाय तो सत्य और अहिंसा समाज के लिए महान् उपयोगी और कल्याणकारी साबित हुए बिना न रहेंगे—और अपवादरूप परिस्थितियों को साधारण स्थिति से भी अधिक महत्व देना न तो विज्ञान के अनुकूल होगा न बुद्धिवाद के। वैद्य रोगी की हालत देखकर दवा, पथ्य, अनुपान बतलाता है; पर बुखार में हैजे की दवा नहीं देता, और हृदयरोग को दूर करने के लिए धड़कन बन्द करनेवाली दवा नहीं देता। सत्य और अहिंसा सामाजिक रोगों की छोटी-छोटी औषधि नहीं हैं; बल्कि समाज की नींव हैं, जिनको हिलाकर समाज की रक्षा करना और उसे स्वाधीन बनाने का खयाल तक करना व्यर्थ है।

(९) बुद्ध, महावीर और ईसा ने जरूर सत्य और अहिंसा के जबरदस्त उपदेशों द्वारा मनुष्य-जाति को बहुत आगे बढ़ाया है। इतिहास मानव-विकास के अवलोकन-कर्त्ता इस बात से किसी प्रकार इन्कार नहीं कर सकते। अपने पैदा होने के समय की अपेक्षा उन्होंने मानव-समाज को उन्नति के पथ में अग्रसर होने के लिए बहुत जोर का धक्का दिया है। पीछे उनके अनुयायियों ने यद्यपि उनकी सत्शिक्षाओं का दुरुपयोग किया है, जिसके फलस्वरूप वे नीचे गिर गये हैं; पर उनकी शिक्षाओं और प्रेरणाओं से आज भी समाज लाभ उठा रहा है। वे साहित्य और समाज में फैल गई हैं। यदि इतिहास में से बुद्ध, महावीर, ईसा को

और मानव-जीवन में से उनकी सत्शिक्षाओं को निकाल दीजिए तो तुरन्त मालूम हो जायगा कि जगत् और मानव-जीवन कितना दरिद्र और दुःखी रह गया होता। मनुष्य मे अभीतक जो कमजोरियां, फिसल पड़ने और दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति बची हुई है उसका यह परिणाम है। अतएव इससे यह नतीजा नहीं निकला कि बुद्ध आदि अपने कार्य में विफल हुए, बल्कि यह कि मनुष्य को अभी दृढ़ता और निःस्वार्थता की साधना बहुत करना बाकी है। उसे इसमे सचेष्ट रहने की जरूरत है।

(१०) प्रकृति मे यदि हिंसा दीख पड़ती है और ईश्वर भी प्रसंगोपात्त हिंसा करता है तो इससे यह नतीजा हर्गिज़ नहीं निकलता कि मनुष्य भी हिंसा अवश्य करे। देखना चाहिए कि प्रकृति और ईश्वर ने मनुष्य को किस उद्देश्य से बनाया है। यदि उन्होंने उसके अन्दर स्वाधीनता के भाव पैदा किये हैं, साथ ही सामाजिकता भी कूटकर भर दी है एवं पुरुषार्थ और बुद्धि नामक दो शक्तियां उसे दीं है फिर, सरसता और स्नेह से भी उसे परिप्लुत किया है, तो फिर वह इन गुणों और शक्तियों का उपयोग क्यों न करेगा? प्रकृति और ईश्वर ने तो सृष्टि रच दी और उनके रहने और मिटने के नियम बना दिये। उसकी सृष्टि में अबतक मनुष्य से बढ़कर किसी जीव का पता नहीं लगा है। अतएव वह अपने से हीन जीवों का अनुकरण नही कर सकता। वह प्रकृति और ईश्वर की रचना में श्रेष्ठता, उच्चता, भव्यता का नमूना है और उसे यह सिद्ध करना होगा। फिर प्रकृति और ईश्वर से बढ़कर या उनके समान तो मनुष्य है नहीं, जो हर बात में इनकी बराबरी का दावा करे। यदि वह इनकी रचना है तो वह हर बात मे इनके समान हो भी कैसे सकता है? यदि वह इनसे बड़ा और श्रेष्ठ है तो इनके हीन गुणों का अनुकरण उसे क्यों करना चाहिए? इसके अलावा प्रकृति और ईश्वर की हिंसा मे कल्याण छिपा हुआ रहता है; मनुष्य की हिंसा में स्वार्थ। इसलिए भी वह उनका अनुकरण नहीं कर सकता।

(११) लेनिन का उदाहरण यहां मौजूं नहीं है। मेरा कहना यह नहीं है कि हिंसा 'शार्ट कट' का काम नहीं देती है, या मनुष्य-समाज मे अबतक उनके उपयोग का आदर नहीं चला आ रहा है। मेरा मतलब तो यह है कि यदि हमे समाज-रचना में पूर्ण स्वतंत्रता का आदर्श प्रिय है यदि हम मनुष्य-समाज को एक कुटुम्ब के रूप मे देखने के लिए उत्सुक है और यदि हमें कीड़ों-मकोड़ों की तरह जीवन बितानेवाले अपने करोड़ों

भाई बहनों को मनुष्यता के सच्चे गुणों से लाभान्वित करना है, तो हमें सत्य और अहिंसा का अवलम्बन किये बिना गुज़र नहीं है। लेनिन ने जो क्रान्ति की है और जिस तरह की समाज-रचना करनी चाही है वह अभी पूर्णता को कहां पहुँची है ? पूर्ण समाज की कल्पना में तो उसे भी अहिंसा को अटल स्थान देना पड़ा है और प्रत्येक विचारशील मनुष्य इसी नतीजे पर पहुँचे बिना न रहेगा। यदि रूस में उसे हिंसा का अवलम्बन शुरुआत में या थोड़े समय के लिए करना पड़ा तो एक तो यह उसके स्वभाव के कारण था, और दूसरे वहां वालों को अहिंसा के बल और परिणाम पर इतना भरोसा नहीं था, जितना अब हम भारतवासियों को होता जा रहा है। भारत की स्थिति जुदा है। हमने वह चीज पहले ही पाली है, जिसके लिए रूस को अभी और ठहरना होगा। तो हम यहां क्यों अपनी स्थिति के प्रतिकूल हिंसा का नाम लेकर खुश हों और अपने उद्देश के प्रतिकूल चलने में सुख और सन्तोष मानें ?

(१२) इसका उत्तर नं० ६ में आ जाता है। इतना और कह देने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि यदि बुद्ध, महावीर, ईसा-मसीह, अशोक आदि ने सत्य, प्रेम, दया, अहिंसा आदि का उपदेश और प्रचार जन-समाज में न किया होता और उनका असर लोगों पर न हुआ होता या न रहा होता तो आज महात्माजी के वर्तमान अहिंसा-संग्राम को न भारत में इतना सहयोग मिला होता और न संसार में उसकी इतनी कदर हुई होती।

(१३) यह दलील तो वैसी ही है, जैसी यह कि जबतक सारा समाज ऐसा न करे तबतक मैं अकेला क्यों करूं ? इस दलील में यदि कुछ सार ही होता तो मनुष्य-समाज का अबतक इतना विकास ही न हुआ होता। एक आदमी उठकर पहले एक चीज करके दिखाता है तब दूसरे उसे अपनाते हैं। पहले आदमी को अवश्य जोखिम उठानी पड़ती है। भारत इसके लिए तैयार हो रहा है। फिर अहिंसा और सत्य अर्थात् प्रामाणिकता के पक्ष में वह अकेला ही नहीं है। तमाम समाजवादी और कुटुम्बवादी समुदाय, तमाम आदर्शवादी लोग उसमें साथ हैं। सचाई और अहिंसा का मतलब बेवकूफी नहीं हैं, न बुजदिली ही है। जो सदा सजग रहता है, वही सत्य और अहिंसा का प्रेमी बन सकता है। भारत गुलाम इसलिए नहीं बना कि वह सत्य और अहिंसापरायण

था; बल्कि इसलिए कि उसमें फूट और स्वार्थ-साधना प्रबल थी। इसलिए दूसरे राष्ट्रों के डकार जाने का भय व्यर्थ है।

(१४) युधिष्ठिर ने यदि सारे जीवन में एक प्रसंग पर 'नरो वा कुञ्जरो वा' अर्द्ध सत्य कहा तो उससे कम अनर्थ संसार में नहीं हुआ है। उससे लाभ तो सिर्फ इतना ही हुआ कि अश्वत्थामा के पिता द्रोणाचार्य का वध हो गया; किन्तु हानि यह हुई कि आज लाखों लोग धर्मराज की इतनी-सी झूठ का सहारा लेकर बड़े-बड़े मिथ्याचार करते हैं और फिर भी अपने को निर्दोष समझते हैं। खुद युधिष्ठिर को नरक में से होकर स्वर्ग जाना पड़ा था और उनका एक अंगूठा गल गया था। यद्यपि महाभारतकार ने इतनी-सी झूठ को भी क्षमा नहीं किया, तथापि जन-समाज में वह आज भी बड़ी-बड़ी झूठों का आश्रय बनी हुई है। युधिष्ठिर की इस च्युति से सत्य की असंभवता नहीं प्रतीत होती, बल्कि खुद उनकी कमजोरी ही प्रकट होती है। इसी तरह कृष्ण ने यदि युद्धों में कपट का आश्रय लिया है या राम आदि ने दुश्मनों का संहार किया है तो इससे कपट और हिंसा की अनिवार्यता नहीं सिद्ध होती, बल्कि राम और कृष्ण-कालीन समाज की विकासावस्था पर प्रकाश पड़ता है। इससे तो एक ही नतीजा निकलता है कि उनके समय में युद्ध या राजनीति में थोड़ा-बहुत कपट शस्त्र-बल जायज समझा जाता था। पर आज दुनिया में ऐसे विचारशील और क्रियाशील पुरुष भी पैदा हो गये हैं, जिन्होंने सारे समाज और राष्ट्र के लिए कपट, झूठ और हिंसा के अनिवार्य न रहने की कल्पना करली है और जिन्होंने इस दिशा में काम करके दिखाया हैं। इनके थोड़े से कार्य का भी फल संसार को आश्चर्य में डाल रहा है अतएव ठहर कर हमें इन प्रयोगों के पूर्ण फल की राह देखनी चाहिए। इतिहास या ऐतिहासिक पुरुष हमारा साथ न दें तो हमें घबराना न चाहिए, न निराश ही होना चाहिए।

(१५) यह दलील तो तब ठीक हो सकतीहै; जब सत्य और अहिंसा समाज या राष्ट्र-हित के विघातक हों। क्या कारण है कि प्रत्येक महापुरुष, प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय, प्रत्येक समाज-व्यवस्थापक ने सत्य और अहिंसा—सचाई और प्रेम—को सर्वोपरि नियम माना है? हां, राजनीति में युद्ध के समय शत्रु के मुकाबले में अपवाद-रूप कपट या हिंसा का मार्ग बहुतों ने खुला अवश्य रक्खा है, पर साथ ही उन्होंने इस बात की भी चिन्ता रक्खी है कि—"सत्यान्नास्ति परो धर्मः।" 'सत्यमेव जते

मानृतम्' 'अहिंसा परमोधर्मः' इन अटल और समाज के नींवरूप नियमों का महत्त्व किसी तरह कम न होने पावे। जिन महान् पुरुषों और नेताओं ने सत्य और अहिंसा की इतनी महिमा गाई है, या तो वे बेवकूफ थे, अन्धे थे, झूठे थे, या सांसारिक और सामाजिक लाभालाभ के अनुभवी थे। यदि आज भी हम अपने गार्हस्थ्य और समाज संचालन की जड़ों को टटोलें तो उनमें सत्य और अहिंसा ही अद्भुत और व्यापक रूप में कार्य करते हुए दिखाई देंगे। अतएव जिन नियमों पर समाज का स्थायी कल्याण और अस्तित्व अवलम्बित है उन्हें यदि समाज के धुरीण लोग इतनी उच्चता और महत्ता दें तो इसमें कौन आश्चर्य है? जरा कोई एक दिनभर तो झूठ ही झूठ बोलकर, दगा-फरेब ही करके; और मार-काट तथा गाली गुफ्ता ही कर के देख ले। एक ही दिन में वह अनुभव कर लेगा कि उसकी जिन्दगी कितनी मुश्किल हो गई है। जो लोग व्यवहार में झूठ और हिंसा का आश्रय ले के थोड़ा-बहुत काम चला लेते हैं वे थोड़े लाभों के लालच में बड़े लाभों को खो देते हैं, वे छोटे व्यापारी हैं, टटपूंजिये हैं। संसार में साख और ईमानदारी की इतनी महिमा क्यों है? और झूठे और प्रपंची आदमियों से भले आदमी क्यों दूर रहना पसन्द करते हैं? अतएव जो यह विचार रखते हैं कि सत्य और अहिंसा आदि सिद्धान्तों पर अटल रहने से समाज का घात होगा, या यह समझते हैं कि दीखने वाले समाज के लाभ के लिए झूठ और हिंसा का सहारा बुरा नहीं है—वे भ्रम में चक्कर काट रहे हैं। वे मुहरों को खोकर कोयलों को तिजोरियों में बन्द रखने की चेष्टा करते हैं। मनुष्य और समाज का सारा व्यवहार चारित्र्य शील पर चलता है। जो मनुष्य हाथ का सच्चा, बात का सच्चा और लंगोट का सच्चा होता है, वह समाज में सच्चरित्र कहलाता है। इन सच्चाइयों को खोकर कोई अपना हित साधना चाहे तो उसे जिस डाल पर बैठे हैं उसीको काटनेवाला न कहें तो और क्या कहेंगे? और यही नियम एक कुटुम्ब तथा समाज या राष्ट्र पर भी भली भांति घटित होता है। समाज का हित और उद्देश्य आखिर क्या है? पूर्ण तेजस्विता, पूर्ण स्वाधीनता, यही न? तो अब बताइए, कि ईमानदारी और स्नेह-सहानुभूति को खोकर कोई कैसे अपने समाज को तेजस्वी और स्वाधीन-वृत्ति बनाये रखने की आशा कर सकता है? यदि निमोनिया को जल्दी ठीक करने के लिए मैंने ऐसी दवा खाली, जिससे उलटा फेफड़ा ही बेकार हो

गया, तो मुझे समझदार और शरीर का हितचिन्तक कौन कहेगा? कामेच्छा की पूर्ति के सीधे रास्तों को छोड़ कर कोई मनुष्य वेश्या-संस्था की उपयोगिता और आवश्यकता का प्रचार करने लगे तो उसे जितना अक्लमन्द कहा जायगा उससे कम अक्लमन्द वह शख्स न होगा, जो झूठ-कपट और मार-काट को समाज के लिए अनिवार्य बतावेगा। मनुष्य के समाज-सुधार के आज तक के प्रयत्नों के होते हुए भी यदि कुछ बुराइयां उसमें शेष रह गई हैं तो उससे यह नतीजा नहीं निकलता कि अबतक के उसके प्रयत्न बेकार हुए हैं, बल्कि यह स्फूर्ति मिलनी चाहिए कि अभी और पूरे बल से उद्योग करने की आवश्यकता है।

(१६) समाज में दो प्रवृत्ति के लोग पाये जाते हैं—एक तो वे जो 'आज' पर ही दृष्टि रखते है; और दूसरे वे जो 'कल' पर भी नजर रखते हैं। पहले लोग अपने को 'व्यावहारिक', बुद्धिवादी या विज्ञानवादी कह कर दूसरे को 'आदर्शवादी' या सिद्धान्तवादी कहते हैं। इधर दूसरे दल के लोग पहले वर्गवालों को अ-दूरदर्शी और घाटे का सौदा करनेवाले कहते हैं। जमीन पर खड़े रहने वाले की अपेक्षा चोटी पर खड़े रहनेवाले को दूर-दूर की चीजें और दृश्य दिखाई पड़ते हैं। पर जमीन पर खड़े रहनेवाले को उसकी बातें हवाई मालूम होती हैं। इधर चोटीवाला उसके अविश्वास पर झल्लाता है। दोनों की कठिनाइयां वाजिब हैं। आदर्शवादी और सिद्धान्तवादी अपने आदर्श और सिद्धान्त पर इसलिए अटल बने रहना चाहता है कि उसे उनसे गिरनेकी हानियां स्पष्ट आती हुई दिखाई देती हैं। व्यवहारवादी, बुद्धिवादी या विज्ञानवादी इसलिए चकराता है कि उसे तात्कालिक लाभ जाता हुआ दिखाई देता है। वह उसे बटोर रखने के लिए उत्सुक होता है, तहां दूसरा बड़े लाभ को खोकर उसे प्राप्त करने के लिए नहीं ललचाता। उसकी उदासीनता और अटलता पहले को मूर्खता मालूम होती है, और पहले की यह उत्सुकता दूसरे को खोखलापन दिखाई देता है। सिद्धान्तवादी और आदर्शवादी को दूर के परिणाम स्पष्ट देख पड़ते है, इसलिए वह राह के छोटे-बड़े प्रलोभनों और कठिनाइयों से विचलित न होता हुआ तीर की तरह चला जाता है—इस दृढ़ता, निश्चय, को पहले लोग भ्रम में 'अन्ध-श्रद्धा' कहते हैं और अपनी अदूरदर्शिता तथा अस्थिरता को 'बुद्धिमानी'। बहुत परिश्रम करने पर भी मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि बुद्धि और विज्ञान कैसे हमें समाज-कल्याण के लिए झूठ-कपट और मार-काट के नतीजे पर

पहुँचा सकते हैं ? हां, यह बात जरूर है कि नियम या सिद्धान्त महज दूर से पूजा करने या व्याख्यान देने की चीज नहीं है। वे जीवन में उतारने; आचरण करने और मजा लेने की चीजें हैं। आप जीवन में उनका आनन्द लूटिए और कठिनाइयों, विपत्तियों, विघ्न-बाधाओं, आंधी-तूफानों के अवसर पर अलग रहिए, फिर देखिए आपकी बुद्धि को कितना भोजन, कितना उत्साह, कितना बल और कितना तेज एवं उल्लास मिलता है ! कठिनाइयों के अवसरों पर दुबक जानेवाली आपकी 'बुद्धिमत्ता' पर आपको अपने आप झेंप आने लगेगी—'जैसी हवा देखो वैसा काम करो', इस नियम का खोखलापन और दिवालियापन आपको समझाने के लिए किसी दलील की जरूरत न रहेगी।

(१७) जब यह कहा जाता है कि झूठ बुरा है, कपट बुरा है, हिंसा और शस्त्र-बल मनुष्य-जाति के लिए अपेक्षाकृत कल्याणकारी नहीं साबित हुआ है, यदि और सुधार भी कर दिये गये, पर झूठ, कपट या शस्त्र को समाज में स्थान रहने दिया गया तो मनुष्य शोषक और पशु ही बना रहेगा, तब यह अर्थ नहीं होता है कि जिन महान् पुरुषो ने अपने देश, जाति या धर्म की भलाई के लिए कभी-कभी झूठ-कपट का आश्रय लिया हो या शस्त्र-बल से काम लेना पड़ा हो तो वे देश-सेवक और उपकारक न थे। उनके लिए तो, आज के विचारों की रोशनी में, अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि यदि वे बिलकुल शुद्ध और निर्दोष साधनो से काम लेते तो और अधिक एवं स्थायी उपकार कर पाते। किंतु पूर्वोक्त कथन का यह अर्थ अवश्य है कि यदि महज प्रणाली को तो बदल दिया, पर मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाने का प्रयत्न नहीं किया, उसके हाथ में एक ओर तलवार रहने दी गई और दूसरी ओर झूठ-कपट का रास्ता खुला रहा, तो तलवार और शोषण को अमर ही समझिए; और तबतक स्वतन्त्रता के नाम की कोरी माला जपते रहिए, स्वतन्त्रता के नाम पर स्वतन्त्रता का बिगड़ा हुआ कोई रूप आप पावेंगे और फिर गुलामी के गड्ढे में गिर पड़ेंगे।

(१८) जहां सत्य और अहिंसा में सक्रिय प्रेम है वहां बुद्धूपन ठहर ही नहीं सकता। उसे धोखा देनेवाला खुद भी धोखे में रहता है, और धोखा खाता है। सत्य और अहिंसा के पालन करनेवाले को कदम-कदम पर विचार करना पड़ता है। सत्य का निर्णय करने के लिए उसे अपनी बुद्धि खूब दौड़ानी पड़ती है और उसे निष्पक्ष एवं निर्मल रखना

पड़ता है। सत्य के अनुयायी को यह ध्यान रखना पड़ता है कि मेरे कहने का भाव दूसरे ने गलत तो नहीं समझ लिया है। इसलिए उसे अपनी बात मे यथार्थता का पूरा ध्यान रखना पड़ता है। कितनी ही बातें न कहने लायक होती हैं—कितनी ही का कहना ज़रूरी हो जाता है। इसका उसे हमेशा विचार करना पड़ता है। अहिंसावादी होने के कारण उसे सदा अपनी बातों और व्यवहारों मे इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि दूसरे को अकारण ही दुःख तो नहीं पहुँच गया। भरसक बिना किसीको दुःख पहुँचाये वह अपने उद्देश्य में सफलता पाना चाहता है—इससे उसे बात-बात मे विचार और विवेक से काम लेना पड़ता है। सत्य का प्रेमी होने के कारण वह सजग रहने का प्रयत्न करता है। ऐसी दशा में कोई कैसे मान सकता है कि सत्य और अहिंसा का अनुयायी बुद्धू होता है और लोग उसे ठग लेते है? हां, वह उच्च, उदार-हृदय, क्षमाशील, विश्वासशील होता है, इसलिए इससे भिन्न प्रकृति के लोग उसे बुद्धू भले ही समझ लें; पर जिन्हें सत्य और अहिंसा के महत्व का कुछ भी ज्ञान और अनुभव है, वे ऐसा कदापि नहीं कह सकते। जहां बुद्धूपन होगा, वहां सत्य और अहिसा का अभाव ही होगा, अस्तित्व नहीं।

स्वतंत्रता—नीति के प्रकाश में

१ : धर्म और नीति

भारतीय स्वतंत्रता की साधना में धर्म, नीति, ईश्वर, विवाहप्रथा ये ऐसे विषय हैं जिन पर अक्सर चर्चा होती रहती है और एक ऐसा समूह देश में है जो इनका मखौल उड़ाता है और इन्हें जीवन के विकास के लिए अनावश्यक या हानिकर मानता है। अतएव यह आवश्यक है कि हम इन विषयों पर भी अपना दिमाग साफ कर लें और अपने विचार सुलझा लें। नीति के प्रकाश में हम स्वतन्त्रता के स्वरूप को देखें और समझें। हम यह भी जान लें कि धर्म, ईश्वर, विवाह इनका नीति से, समाज-विकास से, क्या सम्बन्ध है और समाज के उत्कर्ष में इनका कितना स्थान है। धर्म के नाम से चिढ़ उठनेवाले भाइयों को जब यह बताया जाता है कि सत्य, अहिंसा, पवित्रता, अस्तेय, अपरिग्रह, भूतदया, आदि धर्म के मुख्य नियम या अंग हैं तो वे या तो यह कह देते हैं कि ये आध्यात्मिक बातें हैं या उन्हें नीति-नियम बताकर धर्म से उनका नाता तोड़ देते हैं। अतएव हम देखें कि धर्म और नीति में क्या सम्बन्ध है और वे एक ही है या अलग-अलग।

नीति शब्द 'नय्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है ले जाना। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना। इससे यह भले प्रकार जाना जाता है कि नीति का काम है ले जाना, प्रेरणा करना, संकेत करना; और धर्म का कार्य है धारण करना, स्थिर करना, पुष्टि करना। नीति जिस काम का आरम्भ करती है धर्म उसका पोषण करता है। नीति पहली सीढ़ी और धर्म दूसरी सीढ़ी है। नीति पहली आवश्यकता और धर्म दूसरी या अन्तिम।[1]

एक मनुष्य का दूसरे से जब सम्बन्ध आता है और वे परस्पर व्यवहार के नियम बनाते हैं तब उनका नाम है नीति। पर जब हम व्यक्ति, समाज के धारण, पोषण और विकास के नियम बनाते हैं तब उनका

१ देखिये परिशिष्ट ५ व ६—'हिन्दू-धर्म की रूप-रेखा' और 'हिन्दू-धर्म का विराट रूप।'

नाम है धर्म। नीति को हम व्यवहार-नियम और धर्म को जीवननियम कह सकते हैं। इस अर्थ मे नीति धर्म का एक अंग हुई। व्यवहार नियम जीवन-नियम के प्रतिकूल या विघातक नही बन सकते। इसलिए नीति धर्म के प्रतिकूल आचरण नहीं कर सकती। वह धर्म की सहायक है, विरोधक और बाधक नहीं। धर्म के जितने नियम हैं, उन्हें हम स्थूल रूप मे नीति कह सकते हैं। उनका बाह्यांग नीति है और जब बाह्य और अन्तर, स्थूल और सूक्ष्म, दोनो रूपो और प्रभावों का ध्यान किया जाता है तब वे धर्म कहलाते है। उदाहरण के लिए चोरी न करना नीति भी है और धर्म भी है। केवल किसीकी भौतिक वस्तु को चुराना नीति की भाषा मे चोरी हुई, परन्तु मन में चोरी का विचार भी आने देना, मन से चोरी कर लेना, या आवश्यकता से अधिक धन का संग्रह करना धर्म की भाषा मे चोरी हुई। नीति का विकास और विस्तार धर्म है। नीति यदि मांडलिक है तो धर्म चक्रवर्ती है। नीति यदि अंश है तो धर्म सम्पूर्ण है। नीति के बिना धर्म लगडा है और धर्म बिना नीति विधवा है। नीति प्रेरक है और धर्म स्थापक। नीति मे गति है, जीवन है, धर्म में स्थिरता है, शान्ति है।

विचार के लिए जीवन भिन्न-भिन्न भागों मे बंट जाता है—सामाजिक, राजकीय, आर्थिक आदि। इसी कारण नीति और धर्म मे भी अंग-प्रत्यंग फूट निकले। केवल लोक-व्यवहार के नियम समाज-नीति, राज-काज के नियम राजनीति और अर्थ-व्यवस्था के नियम अर्थ-नीति कहलाये। ध्यान रखना चाहिए कि ये सब नीतियां परस्पर पोषक ही हो सकती है और होनी चाहिए। किसके मुकाबले में किसे तरजीह दी जाय यह प्रश्न जरूर उठता है। पर यह निर्विवाद है कि इन सबका सम्मिलित परिणाम होना चाहिए व्यवहार की सुव्यवस्था, जीवन का उत्कर्ष, जीवन का नियमन। राज-काज और अर्थ-साधन ये समाज-व्यवस्था और सामाजिक सङ्गठन के संयोजक हैं। इसलिए सामाजिक जीवन में राज-सत्ता या राजनीति को अथवा अर्थ-बल को इतनी प्रधानता कदापि न मिलनी चाहिए कि जिससे वे समाज को अपाहिज और पंगु बना डालें। नीति ऐसी अव्यवस्था को रोकती है और धर्म उसे बल प्रदान करता है। नीति में जहां केवल सद्व्यवहार का बोध होता है वहां धर्म में निरपेक्षता का भी भाव आता है। नीति बहुत अंशो तक सापेक्ष्य है, अर्थात् दूसरे से सदृश व्यवहार की आशा रखती है; परन्तु धर्म केवल अपने ही कर्त्तव्य

पर दृष्टि रखता है। दूसरा अपने कर्त्तव्य का पालन न करता हो, उसके लिए निश्चित नियम के अनुसार न चलता हो, तब भी धार्मिक मनुष्य अपने कर्त्तव्य से मुंह न मोड़ेगा; अपनी ओर से नियम का भंग न होने देगा। नीति का आधार न्याय-भाव है और धर्म का कर्त्तव्य-भाव या सेवा-भाव। सेवा-भाव का अर्थ है अपने हित को गौण समझकर दूसरे के हितको प्रधान समझना और उसकी पूर्ति मे अपनी शक्ति लगाना। न्याय समान-व्यवहार की आकांक्षा रखता है और कर्त्तव्य निरपेक्ष होता है। नीति जीवन-विकास की प्रथमावस्था है और धर्म अंतिम अथवा परिपक्व।

अब हम देख सकते हैं कि नीति और धर्म एक दूसरे से जुदा नही हो सकते। जीवन से तो दोनों किसी प्रकार पृथक् हो ही नहीं सकते। नीतिमान को हम सदाचारी कहते हैं, और धार्मिक उसे कहते है, जो निरपेक्ष-भाव से धर्म के नियमो का पालन करता है। जब हम बिना किसी अपेक्षा के, फलाफल की चिन्ता को छोड़कर, अपने कर्तव्य का पालन करते है तब उस भावना या स्पिरिट का नाम है धार्मिक-वृत्ति। यह धार्मिक-वृत्ति ही श्रद्धा की जननी है। यह विश्वास कि मेरा भाव और आचरण अच्छा है तो इसका फल अच्छा ही होगा, श्रद्धा है। धार्मिक जीवन के बिना यह दृढ़-विश्वास मनुष्य में पैदा नही हो सकता। यही कारण है, जो धार्मिक मनुष्य अक्सर कट्टर होते हैं। कभी-कभी उनकी कट्टरता हास्यास्पद हो जाती है, यह बात सही है; परन्तु यह तो उनकी वृत्ति का दोष नहीं, विवेक की कमी है।

यह विवेचन हमें इस नतीजे पर पहुंचता है कि नीति और धर्म के बिना मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन बालू पर खड़ा हुआ महल है। नीति और धर्म का मखौल उड़ाकर हम अपने कितने अज्ञान और अविवेक का परिचय देते है, यह भी इससे भली-भांति प्रकट हो जाता है। जब कि व्यवहार-नियम के बिना समाज-व्यवस्था असंभव है, जब कि निरपेक्षता के बिना और उन नियमो के सूक्ष्म और व्यापक पालन के बिना—अर्थात् धर्माचरण के बिना—समाज की स्वार्थ-साधुता या शोषण वृत्ति अतएव जन-साधारण का पीड़न मिट नहीं सकता तो नीति और धर्म की अवहेलना और दिल्लगी करके हम अपना और समाज का कौनसा हित-साधन कर रहे हैं, यह समझ में नहीं आता। हमें चाहिए कि हम हर बात को शान्ति और गहराई के साथ सोचें और फिर उसका

विरोध या खण्डन करें, अन्यथा हम समाज और स्वतंत्रता के सेवक बनने के बदले घातक सिद्ध होंगे।

२ जीवन और धर्म

यूरोप के जीवन में जो स्थान कानून का है, अमेरिका की नस-नस में जो महत्व विधान (Constitution) का है, उससे कहीं व्यापक और गहरा असर धर्म का भारतवर्ष के जीवन के अंग-अंग में पाया जाता है। यह ठीक है कि इसकी व्यापकता ने एकांगी और स्वार्थ साधु लोगों से बड़े-बड़े अनर्थ कराये हैं, काफी भ्रम और पाखण्ड को फैलाने का अवसर दिया है, जिसके फलस्वरूप एक ओर धर्म का शुद्ध तेज छिप-सा गया है और उसके बाह्य एवं बिगड़े हुए रूप को देखकर कुछ लोग उसी से घृणा करने लगे हैं। इसमें धर्म का कोई दोष नहीं है। मनुष्य के अन्दर अच्छी से अच्छी चीज का भी अपने स्वार्थ के लिए दुरुपयोग करने की जो प्रवृत्ति अबतक चली आ रही है वही इसकी जिम्मेदार है। समाज और राष्ट्र के प्रबन्ध-संचालन और संगठन के लिए अबतक अच्छे से अच्छे नियम और विधि-विधानों का आविर्भाव हुआ है। परन्तु मनुष्य की स्वार्थ-साधुता या शोषणवृत्ति ने उनको बिगाड़ कर ही छोड़ा है। ऐसी दशा में जानकार और जिम्मेदार मनुष्य का यही काम है कि वह बाहरी आवरणों और बुराइयों के अन्दर से चीज की असलियत को समझे, उसके प्रकाश को फैलावे और मनुष्य की दुरुपयोग करने की कुप्रवृत्ति को दूर करने का हार्दिक प्रयत्न करें।

धर्म वास्तव में उन नियमों या विधानों के संग्रह का नाम है, जिनके बल पर मनुष्य और समाज की लौकिक और आत्मिक उन्नति, पोषण और रक्षण होता रहे। इन नियमों में सत्य और अहिंसा का सर्वोच्च स्थान है। मनुष्य और ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्ध-मात्र को जो कहीं-कहीं धर्म बताया गया है, अथवा बाहरी क्रिया-कांडों को जो धर्म का सर्वस्व मान लिया गया है, वह एकांगी लोगों की धारणा का फल है। पारलौकिक, आध्यात्मिक या ईश्वर-सम्बन्धी विषय धर्म का एक अंग मात्र है, धर्म का सर्वस्व नहीं। भारतीय प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में धर्म के दो विभाग माने गये हैं। मोक्ष-धर्म और व्यवहार या संसार-धर्म। पारलौकिक, आध्यात्मिक या ईश्वर-सम्बन्धी विभाग को मोक्ष-धर्म और समाज-व्यवस्था समाजोन्नति-सम्बन्धी सांसारिक विभाग को संसार-धर्म

कहा गया है। लोग जो धर्म के नाम से चिढ़ उठते हैं उनका कारण यह है कि मोक्ष-धर्म और खासकर उसकी ऊपरी बातों पर इतना जोर दिया गया कि जिससे वह अनेकांश मे ढोंग रह गया और दूसरी ओर सामाजिक और राष्ट्रीय धर्म की इतनी उपेक्षा की गई कि जिससे दोनों अंगों की समतौलता और सामंजस्य बिगड़ गया। व्यावहारिक अथवा सांसारिक और आत्मिक या पारलौकिक जीवन मनुष्य का एक दूसरे से इतना मिला हुआ है, इतना एक दूसरे पर अवलम्बित है, कि किसी एक की उपेक्षा दूसरे का सत्यानाश है। मोक्ष-धर्म और उसके बाह्य अंगों पर जोर देने का परिणाम यह हुआ कि लोग प्रत्यक्ष जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाली बातों से उदासीन हो गये, पुरुषार्थी जीवन कोरा भाग्यवादी जीवन बन गया। और भारत आज अपने तमाम अच्छे संस्कारों के होते हुए भी गुलाम बना हुआ है। इसी तरह अब यदि केवल लौकिक, सामाजिक, व्यावहारिक या संसारी बातों को ही महत्व देकर जीवन के अत्यंत महत्वपूर्ण आत्मिक अंग की उपेक्षा की तो इसका परिणाम और भी भयंकर होने की सम्भावना है। बुनियाद या जड़ की तरफ ही हमेशा देखने वाला और मकान के खम्भो दीवारों, छतों की या पेड़ की डालियों और फल-फूलों की उपेक्षा करने वाला किसी दिन मकान को गिरा हुआ और पेड़ को निरुपयोगी पायेगा; और बुनियाद या जड़ से ध्यान हटाकर फलफूल और खम्भे दीवारों मे अटक रहने वाला जिस तरह किसी दिन यकायक अपने मकान और पेड़ को गिरा और सूखा पावेगा उसी तरह जीवन के दो में से किसी भी विभाग की उपेक्षा करने वाला सदा घाटे मे ही रहेगा।

जो लोग यह समझते हैं कि जीवन का आत्मिक भाग फिजूल है या हानिकर है, वे भूल करते है। जीवन का व्यावहारिक या सांसारिक भाग वह है, जिसमे बाहरी परिणाम जल्दी और स्पष्ट दिखाई पड़ता हो। आत्मिक भाग वह है, जिसमें उसके सूक्ष्म कारण और बीज छिपे हुए हों। जिस प्रकार जड़ को पकड़ कर बैठ जाने और फल-फूल की तरफ ध्यान न देनेवाला एकाङ्गी और अव्यावहारिक हैं, उसी प्रकार फल पर ही चिपक रहने वाला भी एकदेशीय और अदूरदर्शी है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों पर दृष्टि रखने वाले मनुष्य का ही जीवन वास्तव मे उपयोगी और सफल कहा जा सकता है।

आजकल धर्म को कोसना एक फैशन बन गया है। पर धर्म को

कोसना मनुष्य-जीवन की बुनियाद को ढहाना है। धर्म का अर्थ है मनुष्य-जीवन का नियामक या व्यवस्थापक। क्या आप नहीं चाहते कि आपके जीवन में कुछ नियम हों—ऐसे नियम हों जिनसे आपका और समाज का जीवन बने और सुधरे ? यदि चाहते हैं तो फिर उन नियमों के संग्रह या अधिष्ठान अर्थात् धर्म से क्यों घबराते हैं ? ऊपर कहा ही जा चुका है कि सत्य और अहिंसा धर्म के मुख्य अंग हैं, दो पाँव हैं। मनुष्य-जीवन में इन दोनों की उपयोगिता और अनिवार्यता पहले सिद्ध की जा चुकी है। यदि आप अपनी रक्षा और विकास चाहते हों तो आपको सत्य को अपनाना ही होगा, यदि आप दूसरे की रक्षा और उन्नति चाहते हों, तो आपको अहिंसा की आराधना करनी होगी। सत्य की साधना के बिना आपकी स्वतंत्रता अक्षुण्ण नहीं रह सकती। एक व्यक्तिगत और दूसरा समाजगत धर्म है। इसीलिए 'सत्यान्नास्ति परोधर्मः' और 'अहिंसा परमोधर्मः' कहा है।

धार्मिक जीवन के मानी हैं नैतिक जीवन। नैतिक जीवन के मानी हैं सज्जन, सुव्यवस्थित, जीवन। सज्जन-जीवन के मानी हैं मानवी जीवन। ऐसी दशा में यदि आप धर्म से इन्कार करते हैं तो गोया आप मानवता को नहीं चाहते हैं। धर्म एक कानून है, जो मानवता का पूर्ण विकास करता है। धर्म मनुष्यता का पथ-प्रदर्शक है। धर्म वह सड़क है, जिस पर मानव-विकास दौड़ता हुआ चलता है। जिससे मनुष्य-समाज की रक्षा और उन्नति होती है, वह धर्म है।

तो फिर कई लोग धर्म के नाम से चिढ़ते क्यों हैं ? इसलिए कि एक तो उन्होंने मजहब को धर्म समझ लिया है, फिर धर्म के असली रहस्य को समझने की चेष्टा नहीं की है और अज्ञ तथा अल्पज्ञों में धर्म के नाम पर जो अण्ट-सण्ट बातें प्रचलित हैं उन्हीं आडम्बरों को धर्म मान लिया है। वास्तव में हम हिन्दुओं के यहां तो सार्वजनिक धर्म के ये लक्षण बताये गये हैं।

> अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
> एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥१॥
> अहिंसा सत्यमस्तेयमकाम-क्रोध-लोभता।
> भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥२॥

अर्थात्—हिंसा न करना, सत्य का पालन करना, पवित्रता की

रक्षा करना, इन्द्रियों को वश मे रखना यह चारों वर्णों का धर्म संक्षेप में मनु ने कहा है ॥१॥ और

हिंसा न करना, सत्याचरण करना, चोरी न करना, विषयेच्छा न करना, गुस्सा न रखना, लोभ न करना, बल्कि संसार के प्राणीमात्र का प्रिय और हित करना यह सब वर्णों का धर्म है ॥२॥

इससे पता लगेगा, इसमे कोई बात ऐसी नहीं है जो गर्हित हो, या जन-समाज के लिए हानिकर हो। बल्कि बहुत अनुभव के बाद समाज की सुव्यवस्था और उन्नति के लिए इन नियमों की रचना की गई है। अतएव धर्म की अवहेलना करना, उसे मिटाने की चेष्टा करना, एक तो अपना अज्ञान प्रकट करना है और दूसरे मनुष्य की प्रगति की ही जड़ काटना है।

मजहब या सम्प्रदाय धर्म से भिन्न चीज है। मजहब असल में दो बातों को प्रकट करता है, (१) एक तो मनुष्य का ईश्वर के साथ संबंध और (२) विशिष्ट मत-प्रवर्तक द्वारा प्रचलित साम्प्रदायिक रीति-नीतियां। जिस मत-प्रवर्तक ने ईश्वर-संबंधी जैसी कल्पना की है वैसा ही संबंध उसके अनुयायियों का ईश्वर से रहा है, और कुछ बाह्याचार ऐसे बना दिये हैं जो मनुष्य की बुद्धि को सर्वथा सन्तुष्ट नहीं कर सकते। इसी तरह कुछ साम्प्रदायिक रीति-नीतियां भी चल पड़ी हैं। उसका मूल स्वरूप चाहे कुछ तथ्य रखता भी हो पर उसके बाह्य स्वरूप ने इतना बिगाड़ पैदा कर दिया है कि अब वे एक पाखण्ड और आडम्बर-मात्र रह गई हैं। पर इन्हें कोई भी समझदार अपना धर्म या धर्म का आवश्यक अंश नहीं कहेगा। इनमें समयानुसार सदा परिवर्तन और संशोधन होता आया है, किन्तु धर्म का मुख्य अंग, धर्म का मूल स्वरूप सदा एक-सा रहा है और रहेगा। जिन नियमों के आधार पर सारी सृष्टि चल रही है, सारे समाज का संगठन हुआ है, धर्म का संबन्ध तो सिर्फ उन्हींसे है। उनके अतिरिक्त जितनी बातें धर्म के नाम से प्रचलित हो गई हैं वे सब संशोधनीय, परिवर्तनीय और त्याज्य हैं।

इतने विवेचन से हमने जान लिया कि धर्म का जीवन में उतना ही स्थान है जितना कि शरीर-रचना में हृदय को है। यदि हम धर्म के शुद्ध और उज्ज्वल रूप को देखेंगे तो उसपर मुग्ध और कुरबान हुए बिना न रहेंगे।

३: ईश्वर-विचार

धर्म-विचार में ईश्वर का जिक्र अवश्य आता है। वैसे—ईश्वर के सम्बन्ध में लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएं हैं। कोई उसे एक वस्तु मानते हैं और कोई तत्व। सर्व-साधारण अवतारों और देवी-देवताओं के रूप में उसे मानते हैं। जंगली जातियां जीव-जन्तु पेड़ और पशु को ईश्वर समझती हैं। कई लोग भूत-प्रेत को ईश्वर का रूप मानते हैं। कितने ही मूर्ति को, गुरु को, ईश्वर समझते हैं। आमतौर पर लोग ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, जगत्संचालक, सर्व-शक्तिमान्, मंगलमय, पतितपावन मानते हैं। वे समझते हैं, ईश्वर कहीं आसमान में बैठा हुआ राज्य कर रहा है। वह सारे ब्रह्माण्ड का महाराजा है, उसके अनेक दास-दासियां हैं, अनेक रानियां-पटरानियां हैं; उसका दरबार है, न्याय और पुलिस-विभाग है, पुण्यात्मा को वह स्वर्ग देता है, पापी को नरक में पहुँचाता है। अपनी-अपनी समझ और पहुँच के अनुसार लोगों ने ईश्वर को तरह-तरह से मान रक्खा है। फलतः जितने विचार उतने ईश्वर हो गये हैं। हरेक अपने ईश्वर को बड़ा और अच्छा समझता है और दूसरे के ईश्वर को छोटा और मामूली। गंवार लोग अपने-अपने ईश्वर का पक्ष लेकर लड़ भी पड़ते हैं। हिन्दू-मुसलमान भी तो अपने-अपने ईश्वर के लिए घंटा-घड़ियाल और नमाज के सवाल पर आपस मे खून-खराबी कर बैठते हैं। ईसाइयों और मुसलमानो के धर्मयुद्ध ईश्वर ही के नाम पर तो हुए हैं। बौद्धों, जैनो और ब्राह्मणों मे भी ईश्वर ही के लिए लड़ाइयां हुई है। ऐसी दशा में एक विचारशील मनुष्य के मन में यह प्रश्न उठता है कि आखिर यह ईश्वर है क्या चीज? यह है भी या नहीं? है तो इसका असली रूप क्या है? इस प्रश्न पर विचार करनेवाले दुनिया के तत्वदर्शी तीन भागोंमें बँट गये हैं (१) आस्तिक (२) नास्तिक और (३) अज्ञेयवादी। आस्तिक वे जो मानते हैं कि ईश्वर नामक कोई चीज है; नास्तिक वे जो कहते हैं कि ईश्वर-वीश्वर सब ढोंग है; अज्ञेयवादी वे जो कहते हैं, भाई, कुछ समझ में नहीं आता वह है या नहीं। आस्तिकों में तीन प्रकारके लोग हैं—

(१) वे जो ईश्वर को वस्तुरूप—शक्तिरूप—मानते हैं।

(२) वे जो व्यक्तिरूप मानते हैं।

(३) वे जो तत्वरूप मानते हैं।

शक्ति और तत्वरूप में ईश्वर निर्गुण-निराकार माना जाता है और व्यक्ति-रूप में सगुण-साकार मानकर उसकी पूजा-अर्चा की जाती है।

मुझे तो ऐसा लगता है कि हम ईश्वर को एक आदर्श मानें। आखिर ईश्वर की कल्पना या अनुभव करनेवाला है तो मनुष्य ही। आरम्भ में चमत्कार-जनक और भयकारक वस्तु को वह ईश्वर मानने लगा, अपनी रक्षा के लिए उसकी प्रार्थना करने लगा। बाद को वह उसे मंगलदायक और पतित-पावन समझने लगा और अपने भले के लिए उसकी स्तुति करने लगा। जब उसकी खोज और अनुभव और आगे बढ़ा और प्रत्येक भिन्न रूप रखनेवाली वस्तु में भी एक चीज उसे समान-रूप में (Common) दिखाई देने लगी तब उसे उसने एक तत्व-रूप माना। मनुष्य-जाति के विचार और अनुभव में जैसे-जैसे फर्क पड़ता गया, वैसे-वैसे ईश्वर के रूप और सत्ता में भी अन्तर होता गया। आगे बढ़ना, ऊँचा उठना और सुख पाना; ये तीन इच्छायें मनुष्य-मात्र में सामान्य रूप से दिखाई पड़ती हैं। उसे एक ऐसे आदर्श की आवश्यकता प्रतीत हुई, जो इन इच्छाओं की पूर्ति मे सहायक हो। उसने तमाम शक्तियों, अच्छाइयों और पवित्रताओं का एक समुच्चय बनाया और उसको अपना ईश्वर, आराध्यदेव, अन्तिम लक्ष्य मान लिया।

यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपूर्ण अधकचरा पैदा हुआ है। वह पूर्णता की ओर जाना चाहता है। वह गुण और दोष से युक्त है। दोषों को दूर करके वह गुणमय बन जाना चाहता है। जब गुणमय बन जाता है और इस स्थिति में स्थिर रहता है, तब वह अपने अन्दर निर्गुणत्व का अनुभव करने लगता है। वह जगत के वास्तविक सत्य और तथ्य को पा लेता है। इसीलिए कहते हैं कि सत्य ही परमेश्वर है। सत्य या ईश्वर एक आदर्श है। दूसरे शब्दों मे तमाम अच्छाइयों और सच्चाइयो का समूह ईश्वर है। या यों कहें कि ईश्वर वह वस्तु है जिसमें संसार की तमाम अच्छाइयों, अच्छी शक्तियों और अच्छे गुणों का समावेश है। ईश्वर वह आदर्श है, जहां से तमाम अच्छी और सच्ची बातों का आरंभ और अंत होता है। वहां से अच्छी और सच्ची बातें एवं अच्छाइयों और सच्चाइयों का उद्गम और स्फुरण होता है। जो आदर्श मनुष्य को बुराइयों से हटाकर अच्छाइयों की तरफ, असत्य की ओर से हटाकर सत्य की ओर खींचता है, वह ईश्वर है। आदर्श एक चुम्बक होता है। मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए आदर्श बनाना पड़ता है। कई ऐति-हासिक या पौराणिक पुरुष आज भी भिन्न-भिन्न बातों और गुणों में हमारे लिए आदर्श हैं। आदर्श वह वस्तु है जिसके अनुसार मनुष्य अपने

को बनाना चाहता है। मनुष्य अपनी रुचि के ही अनुसार अपनेको बनाने की कोशिश करता है। रुचि सबकी भिन्न-भिन्न होती है इसीलिए आदर्श भी सबके भिन्न-भिन्न होते है। परन्तु कोई मनुष्य इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि उसे अच्छा बनने की, सच्चा बनने की चाह नहीं है। सबकी इसमें रुचि पाई जाती है। इसलिए अच्छाई और सच्चाई का आदर्श, ईश्वर, सबके रुचि की वस्तु हुआ। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, ये ईश्वर की किसी-न-किसी अच्छाई और सच्चाई के प्रतिनिधि हैं। इस-लिए लोग इनमें आंशिक ईश्वरत्व का अनुभव करते है।

मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार तीन बड़े गुणों और शक्तियों का आरोप ईश्वर मे किया (१) सर्वशक्तिमत्ता, (२) मंगल-मयता और (३) पतित-पावनता। मनुष्य शक्ति का उपासक है। वह चाहता है कि तमाम शक्तियों का सम्मेलन उसमें हो। कर्तव्य-पथ में चलने के लिए उसके पास अतुल बल और साहस हो। इसलिए उसने ईश्वर को सर्वशक्तिमान् माना और उससे बल पाने की चेष्टा करने लगा। मनुष्य चाहता है कि वह दुःखो, कष्टों, यातनाओं, विघ्नों और संकटों से मुक्त रहे अथवा इनसे घबरा न जाय। अतएव उसने ईश्वर को मंगलमय माना और सदा मंगल चाहने लगा। इसी प्रकार जब वह दुष्कर्म कर बैठता है तब उससे मुक्त होने या ऊँचा उठने के लिए किसी भावना का सहारा चाहता है। इसीने ईश्वर की पतित-पावनता को जन्म दिया। इसके द्वारा वह यह स्फूर्ति पाता है कि ईश्वर गिरे हुओं को उठाता है, दुखियों को अपनाता है, सताये हुओं को उबारता है। इससे उसे अपने उद्धार का आश्वासन मिलता है। अपनी कमजो-रियों को दूर करने में उत्साह मिलता है।

किन्तु इसपर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए इतने परावलम्बन की क्या आवश्यकता है? मनुष्य स्वयं अपनी बुद्धि से अच्छे और बुरे का निर्णय करके अच्छाई को क्यों न ग्रहण करता रहे? तत्त्वतः यह बात ठीक भी समझी जाय तो कुछ गिने-चुने लोगों का काम तो बिना किसी आलम्बन के चल जाय; किन्तु सर्वसाधारण तो अज्ञ या अल्पज्ञ होते हैं। साधारण लौकिक या व्यावहारिक कार्यों के लिए भी उन्हें दूसरों का सहारा लेना पड़ता है तब अपने जीवन को बनाने या सुधारने के जैसे कठिन और श्रमसाध्य काम के लिए क्यों न

उन्हें एक अच्छे आदर्श के आकर्षण और पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता रखनी चाहिए ?

रुचि और भावना के अनुसार आदर्श में भिन्नता हो सकती है और इसीलिए हम ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूपों को देखते हैं। ईश्वर को मानना बुरा नहीं है, बुरा है उसकी असलियत को, अपने लक्ष्य को भूल जाना। ईश्वर हमारे कल्याण, उत्कर्ष, विकास, सुधार या पूर्णत्व के लिए बना है, न कि अपनी ऊपरी पूजा-अर्चा में ही लोगों का सारा समय और बहुतेरी शक्ति का अपव्यय कराने के लिए। ईश्वर का ध्यान, पूजा उपासना हमारे कल्याण के साधन हैं, खुद साध्य नहीं है। साध्य है—ईश्वरत्व को प्राप्त करना, सत्य या पूर्णत्व को पहुँचना। इसे हमें कदापि न भुलाना चाहिए।

क्या कोई मनुष्य इस बात से इन्कार करेगा कि वह व्यक्ति और समाज का हित, विकास, या पूर्णता चाहता है ? यदि यह प्रत्येक मनुष्य को अभीष्ट है, तो फिर पूर्णता के आदर्श या प्रतिनिधि को अनावश्यक अथवा बुरा कैसे कहा जा सकता है ? मनुष्य के स्वार्थ या अज्ञान ने यदि उस आदर्श में मलिनता उत्पन्न कर दी है, उसे बिगाड़ दिया है, तो बुद्धिमान् और समाज-हितेच्छु का काम है कि असली आदर्श उसके सामने रक्खे, उसकी असलियत उसे बताता रहे। यह न होना चाहिए कि मक्खी को मारने गये तो नाक भी काट डाली।

आशा है, हमारे शंकाशील और विज्ञानवादी पाठक ईश्वर के इस रूप पर, इसकी उपयोगिता और व्यावहारिकता पर विचार करने की कृपा करेंगे। असलियत को खोजने की धुन में उन्हें असलियत को ही न खो बैठना चाहिए। मनुष्य सूक्ष्म अर्थ में पूर्ण स्वावलम्बी कदापि नहीं हो सकता। वह परस्पराश्रयी है; क्योंकि वह समाजशील है। जब एक व्यक्ति का काम दूसरे व्यक्ति के सहारे के बिना नहीं चलता और हम परस्पर सहयोग को बुरा नहीं समझते हैं तब किसी आदर्श का सहारा क्यों अवाञ्छनीय समझा जाना चाहिए ?

४ : विवाह

एक मत ऐसा चलता हुआ देख पड़ता है कि स्त्री-पुरुषों के बन्धन में बंधने की आवश्यकता ही नहीं। यह इच्छा-तृप्ति का विषय है—जैसे मौका पड़ जाय, इच्छा तृप्त कर ली जाय। कुछ लोग ऐसा भी

मानते हैं कि यह एक प्रकार का पतन है। आदर्श अवस्था तो स्त्री-पुरुषों का एक मात्र ब्रह्मचर्य-मय जीवन ही है। ऐसी हालत में यह आवश्यक है कि विवाह के रहस्य को हम अच्छी तरह समझ लें।

विवाह के मूल पर जब मैं विचार करता हूं, तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि आरम्भ मे विवाह शारीरिक सुख अथवा इन्द्रियाराधन के लिए शुरू हुआ। यह तो सबको मानना ही होगा कि स्त्री और पुरुष मे एक अवस्था के बाद एक कोमल विकार उत्पन्न होने लगता है, जो दोनों को एक दूसरे की ओर खींचता है। एक अवस्था के बाद यह विकार लुप्त हो जाता है। मेरा खयाल है कि आदिम काल में स्त्री-पुरुष इस विकार की तृप्ति स्वतंत्र रूप से कर लिया करते थे—विवाह-बन्धन मे पड़े बिना ही वे परस्पर अपनी भूख बुझा लिया करते थे। पर जब कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन आरम्भ हुआ, तब मनुष्य को ऐसे सम्बन्धो का भी नियम बना देना पड़ा, अथवा यों कहिए कि; जब उसने इन उच्छृंखलताओं के दुष्परिणामो को देखा, तब उसकी एक सीमा बांधना उचित समझा और वहीं से कौटुम्बिक जीवन की शुरूआत हुई। एक स्त्री का अनेक पुरुषों से और एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से सम्पर्क होते रहने से गुप्त रोग फैलने लगे होंगे। सन्तान-पालन और संतति-स्नेह का प्रश्न उठा होगा। विरासत की समस्या खड़ी हुई होगी। तब उन्हे विवाह-व्यवस्था करना लाजिमी हो गया। विवाह का उद्देश्य है, एक स्त्री का एक पुरुष के साथ सम्बन्ध रखना। इसके विपरीत अवस्था का नाम हुआ व्यभिचार। उन्हें ऐसे उपनियम भी बनाने पड़े, जिनसे कारणवश एक पुरुष का एकाधिक स्त्री से अथवा एक स्त्री का एकाधिक पुरुष से संबंध करना जायज समझा गया। विवाह-संस्कार होने के पहले स्त्री-पुरुष का परस्पर शारीरिक संबंध हो जाना व्यभिचार कहलाया। इसी प्रकार विवाहित स्त्री-पुरुष का दूसरे स्त्री-पुरुष से ऐसा संबंध रखना भी व्यभिचार हुआ।

फिर जब मनुष्य ने देखा कि यह सीमा बांध देने पर भी लोग विषय-भोग में मस्त रहने लगे, तब उसने यह तजवीज की कि विवाह इंद्रिय-तृप्ति के लिए नहीं, संतति उत्पन्न करने के लिए है। स्त्री-पुरुष तभी सम्भोग करें, जब उन्हे संतति की इच्छा हो। फिर जैसे-जैसे मनुष्य जाति का अनुभव बढ़ता गया, विचार-दृष्टि विशाल होती गई, तैसे-तैसे उसके जीवन का आदर्श भी ऊंचा उठता गया। अब मनुष्य की विचार-शीलता

इस अवस्था को पहुँची है कि विवाह न शारीरिक सुख के लिए है, न संतति उत्पन्न करने के लिए है; वह तो आत्मोन्नति के लिए है। सुख तृप्ति और संतति उसका परिणाम भले ही हो, वह उद्देश्य नहीं। इस उद्देश्य से जो गिर गया वह शारीरिक सुख, इंद्रिय-तृप्ति और संतति पाकर रह गया—आगे न बढ़ सका। अब तो श्रेष्ठ विवाह वह कहलाता है, जो दोनों को अपने जीवन-कार्य को पूरा करने में सहायक हो; योग्य वर-वधू वे कहलाते हैं, जो विकार के अधीन होकर नहीं, बल्कि समान उद्देश्य और समान गुणों से प्रेरित होकर विवाह करते हैं। ऐसे विवाहों के रास्ते में जाति, धर्म, मत, धन, ये बाधक नहीं हो सकते।

जाति, धर्म, मत आदि का विचार विवाह के सम्बन्ध में करना कोई आत्मिक आवश्यकता नहीं है। यह तो कौटुम्बिक या सामाजिक सुविधा का प्रश्न है जो कि आत्मिक आवश्यकता के मुकाबले में बहुत गौण वस्तु है। जो विवाह इन्द्रिय-तृप्ति और कौटुम्बिक सुविधाओं के लिए किये जाते है, वे कनिष्ठ है, और उनके विषय मे इन सब बातों का लिहाज रखना अनिवार्य हो जाता है।

फिर भी व्यभिचार से, विवाह-संस्कार से पहले स्त्री-पुरुषों के ऐसे सम्बन्ध हो जाने अथवा विवाहोपरांत ऐसे अनुचित सम्बन्ध करने से तो यह कनिष्ठ प्रकार का विवाह श्रेष्ठ ही है। व्यभिचार की स्वतंत्रता सामाजिक और नैतिक अपराध इसलिए है कि अब मनुष्य-जाति उन्नति की जिस सीढ़ी पर पहुँच चुकी है उससे वह उसे पीछे हटाती है—आज-तक के उसके श्रम, अनुभव और कमाई पर पानी फेरती है। मनुष्य-जाति अपनी इस अपार हानि को कदापि सहन नहीं कर सकती। अपनी इसी संस्कृति की रक्षा के निमित्त मनुष्य के विवाह को यहां तक नियमित करना पड़ा कि स्वपत्नी से भी नियम-विपरीत सम्भोग करने को व्यभिचार ठहरा दिया। अब तो विचारकों की यह धारणा होने लगी है कि आत्मिक उद्देशों की पूर्ति के लिए जो विवाह किये जाते हैं उनमें स्त्री-पुरुष यदि संयम न रख सकें तो वह भी एक प्रकार का व्यभिचार ही है।

५ : विवाह-संस्कार

विवाह-संस्कार हम हिन्दुओं का बहुत प्राचीन संस्कार है; सोलह संस्कारों में एक है। गृहस्थाश्रम का फाटक है। जो कन्या या युवक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता है, उसके लिए विवाह-संस्कार आव-

श्यक है। जो कन्या या युवक ब्रह्मचर्य-पूर्वक सारा जीवन व्यतीत करना चाहते हैं उनके लिए यह आवश्यक नहीं है। विवाह के मुख्य उद्देश मेरी समझ के अनुसार तीन हैं—

१ कुदरती इच्छा की पूर्ति।

२ धर्म का पालन।

३. समाज का कल्याण।

अब हम क्रम से इनपर विचार करें—

कुदरती इच्छा की पूर्ति

एक अवस्था से लेकर एक अवस्था तक स्त्री और पुरुष दोनों के मन में विवाह करने की इच्छा पैदा होती है और रहती है। उस अवस्था में कुदरत चाहती है कि स्त्री-पुरुष एक साथ रहकर जीवन व्यतीत करें। समाज-शास्त्रियों ने यह अवस्था लड़की के लिए १५-२० से लेकर ४०-४५ तक और लड़के के लिए २५-३० से लेकर ५०-५५ तक बताई है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद ही गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने का नियम बताया है। कन्या की अवस्था जब २० के आस-पास और ब्रह्मचारी की २५ के आस-पास हो तब उनके माता-पिता को उचित है कि उनकी इच्छा को जानकर, सम-गुण-शील वर-वधू को देखकर विवाह-संस्कार कर दें।[1] यदि वे ब्रह्मचर्य-पूर्वक ही रहना चाहें तो उन्हें रहने दें, जबरदस्ती विवाह-पाश में न बांधें। जिसकी इच्छा हो वह विवाह कर ले, जिसकी इच्छा हो वह ब्रह्मचारी बनकर रहे—यह नियम सबसे अच्छा है। इस नियम का पालन करने से ही कुदरत की इच्छा की पूर्ति हो सकती है; विवाह का पहला उद्देश पूर्ण हो सकता है।

धर्म का पालन

धर्म का अर्थ है लौकिक और पारलौकिक उन्नति का साधन। दूसरे शब्दों में कहें तो शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति का साधन। या यों कहें कि धर्म वह मार्ग है जिसके द्वारा मनुष्य खुद सुख प्राप्त करता हुआ औरों को सुखी बनाता है। तीनों अर्थों की भाषा यद्यपि जुदी-जुदी है तथापि मूल भाव एक ही है—स्वार्थ और परमार्थ दोनों की साधना। स्वार्थ व्यक्तिगत होता है और परमार्थ समाज-गत। मनुष्य जब अपने अकेले का विचार करता है तब वह स्वार्थी होता है। जब वह

१ देखिये परिशिष्ट न० ७ 'नवदम्पती के लिए'।

औरों का भी विचार करता है तब परमार्थी होता है। वैवाहिक-जीवन स्वार्थ और परमार्थ दोनों के लिए है। हम लोगों में यह प्राचीन धारणा भी चली आती है कि गृहस्थाश्रम में मनुष्य प्रपंच और परमार्थ दोनों को साध सकता है। अर्थात् विवाह तभी सफल माना जा सकता है जब कि विवाहित दम्पती के द्वारा इस धर्म का पालन होता हो। उनके द्वारा खुद अपने को, कुटुम्ब को और सारे समाज को लाभ और सुख पहुँचता हो। इसलिए हिन्दुओं में विवाह-बंधन धर्म-बंधन माना जाता है। हिन्दू वर-वधू विवाह-संस्कार के द्वारा केवल अपने शरीर को ही एक-दूसरे के अर्पण नहीं करते हैं बल्कि अपने मन और आत्मा को भी एक कर देते हैं। यही कारण है कि हमारे यहां दो में से एक का वियोग हो जाने पर भी दोनों का सम्बन्ध नहीं टूटता। सन्तति विवाह का हेतु नहीं, फल है। हेतु है धर्म-पालन। गृहस्थ का धर्म क्या है ? स्वयं सुखी रहना और दूसरों को सुखी बनाना। गृहस्थ स्वयं सुखी किस तरह रह सकता है ?

(१) अपने शरीर को नीरोग रखकर। अर्थात् गृहस्थाश्रम में भी ब्रह्मचर्य की ओर विशेष ध्यान देते हुए, स्वच्छता और आरोग्य के नियमों का पालन करते हुए।

(२) अपने मन को शान्त और प्रसन्न रखते हुए, उच्च, उदार स्नेहपूर्ण और सुसंस्कृत बनाते हुए।

(३) आत्मा को उन्नत बनाते हुए। अर्थात् सबको आत्मस्वरूप देखते हुए; सत्यनिष्ठा, निर्भयता, नम्रता, दया आदि सद्गुणों का परिचय देते हुए। यदि एक ही शब्द में कहें तो शरीर, मन और आत्मा तीनों को एक सूत्र में बाँधते हुए। अर्थात् जो हमारी आत्मा को कल्याण-कारक प्रतीत हो वही हमारे मन को प्रिय हो और उसीके साधने में शरीर कृतकार्य हो। जैसे यदि किसी दुःखी या रोगी को देखकर हमारी आत्मा में यह प्रेरणा हुई कि चलो इसकी कुछ सेवा करें, किसी तरह इसके दुःख दूर करने का प्रयत्न करें, तो तुरन्त हमारा मन इस विचार से प्रसन्न होना चाहिए। और हमारे शरीर को उसके लिए दौड़ जाना चाहिए। बल्कि मैं तो यह भी कहूँगा कि हमारी आत्मा का यह धर्म ही होना चाहिए कि रोगी या दुःखी को देखकर उसकी सेवा करने की प्रेरणा हुए बिना न रहे। जिस प्रकार पानी की धारा जबतक अपने रास्ते के गड्ढे

को भर नहीं देती तबतक आगे नहीं बढ़ती, उसी तरह हमारा यह स्वभाव-धर्म हो जाना चाहिए कि जबतक समाज के दुःखी-दर्दी की सेवा हमसे न हो हमारा कदम आगे न बढ़ सके। यही धर्म-पालन की चरम-सीमा है, यही गृहस्थाश्रम का धर्म है। ईमानदारी से धर्मपूर्वक स्वोपार्जित धन, नियम पूर्वक प्राप्त सुसन्तति, सद्गुणों से आकर्षित इष्ट-मित्र ये भी सुख को बढ़ा सकते हैं। पर सुख के साधन नहीं हैं—ये तो सुख की शोभा है, सोने में सुगन्ध है।

समाज का कल्याण

अब यह सवाल रहा कि दूसरे को सुखी किस तरह बना सकते हैं? दूसरी भाषा में, समाज का कल्याण किस तरह कर सकते हैं? मनुष्य जबतक अकेला है, विवाह नहीं किया है, तबतक वह अपनेको अकेला समझ सकता है। व्यक्तिगत कर्तव्यों का ही विचार कर सकता है। पर एक से दो होते ही, दूसरे का साथ करते ही, विवाह होते ही, वह समाजी हो जाता है। कुटुम्ब समाज का एक छोटा रूप है। या यों कहें कि समाज कुटुम्ब का एक बड़ा रूप है। विवाह होते ही अपने हित के खयाल के साथ-साथ और कुटुम्बियों के हित का खयाल ही नहीं, जिम्मेदारी भी हमें महसूस करनी चाहिए। तो सवाल यह है कि विवाहित दम्पती कुटुम्ब या समाज की सेवा या कल्याण किस तरह करें? इसका सरल और सीधा उत्तर यही है कि कुटुम्ब या समाज में जो खामियां हों, जो तकलीफें हों, उनको दूर करके। जैसे अगर कोई बुरी रीति या चाल पड़ गई हो तो उसे हटाना, खुद उसका पालन न करना और औरों को भी समझाना। अगर कोई विधवा या विद्यार्थी या अनाथ भोजन-पान की या और किसी तरह की तकलीफ पा रहे हों तो उसे दूर करना, उनके साथ हमदर्दी बताना, उन्हें तसल्ली देना, उनके घर जाना, या उन्हें अपने घर लाना। कोई बुरा काम कर रहा हो तो उसे समझाना, बुरे काम से हटाने का यत्न करना, पढ़ने-पढ़ाने और ज्ञान बढ़ाने के साधन न हों तो उनका प्रचार करना। सफाई और तन्दुरुस्ती की जरूरत और फायदे समझाना। इत्यादि-इत्यादि।

पर विवाह-संस्कार का वर्तमान रूप हमारे यहां इससे भिन्न है। केवल यही नहीं कि हममें से बहुतेरे विवाह के उद्देश्यों को नहीं जानते बल्कि संस्कार की विधि भी बहुत बिगड़ गई है। विवाह-संस्कार मुख्यतः एक

धर्म-विधि है। पर आजकल उसका धार्मिक रूप एक कवायद मात्र रह गई है और सामाजिक रूप या लोकाचार इतना बेडौल हो गया है कि जिसकी हद नहीं। विवाह के बाद वर-वधू सामाजिक जीवन में प्रवेश करते हैं। इसलिए धर्म-संस्कार के साथ बहुतेरी सामाजिक रीतियां—लोका-चार—जोड़कर हमने उसे एक जलसा बना दिया है। धार्मिक दृष्टि से विवाह-संस्कार में केवल दो ही विधियां है। पाणिग्रहण और सप्तपदी। पाणिग्रहण के द्वारा दम्पती के सम्बन्ध की शुरूआत होती है और सप्तपदी के द्वारा वह प्रेम-बन्धन दृढ़ किया जाता है। इसके अति-रिक्त जितनी विधियां है वे सब अनावश्यक या कम आवश्यक हैं। बड़े-बड़े भोज, भारी लेन-देन, बहुतेरा दहेज, बागवाडी,मायरा, आतिशबाजी, नाच आदि सामाजिक विधियाँ केवल लोकाचार है। सामाजिक विधियां समाज की आवश्यकता के अनुसार समाज के धुरीण लोग डालते हैं। समाज की अवस्था निरन्तर बदलती रहती है। वह हमेशा सारासार का विचार करता रहता है और अच्छी बातों का ग्रहण तथा बुरी बातों का त्याग करता है। और इसीसे उसका कार्य-क्रम बदलता रहता है। वह समाज के हित की बात समाज में दाखिल करता है और अहित की बात को निकाल डालता है या उसका विरोध करता है। समाज के चाल-ढाल में यह अन्तर, यह परिवर्तन हम बराबर देखते हैं। इसीके बल पर समाज जीवित रहता है और आगे बढ़ता है। यही समाज के जीवन का लक्षण है। चंदेरी की पगड़ियां गईं,टोपियां आईं। इटालियन और फैल्ट टोपियां जा रही हैं, और खादी-टोपी आ रही हैं। अंगरखा चला गया, कोट आ गया। जूतियां गईं, बूट आये और अब चप्पल आ रहे हैं। ब्राह्मणों की त्रिकाल-संध्या गई, एककाल संध्या भी बहुत जगह न रही। अब भी ब्राह्मण ईश्वरोपासना करते हैं, पर बाहरी स्वरूप बदलता जा रहा है। सोला गया, धोतियां रह गईं। छुआछूत का विचार कम होता जा रहा है। ब्राह्मणों के षट्कर्म गये, भिक्षावृत्ति आई। अब सेवा-वृत्ति ने उसका स्थान ले लिया। हम जरा ही गौर करेंगे तो मालूम होगा कि हमारा जीवन क्षण-क्षण में बदल रहा है। हमारे समाज की भीतरी और बाहरी अनेक बातों में रूपान्तर हो रहा है। विवेकपूर्वक जो रूपान्तर किया जाता है उससे समाज को लाभ होता है, समाज की उन्नति होती है। आंखें मूंदकर जो अनुकरण किया जाता है उससे समाज की अधो-गति होती है। अतएव सामाजिक रीति-नीति में देश-काल-पात्र को

देखकर विवेक-पूर्वक परिवर्तन करना समाज के धुरीणों का कर्तव्य है। यह पाप नहीं, पुण्य कार्य है। जिन चालों से धर्म-संस्कार का कोई सम्बन्ध नहीं, जिनमें अकारण धन-व्यय होता है, सो भी ऐसे जमाने में जब कि आमदनी के साधन दिन-दिन कम होते जा रहे हैं, जिनसे समाज में दुराचार की वृद्धि होती है, उनका मिटाना समाज के धुरीणों और हित-चिन्तकों का परम कर्तव्य है। पिछले जमाने में, जब कि आमदनी काफी थी और इस कारण लोगों को उन रिवाजों में आज की तरह बुराई नहीं दिखाई देती थी, उनके कारण विवाह की शोभा बढ़ती थी। आज तो 'शोभा' के बजाय वे भार-भूत और बरबादी-रूप मालूम होते हैं। मैं श्रीमन्तो की बात नहीं करता, मुझ जैसे गरीबों की बात करता हूँ। श्रीमन्त तो हमारे समाज में बहुत थोड़े हैं, गरीबों की ही संख्या ज्यादा है। श्रीमन्तों को उचित है कि वे गरीबों का ख्याल रक्खें। गरीबों को उचित है कि वे श्रीमन्तों का अनुकरण न करें। धन की बात छोड़ दे तो भी गालियां, गाना, नाच, परदा, बहुतेरे गहने देना आदि विवाह-विधि के साथ जुड़ी हुई रूढ़ियां तथा बाल-विवाह, बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि भयंकर कुरीतियां तो श्रीमन्तों के यहां भी न होनी चाहिएँ। क्या धनी, क्या निर्धन, सबको इनसे हानि पहुँचती है। अपने जीते-जी शादी देख लेने के मोह से छोटे बालक-बालिकाओं की शादी कर लेना, शक्ति से बाहर कर्ज करके हैसियत से ज्यादा खर्च कर डालना, कन्या-विक्रय करना—इन क्रमशः, अधार्मिक, अनुचित और अगली कुरीतियों को मिटाना धनी-गरीब, सबके लिए उचित है। बिना लड़के-लड़की की सलाह लिये अपनी मरजी से शादी कर देना भी बुरी प्रथा है। इससे कितने ही दम्पतियों को संसार-यात्रा यम-यातना के समान हो जाती है। हमे मोह और मनोवेग को रोककर बुद्धि, विचार और विवेक से काम लेने की परम आवश्यकता है। हममें से सैकड़ा ७५ तो जरूर मेरी तरह इन बातों में सुधार चाहते होंगे; पर उनमें से कितने ही वृद्ध गुरुजनों के संकोच से सुधार नहीं कर पाते। उनकी इच्छा तो है, पर वे लाचार रहते हैं।

वृद्धजनों के लिए पुरानी बातों पर, फिर वे आज चाहे हानिकारक भी हो गई हों, चिपके रहना स्वाभाविक है। क्योंकि वे आजन्म उन्हीं को अच्छा समझते आये हैं। और जिसे वे अच्छा समझते हैं उसपर वे दृढ़ हैं और रहना चाहते हैं। यह उनका गुण हमें ग्रहण करना चाहिए।

हमें भी उचित है कि जिन बातों को हम ठीक समझते हैं उनपर दृढ़ रहें। बुजुर्गों की सेवा करना, नम्रतापूर्वक उनसे व्यवहार करना हमारा धर्म है। उसी प्रकार हमें जो बात ठीक जंचे, जो हमें अपना कर्त्तव्य दिखाई दे, उसका पालन करना, उसपर दृढ़ रहना भी हमारा धर्म है। यदि हम ऐसा न करेंगे तो अपने बुजुर्गों के योग्य अपनेको न साबित करेंगे। हमारा कर्त्तव्य है कि जो बात हमें उचित और लाभदायक मालूम होती है स्वयं उसके अनुसार अपना आचरण रखकर उसकी उपयोगिता उन्हें साबित कर दें। या तो उन्हें समझा-बुझाकर या अपने प्रत्यक्ष आचरण के द्वारा ही हम उन्हें उसकी उपयोगिता का कायल कर सकते हैं। यदि हम दो में से एक भी न करें तो इसमें उनका क्या दोष? वे तो स्वयं अपने उदाहरण के द्वारा यह पाठ पढ़ा रहे हैं कि जिसको तुम अच्छा समझते हो वह करो, उसपर दृढ़ रहो, जैसा कि हम रहते हैं। हमें विश्वास रखना चाहिए कि हमारे बड़े-बूढ़े इतने विशाल-हृदय और विवेकी जरूर हैं कि वे मौके को देखकर सम्हल जायेंगे और खुद आगे रहकर उन दोषों को दूर कर देंगे।

६ : 'पत्नीव्रत'-धर्म

यदि विवाह-सम्बन्ध समाज के विकास के लिए आवश्यक है तो वर्तमान समय में; जब कि पति बहुत स्वेच्छाचारी हो गया है, यह आवश्यक है कि पत्नी के प्रति उसके कर्तव्य का स्मरण उसे दिलाया जाय और इस धर्म के भंग का उससे प्रायश्चित्त कराया जाय।

आशा है, 'पत्नीव्रत' धर्म के नामसे हमारी बहनें खुश होंगी। खास कर वे बहनें, जिनको यह शिकायत है कि प्राचीन काल के पुरुषों ने स्त्रियों को हर तरह दबा रक्खा। और वे पुरुष, सम्भव है, लेखक को कोसें, जिन्हें स्त्रियों को अपनी दासी समझने की आदत पड़ी हुई है। यह बात, कि किसने किसको दबा रक्खा है, एक ओर रख दें, तो भी यह निर्विवाद सिद्ध और स्पष्ट है कि आज स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध पर और उनके मौजूदा पारस्परिक व्यवहार पर नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता उपस्थित हो गई है। स्त्री और पुरुष दो परस्पर-पूरक शक्तियां हैं और उनका पृथक्-पृथक् तथा संमिलित बल और गुण व्यक्ति और समाज के हित और सुख में लगना अपेक्षित है। यदि दोनों के गुणों और शक्तियों का समान विकास न होगा, तो उनका पूरा और उचित उपयोग न हो सकेगा। पक्षी का एक पंख यदि कच्चा या कम-

जोर हो, तो वह अच्छी तरह उड़ नहीं सकता। गाड़ी का एक पहिया यदि छोटा या टूटा हो, तो वह चल नहीं सकती। हिन्दू-समाज में आज पुरुष कई बातों में स्त्रियों से ऊंचा उठा हुआ, आगे बढ़ा हुआ, स्वतंत्र और बलशाली है। धर्म-मन्दिरों में उसीका जय-जयकार है, साहित्य-कला में उसीका आदर-सत्कार है, शिक्षा-दीक्षा में भी वही अगुआ है। स्त्रियों को न तो पढ़ने की स्वतंत्रता और सुविधा और न घर से बाहर निकलने की। परदा और घूंघट तो नाग-पाश की तरह उन्हें जकड़े हुए हैं। चूल्हा-चौका, धोना-रोना, बाल-बच्चे यह हिन्दू स्त्री का सारा जीवन है। इस विषमता को दूर किये बिना हिन्दू-समाज का कल्याण नहीं। देश और काल के ज्ञानी पुरुषों को चाहिए कि वे स्त्रियों के विकास में अपना कदम तेजी से आगे बढ़ायें। जहांतक लब्ध-प्रतिष्ठ, बलवान और प्रभावशाली व्यक्ति के गुणों से सम्बन्ध है, हिन्दू-पुरुष हिन्दू-स्त्री से बढ़-चढ़कर है। और जहां तक अन्तर्जगत के गुण और सौंदर्य से सम्बन्ध है, वहां तक स्त्रियां पुरुषों से बहुत आगे हैं। पुरुषों का लौकिक जीवन अधिक आकर्षक है, उपयोगी है, व्यक्तिगत जीवन अधिक दोष-युक्त; नीरस और कलुषित है। अपने सामाजिक प्रभुत्व से वह समाज को चाहे लाभ पहुँचा सकता हो, पर व्यक्तिगत विकास में वह पीछे पड़ गया है। विपक्ष में स्त्रियों के उच्च गुणों का उपयोग देश और समाज को कम होता है; परन्तु व्यक्तिगत जीवन में वे उनको बहुत ऊंचा उठा देते हैं। अपनी बुद्धि-चातुरी से पुरुष सामाजिक जगत में कितना ही ऊंचा उठ जाता हो, व्यक्तिगत जीवन उसका भोग-विलास, रोग-शोक, भय-चिन्ता में समाप्त हो जाता है। स्त्रियों की गति समाज और देश के व्यवहार-जगत में न होने के कारण, उनमें सामाजिकता का अभाव पाया जाता है। अतएव अब पुरुषों के जीवन को अधिक व्यक्तिगत और पवित्र बनाने की आवश्यकता है, और स्त्रियों के जीवन को सामाजिक कामों में अधिक लगाने की। पुरुषों और स्त्रियों के जीवन में इस प्रकार सामंजस्य जबतक न होगा, तबतक न उन्हें सुख मिल सकता है, न समाज को।

यह तो हुआ स्त्री-पुरुषों के जीवन का सामान्य प्रश्न। अब रहा उनके पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न। मेरी यह धारणा है कि स्त्री, पुरुष की अपेक्षा, अधिक वफादार है। पुरुष एक तो सामाजिक प्रभुता के कारण और दूसरे अनेक भले-बुरे लोगों और वस्तुओं के सम्पर्क के कारण

अधिक वेवफा हो गया है। स्त्रियां व्यक्तिगत और गृह-जीवन के कारण स्वभावतः स्वरक्षणशील अतएव वफादार रह पाई हैं। पर अब हमारी सामाजिक अवस्था में ऐसा उथल-पुथल हो रहा है कि पुरुषों का जीवन अधिक उच्च, सात्विक और श्रेष्ठ एवं वफादार बने बिना समाज का पांव आगे न बढ़ सकेगा। अबतक पुरुषों ने स्त्रियों के कर्त्तव्यों पर बहुत जोर दिया है। उनकी वफादारी; पातिव्रत हमारे यहां पवित्रता की परा काष्ठा मानी गई है। अब ऐसा समय आ गया है कि पुरुष अपने कर्त्तव्यों की ओर ज्यादा ध्यान दें। व्यभिचारी, दुराचारी, आक्रामक, अत्याचारी पुरुष के मुंह में अब पतिव्रत-धर्म की बात शोभा नहीं देती। हमारी माताओं और बहनों ने 'इस अग्नि-परीक्षा में तप कर अपनेको शुद्ध सुवर्ण सिद्ध कर दिया है। अब पुरुष की बारी है। अब उसकी परीक्षा का युग आ रहा है। अब उसे अपने लिए पत्नीव्रत-धर्म की रचना करनी चाहिए। अब स्मृतियों में, कथा-वार्ताओं में, पत्नीव्रत-धर्म की विधि और उपदेश होना चाहिए। पत्नीव्रत-धर्म के मानी है पत्नी के प्रति वफादारी। स्त्री अबतक जैसे पति को परमेश्वर मानकर एकनिष्ठा से उसे अपना आराध्यदेव मानती आई है उसी प्रकार पत्नी को गृह-देवी मानकर हमे उसका आदर करना चाहिए; उसके विकास में हर प्रकार सहायता करनी चाहिए, और सप्तपदी के समय जो प्रतिज्ञाएं पुरुष ने उसके साथ की हैं, उनका पालन एकनिष्ठा-पूर्वक होना चाहिए।

इस प्रकार स्त्री-जीवन को समाजशील बनाये बिना, और पुरुष-जीवन को पत्नीव्रत-धर्म की दीक्षा दिये बिना, हिन्दू-समाज का उद्धार कठिन है। हर्ष की बात है कि एक ओर पुरुष अपनी इस त्रुटि को समझने लग गया है और दूसरी ओर स्त्रियोंने भी अपनी आवाज उठाई है। इसका फल दोनों के लिए अच्छा होगा, इसमें सन्देह नहीं।

७ : सन्तति-निग्रह

'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुख.'

जब मौसम बदलता है तब कितने ही लोग अक्सर बीमार हो जाते हैं। जब कैदी एकाएक जेल से छूट आते हैं तो कितने ही मारे खुशी के सुध-बुध भूल जाते हैं। जब बहुत दिनों के सोये हुए मुसाफिर एकाएक जग पड़ते हैं तब बहुतेरे दीवाने से हो जाते हैं। जब रोगी एकाएक आराम पाने लगता है तब अक्सर बदपरहेजी कर बैठता है। बहुत-कुछ यही हालत हमारे देश के अति-उत्साही युवकों की हो रही है। सदियों

से गुलामी की नींद में सोये वे जागृति का अनुभव और स्वतंत्रता के प्रतिबिम्ब का दर्शन करके मानो बौखला गये हैं। बहुत दिनों का प्यासा जिस तरह पेट फूलने तक पानी पी लेना चाहता है उसी तरह वे स्वतंत्रता की कल्पना-मात्र से इतने बौराये जा रहे हैं कि नीति, सुरुचि और शिष्टता तक की मर्यादा का पालन करना नहीं चाहते। बल्कि यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि वे नियम को ही एक बन्धन मानते हुए दिखाई देते हैं। शायद वे निरंकुशता को स्वतंत्रता मान बैठे हैं। क्या साहित्य, क्या समाज, क्या राजनीति, तीनों क्षेत्रों में इस उच्छृंखलता के दर्शन हो रहे हैं। यह विकार का लक्षण है। इससे समाज का लाभ तो शायद ही हो, उलटा व्यतिक्रम का अन्देशा रहता है। स्वतंत्रता की धुन में मस्त हमारे कई नवयुवक इन दिनों सन्तति के सम्बन्ध में भी उच्छृंखल बन जाना पसन्द करते हैं। अतएव यही समय है जब चेतावनी देने की 'ठहरो और सोचो' कहने की जरूरत होती है।

'सन्तान-वृद्धि-निग्रह' के मोह में कन्याओं, स्त्रियों और बच्चों के हाथ में पड़ने वाले पत्रों तक में सुरुचि तक का संहार करते हुए 'सन्तति निग्रह' का प्रचार हो रहा है। उसपर ध्यान जाने से ये विचार मन में उठ रहे हैं। कुछ हिन्दी-पत्रों की गति-विधि पर सूक्ष्म रूप से ध्यान देने से मेरा यह मत होता जाता है कि अश्लीलता, अशिष्टता, कुरुचि, कुत्सा की उनकी कसौटी सर्वसाधारण भारतीय समाज की कसौटी से भिन्न है और उन्होंने बुद्धि-पूर्वक ही अपनी यह रीति-नीति रक्खी है। नहीं मालूम इसमें वे समाज का क्या कल्याण देखते हैं।

यूरोप मे एक समाज ऐसा है जिसका यह मत है कि ज्ञान के प्रचार से, फिर वह अच्छी बात का हो या बुरी या अनुचित या अश्लील मानी जाने वाली बात का हो, कभी हानि नहीं होती। वे उससे उलटा लाभ समझते है। वे कहते हैं, हम जन-समाज के सामने सब तरह की ज्ञान-सामग्री उपस्थित करते हैं, वह विवेक-पूर्वक उसमें से अच्छी और हितकर सामग्री चुन ले और उसे अपना ले। इससे उसकी सारासार-विवेक-शक्ति जाग्रत होगी। वह स्वतंत्र और स्वावलम्बी होगा और इसलिए वे अश्लील और गुह्य बातों का प्रचार करने के लिए अपनेको स्वतंत्र मानते हैं, अपना अधिकार समझते हैं। इसी समाज के मत का अनुसरण हमारे देश के कुछ उत्साही युवक कर रहे हैं। वे स्वयं विवेक-पूर्वक चुनकर ज्ञान-सामग्री समाज को देना नहीं चाहते, बल्कि चुनाव का

और विवेक के प्रयोग का भार जन-समाज पर रखना चाहते हैं। कह नहीं सकते कि इस चित्तवृत्ति के मूल में समाज की विवेक-शक्ति को जाग्रत और पुष्ट करने की भावना मुख्यतः काम रही है या मनमोहक विलास-मधुर सामग्री का उपभोग करने और कराने की युवक-जन सुलभ कमजोरी। विचार-स्वातंत्र्य और कार्य-स्वातंत्र्य ही नहीं बल्कि प्रचार-स्वातंत्र्य के उदाराशय के भ्रम में कहीं उनसे स्वेच्छाचार, काम-लिप्सा और विषय-भोग को तो उत्तेजना नहीं मिल रही है? हां, अधिकार तो मनुष्य 'नंगा नाचने' का भी रखता है- पर वह किसी भी सभ्य समाज में 'नंगा नाचने' के लिए स्वतंत्र नहीं है, और दूसरे, यदि वह नाचने लगे तो समाज को उससे जबाब तलब करने का भी अधिकार प्राप्त है। जन-समाज प्रायः सरल हृदय होता है। वह भोले-भाले शिशु की तरह है। वह सहवास, संस्कार और शिक्षा-दीक्षा से विवेक प्राप्त करता है। वह शिक्षक या साथी या मार्गदर्शक निस्सन्देह हितचिन्तक नहीं है, जो अपने विवेक को अपनी जेब में रखकर उसकी बुद्धि को निरंकुश छोड़ देता है। कोई भी अनुभवी शिक्षाशास्त्री और समाज-शास्त्री इस रीति का अनुमोदन न करेगा। प्रत्येक शिक्षा-शास्त्री और समाज-शास्त्री ने निर्दोष और पवित्र वायु-मण्डल में ही मनुष्य की उच्च मनोवृत्तियों के अर्थात् मनुष्यता के विकास की कल्पना की है। मनुष्य निसर्गतः स्वतंत्र है, पर निरंकुश नहीं, प्रकृति का साम्राज्य इतना सुव्यवस्थित है कि उसमें निरंकुशता के लिए जरा भी जगह नहीं है। प्रकृति के राज्य में पशु-पक्षी भी अपने समाज के अन्दर, निरंकुश नहीं हैं। जहां कोई निरंकुश हुआ नहीं कि प्रकृति ने अपना राज्य-दण्ड उठाया नहीं। फिर उस शिक्षक या साथी से समाज को लाभ ही क्या, जो अपने विवेक का लाभ उसे न पहुँचाता हो। अन्न और कंकर दोनों वस्तुयें बालक के सामने लाकर रख देने और चुनाव की सारी पसन्दगी उसपर छोड़ देनेवाले शिक्षक के विवेक की कोई प्रशंसा करेगा? सन्तान-वृद्धि को रोकने के लिए ब्रह्मचर्य और कृत्रिम साधन इन दो में से कृत्रिम-साधनों की सिफारिश करने वाले और ब्रह्मचर्य को सर्व-साधारण के लिए अ-सुलभ बनाने वाले शिक्षक या डाक्टर की स्तुति कितनी की जाय? वे तो और एक कदम आगे बढ़ जाते हैं—चुनाव की पसंदगी भी जन-साधारण पर नहीं छोड़ते, उलटा स्पष्टतः अपने प्रिय (और मेरी दृष्टि में हानिकर) साधन की सिफारिश भी करते हैं और

सर्वसाधारण के लाभार्थ उसकी विधि भी बता देते हैं !

स्वतन्त्रता और निरंकुशता या उच्छृंखलता दो जुदा चीजें हैं। स्वतन्त्रता का मूलाधार है संयम, निरंकुशता का मूलाधार है स्वेच्छाचार। संयम के द्वारा मनुष्य स्वयं तो स्वतन्त्र होता ही है पर वह औरों को भी स्वतन्त्र रहने देता है। स्वेच्छाचार का अर्थ है औरों की न्यायोचित स्वतन्त्रता का अपहरण। यदि हमें औरों की स्वतन्त्रता भी उतनी प्यारी हो जितनी कि खुद अपनी तो हमें संयम का व्यवहार किये बिना चारा नहीं। जो खुद तो स्वतन्त्र रहना चाहता है, पर दूसरे की स्वतन्त्रता की परवा नहीं करता, वह स्वतन्त्रता का प्रेमी नहीं, स्वेच्छाचार का प्रेमी है, स्वार्थान्ध है। ब्रह्मचर्य संयम का ककहरा है और विवेक संयम का नेता है। अतएव विवेकहीन ज्ञान-प्रचार अज्ञान-प्रचार का दूसरा नाम है। गन्दी बातों का प्रचार स्वेच्छाचार ही है। स्वेच्छाचार समाज का अपराध है। स्वेच्छाचार और असंयम एक ही वस्तु के दो रूप हैं। मनुष्य संयम करने के लिए चारों ओर से बाध्य है। प्रकृति का तो वह धर्म ही है। स्वेच्छाचार या असंयम प्रकृति का नहीं, विकृति का धर्म है। प्रत्येक मनोवेग को प्रकृति का धर्म मानकर उसे उच्छृंखल छोड़ देना पागलपन या उन्मत्तता को प्रकृति का धर्म बताना है। ऐसा समाज मनुष्यों का समाज न होगा। राक्षसों का समाज होगा, दीवानों का समाज होगा। मनुष्य स्वयं भी संयम के लिए प्रेरित होता है और जबतक उसे स्वयं ऐसी प्रेरणा नहीं होती, तबतक समाज उससे संयम का पालन कराता है—नीति और सदाचार के नियमों की रचना करके और उनका पालन कराके। इस प्रकार मनुष्य प्रकृति, स्वयं-प्रेरणा और समाज तीनों के द्वारा संयम करने के लिए बाध्य है। मनुष्य की सबसे अच्छी परिभाषा यही हो सकती है—संयम का पुतला। मनुष्य-समाज और पशु-समाज में अन्तर डालने वाली यदि कोई बात है तो यही कि मनुष्य समाज में नीति-सदाचार, विवेककी सुव्यवस्था है, पशु-समाज में नहीं। यदि हो तो उसका ज्ञान हमें नहीं। नीति-सदाचार मनुष्य के गहरे सामाजिक और आत्मिक अनुभव के फल हैं। उनकी उपेक्षा करना लड़कपन है। उनकी हंसी उड़ाना स्वयं अपनेको गालियां देना है। फिर किसी वैज्ञानिक विषय की वैज्ञानिक ढंग पर, उसके जिज्ञासुओं के सामने विज्ञानशालाओं में चर्चा करना एक बात है, और सर्वसाधारण के सामने लड़के-लड़कियों के सामने, उसका प्रदर्शन करना, प्रचार करना, विधि-

विधान बताना हद दर्जे का स्वेच्छाचार है। सुव्यवस्थित और शिष्ट समाज इसे सहन नहीं कर सकता। अतएव जबतक समाज को आप इस बात का यकीन नहीं करा सकते कि सुरुचि, अश्लीलता, शिष्टता-सम्बन्धी आपकी कसौटी ही ठीक है तबतक आपका यह कृत्य निरंकुश ही माना जायगा। समाज के 'मौन' को 'सम्मति-लक्षण' मानना तो भारी गलती है। नहीं, उसकी सज्जनता और सहनशीलता का उसे दण्ड देना है।

यूरोप की कितनी ही बातें अनुकरण-योग्य हैं, पर हर नई बात नहीं। हमें अपने विवेक से पूरा-पूरा काम लेना चाहिए। यूरोप अभी बच्चा है—भारत बूढ़ा है। आज भारत चाहे पराजित हो, गुलाम हो, पतित हो, पर अब भी यूरोप को वह समाज-शास्त्र और धर्म-शास्त्र की शिक्षा दे सकता है। उसके ज्ञान और अनुभव की सच्ची कदर तब होगी जब यूरोप कुछ प्रौढ़ावस्था में पदार्पण करेगा। इसलिए यूरोप की किसी भी नई चीज का स्वागत करने के पहले हमें यह देखना चाहिए कि हमारे यहां इसके लिए क्या विधि-विधान है। यदि कुछ भी न होंगे; या यूरोप से अच्छे न होंगे तभी हम देश, काल, पात्र का पूरा विचार करके उसको अपनावें। कोई चीज महज इसीलिए अनुकरणीय नहीं हो सकती कि वह नई है, या यूरोप की बनी है। गुण-दोष की छान-बीन होने के बाद ही अनुकरण होना चाहिए। ब्रह्मचर्य की महत्ता सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। संयम के गुण स्पष्ट हैं। दिल को कड़ा करके थोड़ा सा अनुभव कर देखिए। हाथ कंगन को आरसी क्या? हमारा मन अपने बस में नहीं रहता इसलिए ब्रह्मचर्य को कोसना अपनी निर्बलता की नुमाइश दिखाना है। इन्द्रिय-निग्रह में कौड़ी का खर्च नहीं, कृत्रिम साधनों को खरीदने के लिए डाक्टरों की दूकानों पर जाकर रुपया बर्बाद करने की जरूरत नहीं। थोड़ा मन को बस में रखने की जरूरत है। आश्चर्य और खेद इस बात पर होता है कि लोग कृत्रिम साधनों को ब्रह्मचर्य से ज्यादह सरल और सुसाध्य बताते हैं। यदि हमें सचमुच अपनी सन्तति के ही कल्याण की इच्छा है, जिसका कि दावा कृत्रिम साधनों के हामी करते हैं, अपनी काम-लिप्सा को तृप्त करने की इच्छा नहीं, तो हम अनुभव करेंगे कि कृत्रिम साधनों की अपेक्षा ब्रह्मचर्य ही स्वाभाविक, सस्ता, स्वास्थ्य-सौन्दर्य-वर्धक और स्थायी साधन है। यह मानकर कि ब्रह्मचर्य सर्वसाधारण के लिए कुछ मुश्किल है, कृत्रिम

साधनों की सिफारिश करना ऐसा ही है जैसा कि हमारी सरकार का फौज के लिए वेश्याओं की तजवीज करना, या घर में शराब बनाना बुरा है इसलिए शराब की भट्टी खोल कर वहां पीने भेजना। कृत्रिम साधनों के उपयोग की सिफारिश करना लोगों को कायरता की शिक्षा देना है— एक ओर ब्रह्मचर्य के पालन की आवश्यकता न रहने देकर और दूसरी ओर सन्तान के पालन-पोषण के भार से मुक्त करके। विषय-भोग की उन्मत्तता तो वे अपने अन्दर कायम रखना चाहते हैं, पर उसकी जिम्मेवारियों से दुम दबाना चाहते हैं। यह हद दर्जे की कायरता है। या तो संयम का पालन करके पुरुषार्थ का परिचय दीजिए या सन्तान का भार वहन करके पुरुषार्थी बनिए। ब्रह्मचर्य-पालन के लिए सिर्फ सादा जीवन, सत्संगति, शुद्ध विचार की आवश्यकता है। उन्हें यह सब मंजूर नहीं। अपने क्षणिक शारीरिक सुख के लिए, अपनी कल्पित कमजोरी की बदौलत, सारे मानव-वंश के कुछ मृदुल और सात्विक गुणों के विनाश का बीज बोना, इस स्वार्थान्धता का, इस अज्ञान का कुछ ठिकाना है! उन्होंने सोचा है कि इस अनियंत्रित कामलिप्सा और उसकी निरन्तर पूर्ति से स्वयं उनके शरीर, मन और बुद्धि पर तथा उनकी सन्तान की मनोदशा और प्रवृत्तियों पर क्या असर होगा? यूरोप के मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि ऐसे अप्राकृतिक साधनों के प्रयोग की बदौलत वहां एक भिन्न और विपरीत प्रकृति का नया वर्ग ही निर्माण हो रहा है! गृहस्थ-जीवन की हस्ती जबतक दुनिया से मिट नहीं जाती तबतक कृत्रिम उपायों से सन्तान-वृद्धि-निग्रह का प्रचार करना गृह-जीवन को नीरस और अमंगल बनाने का प्रयत्न करना है। पता है, आपके गुरु यूरोप में अब केवल कम सन्तति नहीं, बिल्कुल ही सन्तति न होने देने की इच्छा अंकुरित हो रही है? क्यों? वे नहीं चाहते कि सन्तति की बदौलत उनके शारीरिक और आर्थिक सुख में बाधा पड़े! अनियंत्रित प्रजोत्पादन के हक में कोई भी विचार-शील पुरुष राय न देगा। पर उसका स्वाभाविक साधन ब्रह्मचर्य है, संयम है, न कि ये कृत्रिम साधन। उनसे अभीष्ट-सिद्धि के साथ ही मनुष्य के बल-वीर्य की और उच्च व्यक्तिगत तथा सामाजिक गुणों की वृद्धि होगी; तहां कृत्रिम साधनों से व्यक्तिगत, शारीरिक सुखेच्छा-मूलक स्वार्थ-भाव और हीन तथा विपरीत मनोवृत्तियों की वृद्धि होगी। नीति और सदाचार सामाजिक सुव्यवस्था की बुनियाद हैं। अतएव क्या

विज्ञान, क्या कानून, क्या कला सब नीति और सदाचार के पोषक होने चाहिए। पर समाज में कुछ विपरीत मनोवृत्ति वाले लोग भी देखे जाते है जो इन साधनों का उपयोग नीति-सदाचार के घात और निरंकुशता तथा स्वेच्छाचार की वृद्धि के लिए किया करते हैं। हो सकता है कि उनका प्रेरक हेतु जन-कल्याण ही हो, पर इसमें कोई शक नहीं कि उनकी कार्य-विधि मे विचार, अनुभव और ज्ञान की जगह जोश, आतुरता और अ-विचार हुआ करता है। विचार-हीन उत्साह को बन्दर की लीला ही समझिए।

इसलिए उन सज्जनों से मेरी प्रार्थना है कि दया करके देश के युवकों को इस कायरता और स्वार्थान्धता के उलटे रास्ते पर न ले जाइए। यदि आप देश-हितैषी है तो उन्हे पुरुषार्थ की, ब्रह्मचर्य की ही शिक्षा दीजिए। उसीके प्रचार की तजवीजें सोचिए। ईश्वर के लिए अपनी कमजोरियों का शिकार उन्हे न बनाइए। मनुष्य क्या नहीं कर सकता? जो मनुष्य सारे पृथिवी-मंडल को हिला सकता है, हम देखते हैं कि वह हिला रहा है, वह ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता, संयम पूर्वक गृहस्थ-जीवन नहीं व्यतीत कर सकता, ऐसी बातें शिक्षित मनुष्यों के, तिस पर भी भारतवासी के, मुंह से शोभा नहीं देती। जो बात जरा मुश्किल मालूम होती है उसके लिए फौरन अविचार-मूलक आसान तजवीज खोजना, मानो पुरुषार्थ-हीन बनाने का कार्यक्रम तैयार करना है। कोशिश करने की जरूरत अगर है तो मुश्किलों को आसान बनाने की, ऊपर चढने की तदबीर करने की, न कि मुश्किलों से दुम दबाकर भागने का नुसखा दिखाने की या नीचे गिरने और फिसलने की तरकीब बताने की। ब्रह्मचर्य को एकबारगी गालियां न दे बैठिए। जरा अपने बुजुर्गों के अनुभवों को भी पढ देखिए। उन्होंने जीवन के हर अंग मे ब्रह्मचर्य और संयम की जरूरत बताई है। गृहस्थ-जीवन को भी उन्होंने मनुष्य की कुछ कमजोरियों के लिए जिन्हें वह अबतक दूर नहीं कर पाया है—एक रियायत के तौर पर माना है। उनके सामाजिक ज्ञान और अनुभव को बिना देखे ही, बिना आजमाये ही धता न बताइए। मैं यह नहीं कहता कि बड़ों-बूढ़ों के या किसीके भी गुलाम बनो। पर मैं यह जरूर कहता हूँ, जो अपने मनोवेगों के आगे विचार और अनुभव की सीख पर ध्यान नहीं देता वह इस उक्ति को अपनेपर चरितार्थ करेगा—

सुहृदां हितकामानां न शृणोति हि यो वचः ।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति ॥

हम जरूर स्वतन्त्रता के हामी हों, पुजारी हों, अविवेक के नहीं । हम जरूर ज्ञान के लिए लालायित रहें, पर अश्लील बातों के नहीं— बुरी बातों के नहीं । बुरी बातों का मिटाना मुश्किल है, इसलिए उनको सुलभ और इष्ट बनाना सुनीति नहीं है ।

८ : कालेजों में नीति-हीनता

आए दिन ऐसी बातें कानों पर आया करती हैं कि कालेजों का वातावरण नीति और सदाचारहीन होता जा रहा है । लड़कियों, विद्यार्थियों और अध्यापकों तक के चरित्र-दोष और पतन की कहानियाँ हृदय को रुलाती हैं । देहात में मध्य भारत के एक कालेज में गये हुए विद्यार्थी का पत्र मेरे हाथ में है । उसीके शब्दों में उसका आशय इस प्रकार है:—

विद्या का धर्म है आत्मिक उन्नति और आत्मिक उन्नति का फल उदारता, त्याग, सदिच्छा, सहानुभूति, न्यायपरता और दयाशीलता है । जो शिक्षा हमें निर्बलों को सताने पर तैयार करे, जो हमें धरती और धन का गुलाम बनावे, जो हमें भोगविलास में डुबावे, जो हमें दूसरों का रक्त पीकर मोटा होने का इच्छुक बनावे, वह शिक्षा नहीं भ्रष्टता है । इन बातों को ध्यान में रख कर जब मैं कालेजों और स्कूलों के वर्तमान शिक्षण पर विचार करता हूँ तो मुझे इनके द्वारा इस कथन के अन्तिम भाग के ही फल का विश्वास हो गया है । आज का भारतीय शिक्षण गुलामी और विलासिता से भरा हुआ है । इसमें आत्मोन्नति, त्याग और देश-सेवा के भाव देखना प्याज में से सार ढूंढने के बराबर है । स्वयम् मेरा अनुभव है कि लड़के क्लास रूम में सिगरेट पीते और रंडीबाजी की बातें करते हैं । इन कार्यों को देख कर व सुन कर मैं खून के आंसू बहाता हूँ । मुझे इस शिक्षण से विरक्ति हो रही है । मैं नहीं समझता कि ऐसे आचरण वाले भविष्य में क्या करेंगे ? मेरे विचार में मनुष्य अपने विचारों की पवित्रता से बन सकता है, न कि अधिक विद्या पढ़ने से ।......"

वर्तमान शिक्षा-पद्धति का दोष अब सभी मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं, इस लिए उसकी चर्चा करना फिजूल है । कांग्रेसी सरकार

तो अपने ंत। में इसे जड़मूल से सुधारने पर तुली हुयी मालूम होती है। पर हमें भी कुछ करने की जरूरत है। नीति और सदाचार मनुष्य-जीवन का पाया है। यह निर्विवाद है। पश्चिमी शिक्षा और संस्कारों ने इस पाये को जरूर ढीला किया है, लेकिन हम हिन्दुस्तानी अपनी इस भूल को शीघ्र ही समझ लेंगे—इसमें मुझे जरा भी शंका नहीं है। जब तक शिक्षा-प्रणाली में ही सुधार न हो, तब तक कालेजों का वातावरण तो शुद्ध और नीतियुक्त रखने की जरूरत है ही। यह बहुत कुछ अवलम्बित है आचार्यों और अध्यापकों के शील और चारित्र्य पर। इस विषय में उदासीनता या ढिलाई का परिणाम बुरा ही हो सकता है। खुद विद्यार्थियों को भी इस बारे में चुप न बैठना चाहिए। अपने सहपाठियों को जागृत रखना चाहिए। और लोकमत को ऐसा प्रबल बनाने का यत्न करना चाहिए कि जिसमें नीति और सदाचार हीनता के कीटाणु जन्म न लेने पावें, यदि जन्म पा गये तो शुद्ध हवा में वे उसी क्षण मर जायें। शिक्षणालयों में विद्यार्थी अपना जीवन बनाने जाते हैं, वहीं यदि उनके जीवन बिगड़ने लगें तो इससे बढ़ कर अनर्थ क्या हो सकता है? रक्षक ही भक्षक बन गया तो फिर खैर कहां?

६ : पतन से बचने के उपाय

यों भी और खासकर देश-सेवा के क्षेत्रों में कार्यकर्ता स्त्री और पुरुष एक दूसरे के सम्पर्क में आये और रहे बिना नहीं रह सकते। ऐसी दशा में वे पतन की ओर न चले जावें इस के लिए क्या उपाय हो सकते हैं? इस विषय की भी चर्चा यहां कर लें तो अच्छा होगा।

मेरे अपने विचार मे तो मनुष्य पाप की तरफ तभी ढुलकता है जब उसकी नैतिक भावना ही कमजोर हो या होने लगी हो। समाज के कल्याण के जो नियम होते है, उन्हें नीति कहते हैं। वफादारी, वचन पालन समाज के लिए बहुत उपयोगी उच्च नियम है। ये सत्य-पालन के ही दूसरे नाम है। एक—दूसरे के प्रति सच्चा रहने का नाम वफादारी है। इसी तरह चोरी पाप है, क्योंकि उस से समाज की व्यवस्था में गड़बड़ी होती है। जिन नियमो के भंग से समाज को हानि होती है, उन्हीं के भंग से भंग करने वाले व्यक्तियो का भी चित्त अधिक दूषित होता है और वे कुमार्ग में दृढ़ होते हैं। इससे नीति-भंग का नैतिक-दोष व्यक्ति और समाज दोनो के लिए अहितकर है।

किसी की बहू—बेटी को कुदृष्टि से देखना, उसके साथ व्यभिचार

करना, चोरी और बेवफाई दोनों होने से दुहरा दोष है। चोरी तो हुई उस बहन के पति या मां-बाप की, और बेवफाई हुई अपनी धर्मपत्नी के प्रति। जो दम्पती व्यभिचार में प्रवृत्त होते हैं वे एक दूसरे के प्रति सचाई का घात करते हैं।

इस पर आजकल के नव-मतवादी यह दलील देते हैं कि पारस्परिक सच्चाई का अर्थ तो है दोनों का मन मिल जाना। यदि किन्हीं दो स्त्री पुरुष का मन मिला हुआ है तो उनका परस्पर संयोग व्यभिचार नहीं है, इसके विपरीत जिनका मन अन्दर से फट गया है और केवल विवाह-बन्धन मे जकड़े होने के कारण संयोग में प्रवृत्त होते हैं वह वास्तव मे व्यभिचार है।

मेरा जवाब यह है कि व्यभिचार दो तरह का होता है, व्यक्तिगत और सामाजिक। पूर्वोक्त दोनों उदाहरण व्यभिचार में ही आते हैं। पहले मे प्रधानतः सामाजिक व्यभिचार है और दूसरे में प्रधानतः व्यक्तिगत। केवल मन का मिल जाना ही संभोग के लिए या दम्पती बनने के लिए काफी नहीं हैं यदि कुमार-कुमारी हैं तो उनके माता-पिता अभिभावक, या समाज की स्वीकृति की आवश्यकता है। यदि दम्पती हैं तो अपने विधियुक्त साथी से पहले सम्बन्ध-विच्छेद करना जरूरी है। दोनों उदाहरणों की इन शर्तों का पालन किये बिना किसी का दम्पती बनजाना चोरी अर्थात् व्यभिचार ही कहला सकता है। यदि नहीं तो वे बतावें कि ऐसे संबंधो को वे उसी तरह प्रकट रूप से क्यों नहीं करते और उन्हें कायम रखते? छिप छिप कर क्यों करते हैं? छिप कर करना ही बताता है कि वे समाज के रोष और दण्ड से अपने को बचा कर अपनी कामाग्नि को संतुष्ट करना चाहते हैं। यह किसी भी नैतिक भित्ति पर सभ्य और सह्य नहीं माना जा सकता। अस्तु।

इतने नैतिक विवेचन की जरूरत यों पड़ी कि व्यभिचार के मूल में हमारी नैतिक शिथिलता ही प्रधान रूप से काम करती हुई पाई जाती है इस लिए हमें अपने-आपको उसी जगह से सम्भालना चाहिए जहाँ से हमारा मन ही बेवफाई और चोरी की तरफ झुकने लगे। बेवफाई और चोरी का भाव मन में जगते ही हमारे चित्त में हजारों बिच्छू के डंक लगने की वेदना होनी चाहिए। जिस किसी के ऐसा न होता हो उसे समझना चाहिए कि वह मूर्च्छित है, अपने व्यक्तिगत हिताहित और समाज के कल्याण की कोई चिन्ता उसे नहीं है,

कम से कम उस समय वह मर गई है और मनुष्य नहीं पशु की कोटि में चला गया है। वह अपने को इस बात का अधिकारी न माने कि सम्बंधित व्यक्ति या समाज उसके साथ मनुष्य की तरह व्यवहार करे। यदि हमारी नैतिक भावना इतनी जाग्रत और तीव्र रहेगी तो व्यभिचार, चोरी, आदि नैतिक दोषों से हमारा बहुत बचाव हो सकता है।

इसके साथ ही यह भी जरूरी है कि हम दूसरे बाहरी साधनों से भी अपनी रक्षा के लिए सहायता लें। इसमें सबसे पहिली और अच्छी बात यह है कि जब हमारा मन किसी पुरुष या स्त्री को देख कर बिगड़ने लगे तब हमारी आंखों के सामने हमारे पति या पत्नी की मूर्ति खड़ी हो जानी चाहिए, हमें अपने इस दोष पर झिड़कती और फटकार बताती हुई। यदि अविवाहित हैं तो यह ख्याल मन में आना चाहिए कि यदि हमारे पति या पत्नी होते और वे इस प्रकार बुरे रास्ते जाने लगते होते तो क्या हमें बरदाश्त होता? इस कल्पना से हमारे सुप्त स्वाभिमान को चोट लगेगी, हमारी मनुष्यता जाग्रत होगी और वह हमारी पवित्रता की रक्षा के लिए दौड़ पड़ेगी। यह कल्पना या अनुभव करना भी बहुत सहायक होगा कि ईश्वर सर्वसाक्षी है। वह हमारे प्रत्येक भाव, विकार, विचार, उच्चार और आचार को सदा जागृत रह कर देखता है चाहे हम उन्हें कितने ही एकान्त में क्यों न करें अथवा यह अनुभवसिद्ध श्रद्धा मन में जमावे कि 'बैर और पाप छिपाये नहीं छिपते' और 'पाप आसमान पर चढ़ कर बोलता है,' जगत् में कोई पापी ऐसा नहीं हुआ जिसके सब पाप अखीर तक छिपे रहें, कहीं न कहीं, किसी न किसी अवस्था में उसका भण्डा फूट ही गया है। हमारे कुल और खानदान की इज्जत, माता-पिता की सुकीर्ति, मित्रों और लोगों के सामने लज्जित होने का अवसर, दुश्मनों को हमें धर दबाने और जलील करनेका मौका मिलनेकी सम्भावना, इनमें से किसी भी बात का असर यदि किसी मनुष्य पर नहीं पड़ता है और वह पतित हो जाता है तो उस पशु के सिवा और क्या कहा जाय? फिर, पहली बार के पतन से बच जाने की सम्भावना अधिक है परन्तु दूसरी बार के पतन से बचना और भी कठिन है। इसलिए जो पाप और बुराई से बचना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे पाप की परीक्षा न करें — अपने को उसकी आजमाइश करने की जोखिम में न डालें, उस से सैकड़ों मील दूर ही रहने की कोशिश करें।

: ५ :

नवीन आर्थिक-व्यवस्था

१ : बौद्धिक स्वार्थ-साधुता

हमारी वर्तमान अर्थ-व्यवस्था शोषण के सिद्धांत तथा हिंसा बल पर आश्रित है। इससे समाज में विषमता, अशांति व कलह का दौर-दौरा है उसे मिटाने के लिए नवीन अर्थ-व्यवस्था की जरूरत है। इसके लिए कुछ लोगों का यह कहना है कि पूंजीवाद का मुंह काला करना जरूरी है और पूंजीवाद को मिटाने के लिए वर्गवाद और वर्ग-युद्ध अनिवार्य है। किंतु मेरी राय में हमारा असली शत्रु है हमारी बौद्धिक-स्वार्थसाधुता। क्योंकि वास्तव में देखा जाय तो जो मनुष्य सारे समाज के हित का विचार करता है, जो साम्प्रदायिक उत्थान का हामी है, वह कदापि एक व्यक्ति के नाश पर दूसरे व्यक्ति का, एक जाति या श्रेणी के नाश पर दूसरी जाति या श्रेणी का, अथवा एक राष्ट्र के नाश पर दूसरे राष्ट्र का अभ्युत्थान या लाभ नहीं चाह सकता। एक का नाश और दूसरे का अभ्युत्थान, यह समाजवादी की भाषा नहीं हो सकती। वह सबका समान उदय चाहता है। वह पीड़क और पीड़ित, उन्नत और अवनत, सुखी और दुखी, धनी और निर्धन, सबका समान हित चाहता है। हित और नाश ये दोनों शब्द, ये दोनों भाव, एक जगह नहीं रह सकते। हित-कर्ता सुधार चाहता है, नाश नहीं। वह नाश करेगा बुराई का, बुरी प्रणाली का, बुरे शासन का, पर बुरे व्यक्ति का नहीं। व्यक्ति का तो वह सुधार चाहता है। जिसका सुधार चाहता है उसीका नाश करके वह उसका सुधार कैसे करेगा? वह एक का नाश करके दूसरे को सच्चे अर्थ में बचा भी नहीं सकता। किसी के बचाने या सुधारने का उपाय क्या है? उसे उसकी भूल बताना, समझाना और सुधार के लिए उत्साहित

करना, सुधार-मार्ग में आने वाली कठिनाइयां दूर करना, न कि एक को मार कर उसके डर से दूसरे को उस बुराई से बचाना। डर से मनुष्य कै दिन तक बचेगा? हमें उसके मन में बुराई के प्रति असहिष्णुता, बुरे के साथ असहयोग का भाव उत्पन्न करना चाहिए। इससे वह बुराई से बचेगा भी और दूसरों का भी, बिना नाश किये सुधार होगा।

वर्गयुद्धवादी अपने पक्ष की शुरूआत इस तरह करते हैं—संसार मे दो वर्ग है, एक स्वार्थ-साधु या शोषक,दूसरा पीड़ित या शोषित। शोषक अपने धन-बल से पीड़क बन गया है। अपने धनैश्वर्य के बल पर उसने सत्ता भी अपने हाथ मे करली है। जब तक यह वर्ग संसार में रहेगा तब तक जनता तो पीड़ित ही बनी रहेगी। यह वर्ग इतना प्रबल और सुसंगठित हो गया है कि जब तक सत्ता हाथ में लेकर उसे नष्ट नहीं कर दिया जायगा तबतक पीड़ित जनता का उद्धार न होगा। रूस में लेनिन ने शस्त्र-बल से ऐसी क्रांति की है। उसकी सफलता ने इन भावों और योजनाओ को बहुत प्रोत्साहन दिया है। इस विचार के लोग अपने को कम्यूनिस्ट—कहते हैं। पर असल में देखा जाय तो वे समष्टि-हित के भ्रम से वर्ग-हित कर रहे है। भले ही वह बहु-जन-समाज का हो। हम विश्लेषण के लिए भले ही ऐसे दो वर्ग मान लें, पर एक के विनाश पर दूसरे के उदय की कल्पना करना समष्टि-हित की कल्पना के प्रतिकूल है।

परन्तु मैं तो एक और दूर की तथा गहरी बात पाठकों के सामने रखना चाहता हूँ। मै मानता हूँ कि धन-बल का वर्तमान संगठन समष्टि-हित के अनुकूल नहीं है, परन्तु समष्टि के पीड़न का मुख्य कारण यही नहीं है। धन, सत्ता और ज्ञान अथवा बुद्धि तीनों को किसी और चीज ने अपना साधन बनाया है, वह है मनुष्य की स्वार्थ-साधुता या शोषकवृत्ति। जब यह बढ़ जाती है तब मनुष्य पीड़क बन जाता है। अकेले धनी ही नहीं, सत्ताधारी और विद्वान या बुद्धिशाली प्रायः सभी अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कर रहे हैं। मेरी समझ में यह मानना उतना सही नहीं है कि धन ने सत्ता और बुद्धि को अपने लाभ के लिए खरीद लिया है, जितना यह कि बुद्धि ने धन और सत्ता दोनो को अपना गुलाम बना रक्खा है। बुद्धि का दरजा धन और सत्ता से बढ़कर है। बिना बुद्धि के न तो धन पैदा हो सकता है न सत्ता आ सकती है, न दोनों का संगठन

हो सकता है। विज्ञान के अद्भुत आविष्कार, जो धन, बुद्धि और सत्ता की रक्षा के जबर्दस्त साधन बने हैं, बुद्धि की ही करामात है। अतएव मैं उन भाइयों का ध्यान इस ओर खींचना चाहता हूँ जो महज पूंजीवाद के विरोधी हैं और उसी को जन-साधारण के दुःखों की जड़ मानते हैं। वे गहराई में उतरेंगे तो उन्हें पता लगेगा कि धन और सत्ता के दुरुपयोग से बढ़कर बौद्धिक शोषण—स्वार्थ-साधुता है और पहले उसे हमें समाज में से निकालना है।

यह कैसे निकले? सबसे पहले मनुष्य की बुद्धि को शुद्ध कीजिए। उसे स्वार्थ-साधना से हटाकर देश-सेवा और जन-सेवा में लगवाइए। यह भावना फैलाइए कि मनुष्य अपने लिए न जीये, दूसरों के लिए जीये। अपने आचरण के द्वारा ऐसा उदाहरण पेश कीजिए। सदा जागरूक रहिए कि आपकी बुद्धि आपके स्वार्थ के लिए तो दूसरों का उपयोग नहीं कर रही है। यदि आपने अपनी बुद्धि पर अच्छी तरह चौकी-पहरा बिठा दिया है तो आप देखेंगे कि न आपके पास धन जमा हो रहा है और न सत्ता आ रही है। आप धन और सत्ता से उदासीन हो जायँगे। यदि धन और सत्ता आपके पास आये भी तो आपकी शुद्ध बुद्धि उन्हें अपनी स्वार्थ-साधना में न लगने देगी, जन-कल्याण में ही उसका उपयोग करावेगी। आप देखते ही हैं कि धन और सत्ता बजात खुद उतनी बुरी चीजें नहीं हैं। सद्-बुद्धि उनका सदुपयोग करती है और कुबुद्धि दुरुपयोग। यही असली हानिकर वस्तु है। इससे हमें अपने को सब तरह बचाना चाहिए।

आपको समाज में ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो धन-बल को कोसते हैं, पर सत्ता के लिए लालायित रहते हैं। इस तरह ऐसे पुरुष भी मिलेंगे जो धन और सत्ता दोनों की निन्दा करते हैं किन्तु अपनी बुद्धि या ज्ञान के द्वारा दोनों का उपयोग स्वार्थ-साधन में करते हैं। फिर बुद्धि का दुरुपयोग धन और सत्ता के दुरुपयोग से अधिक सूक्ष्म अतएव अधिक गहरा प्रभावकारी है। इसलिए मेरा तो यह निश्चित मत है कि यदि भारत के वास्तविक संदेश को हमने समझ लिया है, हमें समाज की व्यवस्था को सुधारना है, उसमें सामंजस्य और समता लाना है, तो अकेले पूंजीवाद के पीछे पड़ने से काम न चलेगा। पूंजी, सत्ता और बुद्धि तीनों के दुरुपयोग की जड़ पर कुठाराघात करना होगा। इसमें भी सबसे पहले बौद्धिक स्वार्थ-साधुता का गला घोंटना होगा। क्योंकि वास्तव में बुद्धि ही इनका नेतृत्व करती है अतएव समाज के सभी विचारशील पुरुषों से मेरी प्रार्थना

है कि वे अकेले पूंजीवाद का पिण्ड छोड़कर मनुष्य की बुद्धि को शुद्ध करने का सबसे अधिक प्रयत्न करें। मनुष्य को अब से अच्छा और ऊंचा मनुष्य बनाने का प्रयास करें। सत्पुरुष बुरी प्रणाली को भी सुधार देगा और दुष्टजन सत्प्रणाली को भी भ्रष्ट कर देगा।

२ : स्वतन्त्र अर्थशास्त्र

अर्थ या धन हमारे दैनिक जीवन में उस वस्तु का नाम है जिसको देकर बदले में हम दूसरी इच्छित वस्तु प्राप्त कर सकते हैं, या जिसका उपयोग हम स्वयं अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति में करते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि धन एक साधन है हमारे जीवन को सुखी, सन्तुष्ट और उन्नत बनाने का। इसका यह नतीजा निकलता है कि अर्थ-शास्त्र का उद्देश्य धन की ऐसी व्यवस्था करना है जिससे मानव जीवन के विकास और पूर्णता में सहायता पहुंचे। जब अर्थ-शास्त्र जीवन की मूल आवश्यकताओं को छोड़कर फिजूलियात को बढ़ाता है तब वह जीवन के विकास को आघात पहुंचाता है। और सामूहिक हित के विरुद्ध व्यक्ति-हित को महत्त्व देता है और जो लोग भोग-विलास या सामाजिक प्रतिष्ठा और सत्ता के भूखे होते हैं वे अर्थ-शास्त्र को जीवन से पृथक और दूर कर देते हैं। वे जीवन की अपेक्षा से अर्थ-शास्त्र को नहीं गढ़ते बल्कि अर्थ-शास्त्र के सांचे में जीवन को ढालने का उद्योग करते हैं। जीवन को आर्थिक नियमों का गुलाम बना देते हैं। नहीं तो क्या आवश्यकता है बड़े-बड़े कारखानों में हजारों मजदूरों के जीवन को बर्बाद कर देने की? एक धनी लाखों रुपया कमाकर घर में रखता है। मानवी-जीवन की साधारण आवश्यकताओं से अधिक धन वह क्यों संग्रह करे? क्या वह फिजूलियात और बुराइयों में अपना धन नहीं लगाता? क्या मुख्यतः वह धन उन लोगों के पास से खिंचकर नहीं आता है जिनके जीवन की बहुत-सी साधारण आवश्यकताएं भी अधूरी रह जाती हैं? फिर क्या वह धन दीन दुखी और दरिद्र के काम में आता है? यदि नहीं, तो बताइए, जिस अर्थ-शास्त्र ने उन्हें इस तरह लखपति बनने का अधिकार दे दिया क्या वह जीवन की पूर्णता का सहायक हुआ? अतिरिक्त धन संग्रह करके क्या उस धनी ने अपने और उन दरिद्र भाइयों के जीवन के विकास को नहीं रोका? यह एक ही उदाहरण इस बात के लिए काफी है कि हमारा वर्तमान अर्थ-शास्त्र दूषित है। उसे

सुधारने की सत्ता हमारे हाथ में आते ही अर्थात् हमारा स्वराज्य होते ही हमें जीवन और धन के सम्बन्ध को शुद्ध और समतौल करना होगा।

इसके लिए हमें सबसे पहले जीवन की साधारण आवश्यकताएँ स्थिर करनी होगी और फिर उसके अनुसार धन की व्यवस्था करनी होगी। पेट भर कर और पौष्टिक अन्न, तन ढकने को काफी कपड़ा आरोग्यप्रद घर और जीवन को ऊँचा उठाने वाला शिक्षण, इससे अधिक मनुष्य की साधारण आवश्यकताएँ और क्या हो सकती हैं? इसके अलावा लोक-व्यवहार या अन्य सामाजिक और धार्मिक आवश्यकताओं के लिए भी धन की आवश्यकता होती है। मैंने तथा दूसरे मित्रों ने २० साल पहले मनुष्य की सामान्य आवश्यकताओं का हिसाब जोड़ा था सो भी कंजूसी से नहीं, तो एक व्यक्ति के लिए २५) मासिक से अधिक आवश्यकता किसी तरह नहीं प्रतीत हुई। अब यदि हमारी सरकार प्रत्येक भारतवासी के लिए इतनी आय का मासिक प्रबन्ध कर दे और स्वास्थ्य तथा अधिकारों से सम्बन्ध रखने वाली बातों के अलावा इतने रुपये मासिक से अधिक न लेने का नियम बना दिया जाय तो क्या बुरा है? सच है कि जिन्होंने अपनी आवश्यकताएं बढ़ा रक्खी हैं उनको कष्ट में पड़ना होगा। परन्तु सरकार का यह भी फर्ज होगा कि उन्हें समझावे कि अतिरिक्त धन-संग्रह उनके जीवन को बना नहीं, बिगाड़ रहा है, और स्वतंत्र बनाने के बजाय गुलाम बना रहा है, निर्भय बनाने के बजाय डरपोक और तेजोहीन बना रहा है। जो बुद्धि लाखों रुपया पैदा कर सकती है, बड़े-बड़े व्यापार और उद्योग-संघ चलाती है क्या वह इतना नहीं समझ लेगी कि उनके जीवन का हित किसमें है? और यह तो हम बड़ी आसानी से उन्हें समझा सकते हैं कि लाखों करोड़ों आदमियों के हित और जीवन-क्रम के विपरीत वे अपना जीवन क्रम रख कर कैसे सुखी हो सकते हैं? एकाएक इतना गहरा परिवर्तन उनके लिए कष्ट-साध्य होगा। परन्तु यदि वे उसकी खूबी और आवश्यकताओं को समझने का प्रयत्न करते रहेंगे तो मुझे विश्वास है कि वे कष्ट के बजाय आनन्द का अनुभव करने लगेंगे। धनी जीवन में शान, विलासिता और हुकूमत ज़रूर है, पर ये तीनों जीवन के पालक नहीं घातक ही हो सकते हैं। सादगी, सरलता और सच्चाई का जीवन वह स्वतंत्र जीवन होता है जिसका आस्वाद डर के मारे उनके महलों तक पहुँच ही नहीं सकता। अस्तु।

इससे हम इस नतीजे पर पहुँचे कि धन जीवन के लिए है जीवन धन के लिए नहीं। इसी तरह हम और गहराई से विचार करेंगे तो पता लगेगा कि यदि मेरा पड़ोसी मेरे मुकाबले मे दुखी है तो गोया मै उसके उतने सुख को छीन लेता हूँ। इसलिए यदि मेरी यह इच्छा हो कि मेरे स्वदेश-भाई मुझसे अधिक सुखी, यदि नहीं तो मेरे बराबर तो सुखी हों तो मुझे अपनी आवश्यकताएं आसपास की स्थिति देखकर ही निश्चित करनी होंगी। इस क्रिया का नाम है अपरिगृह। मै जितना अधिक अपरिग्रही होऊँगा, अर्थात अपनी आवश्यकताएं जितनी कम करूंगा उतना ही अधिक सुखी मै दूसरो को कर सकूंगा। मै जानता हूँ कि कितने ही पाठकों को इतनी गहराई की बात रुचेगी नही और वे एकाएक अपरिग्रह को स्वीकार करके अपने को कष्ट मे डालना पसंद न करेंगे। परन्तु यदि स्वार्थ से परमार्थ अर्थात् अपनी सेवा की अपेक्षा दूसरो की सेवा, अपने सुख की अपेक्षा दूसरों को सुख पहुंचाना अधिक मानवोचित है तो उन्हें अपनी आवश्यकता घटाये बिना दूसरा रास्ता ही नही है। इसलिए यदि हमे सचमुच अपने वर्तमान अर्थशास्त्र को शुद्ध करना है तो उसे वर्तमान शोषणवृत्ति से स्वतंत्र किये बिना छुटकारा नही है। और मुझे तो विश्वास है कि भारत की भावी सरकार को अपनी योजना में अपरिगृह अथवा कम-से-कम सम्पत्ति के बंटवारे की समतौलता का नियम मानना ही पड़ेगा, यदि उसे देश के करोड़ों किसानो और मजदूर भाइयों के हितों की चिन्ता होगी और साथ ही धनी-मानी, राजा-रईस, इनके भी जीवन-विकास की जिम्मेवार वह अपने को समझेगी।

और जब कि धन के लिए जीवन मे इतना कम स्थान है, जीवन के लिए अनिवार्य होते हुए भी वह जीवन का अंशमात्र है तो फिर उसके लिए आपस में इतने कलह-काण्ड होने की क्या आवश्यकता है? एक तो लड़ाई-झगड़े में दोनों तरफ के लोग अपनी शक्ति बरबाद करते और दूसरे को यदि जीतकर हमने धन-ऐश्वर्य प्राप्त ही किया तो क्या अपने और समाज दोनों की दृष्टि से एक अनर्थ ही अपने घर में नहीं घुसेड़ा है। यदि इतनी मोटी-सी बात को हम समझ लें तो सारे समाज का जीवन कितना सुन्दर और सुखमय हो जाय।

३ : खादी—अहिंसा का शरीर

महात्मा गांधी की संसार को दो देनें सबसे बड़ी हैं, एक अहिंसा और दूसरी खादी। इधर महात्माजी यह समझाने का प्रयत्न जोरों से

कर रहे हैं कि खादी उनके नजदीक अहिंसा की प्रतीक है। खादी महज कपड़ा ही नहीं है, एक उसूल है। खादी को गांधीजी ने इतना महत्त्व दे दिया है कि कई बार मैं कहता हूँ खादी और गांधी समानार्थक हैं। अहिंसा यदि आत्मा है तो खादी उसका शरीर है। अहिंसा की जो भावना हमारे अन्दर है उसे यदि सामाजिक रूप में हमें प्रकट करना है तो हम खादी के रूप मे जितनी अच्छी तरह प्रकट कर सकते है, उतनी दूसरी तरह नहीं।

हिंसा के दो मुख्य लक्षण हैं:—एक,जो वस्तु न्यायतः हमारी नहीं है उसका अनुचित उपयोग करने की भावना; दूसरा दबाने या बदला लेने की भावना,समाज में पहली अर्थात शोषण करने की भावना ने जितना अनर्थ किया है; समाज की व्यवस्था पर जितना बुरा असर डाला है और समाज को जितना प्रभावित कर रखा है, उतना बैर या बदला लेने की भावना ने नहीं। बल्कि अधिक गहरा विचार किया जाय तो मालूम होगा कि इस शोषण-वृत्ति में से ही वैर-वृत्ति का जन्म होता है! इसलिए यदि समाज से वैरभाव अर्थात शत्रुता और प्रतिहिंसा का भाव मिटाना है तो हृदय से शोषण के भाव को ही नष्ट करना होगा। और यदि समाज से हिंसा को नष्ट करके अहिंसा को प्रस्थापित करना है तो शोषण के हर रूप को हर स्थान से हटाने का दृढ़ प्रयत्न करना होगा। और यह काम हम खादी द्वारा जितनी आसानी से कर सकते हैं; उतना और किसी तरह से नहीं। 'खादी' का यहां व्यापक अर्थ लेना चाहिए। खादी के लिए न बहुत पूंजी, न बहुत श्रम संग्रह की जरूरत है। जहां कहीं संग्रह या परिग्रह की भावना है वहां किसी न किसी रूप में शोषण को विद्यमान ही समझिए। 'खादी' थोड़े रुपये में थोड़े साधनों से थोड़ी जगह में बन सकती है और मेहनत और मजदूरी का बंटवारा ऐसे स्वाभाविक क्रम से और न्यायपूर्वक हो जाता है कि किसी को किसी का शोषण करने की सहसा गुंजाइश नहीं रह जाती। यदि खादी की व्याख्या कपड़े तक सीमित न रख कर तमाम हाथ से बनी चीजों तक मान ली जाय तो आर्थिक शोषण का प्रश्न बहुत आसानी से हल हो सकता है। क्योंकि खादी में जो उसूल है,वह वास्तव में हाथ-परिश्रम से तैयार किये माल को इस्तैमाल करना है। मशीन से माल तैयार करने की भावना की जड़ में धन-संग्रह की लालसा के सिवा और कुछ नहीं है। अगर जनता की

या बनाने वाले की सुख-सुविधा की ही भावना उसमें हो तो वह 'खादी' और 'खादी' के उसूल से ही पूरी हो सकती है। मशीन और मशीन के उसूल से किसी प्रकार नहीं।

प्रत्येक भावना की कोई स्थूल कसौटी अवश्य होती है। कोई भावना जब तक अमूर्त रहती है तब तक न वह जानी जा सकती है न उसका कोई सामाजिक मूल्य ही है। आपके मन में अहिंसा की भावना है। उसका परिचय आप संसार को कैसे देंगे? उससे समाज को कैसे लाभ पहुँचावेंगे? इसके लिए आपको कुछ वैसे कार्य और व्यवहार करने पड़ेंगे। हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत में तीन प्रकार से हम अपनी अहिंसा की भावना अच्छी तरह और उपयोगी ढंग से प्रकट कर सकते हैं। एक कौमी एकता के लिए प्रयत्न करके, दूसरा हरिजनों की सेवा करके, तीसरा खादी को अपनाकर और चरखा कात कर के। कोई भावना तभी उपयोगी हो सकती है जब वह ऐसे रूप में प्रकट हो जिससे देश और समाज की बहुत बड़ी आवश्यकता या अभाव की पूर्ति होती हो। हिन्दुस्तान में इस समय ये तीन सबसे बड़ी आवश्यकताएं हैं। मगर न्याय-पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की निगाह से खादी-संबंधी आवश्यकता सर्वोपरि है। और इसीलिए गांधीजी इस बात पर सबसे अधिक जोर दे रहे हैं। इस बात को ध्यान में रखकर मैं कहा करता हूँ कि खादी गांधीजी की एक महान देन है।

खादी हिन्दुस्तान में पहले भी थी, पर उस समय वह महज एक कपड़ा थी। आज वह एक भावना है, उसूल है और उस रूप में महान देन है। गांधीजी चाहते हैं सब चरखा कातें। जो कातें वे पहनें जो पहनें वे कातें। उन्होंने जिस तरह खादी के महत्व को समझा है उसे देखते हुए जिस दिन उनका बस पड़ेगा उस दिन वे उसे सबके लिए अनिवार्य कर दें तो आश्चर्य नहीं। यदि हिन्दुस्तान से ही नहीं, संसार से शोषण को खतम करना है तो सारी दुनिया को एक दिन खादी की योजना स्वीकार किये बिना गति नहीं। स्वतंत्र समझे जाने वाले यूरोपीय राष्ट्र के सामने जो संकट आज मुँह बाये खड़ा है और जिसमें सब को भारी विनाश होते दिखाई पड़ता है उसकी पुनरावृत्ति जो नहीं चाहते उन्हें खादी के उसूल को अर्थात हाथ मेहनत को या अहिंसा को अपनाये बिना दूसरा रास्ता ही नहीं है।

४ : हाथ या यंत्र ?

हमारे जीवन में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि हम हाथ से काम कहां तक करें और यन्त्रों से कहां तक लें। वर्तमान स्वाधीनता-संग्राम तथा भावी समाज-व्यवस्था की योजनाओं में भी यन्त्रों के प्रश्न पर बड़ा मतभेद है। जब किसी को खादी पहनने या हाथ से काम करने पर जोर दिया जाता है तो आज लोग बड़े हलके दिल से कह उठते हैं- तो फिर इन बड़े-बड़े यन्त्रों का क्या होगा ? मनुष्य की बुद्धि की यह करामात क्या व्यर्थ ही जायगी ? जब उनसे यह कहा जाता है कि अच्छा बताइए बड़े-बड़े कल कारखानों से जनता का क्या हित हुआ है ? तो वे कहते हैं कि यदि नहीं हुआ है तो इसका इलाज यह नहीं कि हाथ से काम करके सभ्यता के फलस्वरूप यन्त्रों को तोड़-मरोड़ कर फेंक दिया जाय बल्कि यह है कि उद्योग-धन्धों को व्यक्तिगत न रहने देकर समाज के अधीन कर दिया जाय। उन पर सारी सत्ता समाज की रहे, समाज की तरफ से उनका सञ्चालन हो। लोग नियत समय तक उनमें काम करें और आवश्यकता के अनुसार जीवन-सामग्री समाज से ले लें। इससे धनी और दरिद्र की समस्या हल हो जायगी और न आपको घर-घर खादी लिये लिये घूमने की आवश्यकता होगी और न लोगों को महंगा कपड़ा ही खरीदना होगा। आप कहते हैं—हाथ से काम करो हाथ का और मोटा कपड़ा पहनो, मोटा खाओ, आवश्यकताएं कम करो, गांव में रहो। इस सभ्यता के युग में आप लोगों को यह साहस किस तरह हो जाता है ? दुनिया की इस घड़ी को आप उलटा क्यों फेर रहे हो ? गंगा को समुद्र से हिमालय की तरफ क्यों ले जाते हो ? क्या फिर से बाबा आदम के जमाने में ले जाना चाहते हो ? मनुष्य को नंगा फिराना और पेड़ों पर बैठाकर जिन्दगी गुजारना चाहते हो ? इन इतने सुख के सुलभ साधनों को क्यों ठुकराते हो ? जनता दरिद्र है तो हम भी कंगाल हो जायँ, मेरा पड़ोसी दुखी है तो मैं भी दुखी रहूँ, यह कहां की बुद्धिमत्ता है ? बजाय इसके मैं जनता की कंगाली को मिटाने और अपने पड़ोसी को सुखी बनाने का उद्योग क्यों न करूं ? अपने को उसकी श्रेणी में बिठाने के स्थान पर उसे अपनी जगह लाने का उद्योग क्यों न करूं ? अपने को गरीब बनाने के बजाय उसे अमीर बनाने का उद्योग क्यों न करूं ?

भारत-प्रसिद्ध स्वर्गीय सर गंगाराम ने, अन्तिम समय विलायत जाते वक्त, बम्बई के प्रसिद्ध मारवाड़ी व्यापारी स्वर्गीय श्री रामनारायणजी रुइया के बगीचे में बैठकर उनके आलीशान महल को दिखाकर मुझसे कहा था—'देखो, तुम्हारे गांधीजी कहते हैं, चरखा कातो। उससे क्या होगा? बहुत हुआ तो एक आना रोज मिलेगा! पर मैं चाहता हूँ कि ऐसे महल सबके बन जायँ। गांधीजी कहते है कि हम लोग अपना स्टैण्डर्ड कम करें; मैं कहता हूँ कि बढ़ावें। हम भी अंग्रेजों की तरह क्यों न खूब कमावें और खूब आराम से ठाठ के साथ रहें?"

ये दो प्रकार की विचार-धाराएँ समाज में प्रचलित हैं। ये दोनों उत्पन्न हुई हैं जीवन के अन्तिम उद्देश्य या लक्ष्य-सम्बन्धी भिन्न दृष्टि बिन्दु के कारण। हमे देखना यह है कि कौन सा दृष्टि-बिन्दु सही है और जीवन के ठेठ लक्ष्य तक सीधा ले जाता है। जीवन अपूर्ण है और पूर्णता चाहता है, इससे किसीको इनकार है? सुख उस पूर्णता की मानसिक स्थिति है। सभी मनुष्य और सभी समाज सुख चाहते हैं। सुख साधन यदि उनके चाहने पर ही अवलम्बित हों तो बताइए मनुष्य क्या-क्या नही चाहेगा? हर शख्स चाहेगा कि मुझे बढ़िया महल मिले। सुन्दर-सी स्त्री मिले। लाखों-करोड़ों का माल मिले। जमीन-जायदाद, हीरा-मोती, मोटर, हवाई जहाज, राज-पाट सब मिले। शराबखोरी, रण्डीबाजी आदि की चाह को अभी छोड़ दीजिए। हम अच्छी तरह जानते है कि चाहना जितना ही आसान है, मिलना उतना ही कठिन है। पर सब आदमी यदि सभी अच्छी और कीमती चीजें अपने लिए चाहने लगेंगे तो उनमें प्रतिस्पर्धा, डाह और कलह पैदा हुए बिना न रहेगा। क्योंकि चीजें थोड़ी और चाहने वाले बहुत। इस तरह यदि मनुष्य की चाह को स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय और उसे अपनी आवश्यकताएँ या सुख-साधन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय तो अन्तिम परिणाम सिवा गोलमाल के और क्या हो सकता है? इसलिए अनुभवी समाज-शास्त्रियों ने मनुष्य की इच्छा और आवश्यकता पर कैदें लगादी हैं। अर्थात् मनुष्य से कहा कि भाई, अपनी इच्छाओं को वश में रक्खो। यह नसीहत या नियम स्वतंत्र और व्यवस्थित मनुष्य-जीवन का पाया है। यदि यह ठीक है तो फिर अब रोज-रोज आवश्यकताएँ बढ़ाने, स्टैण्डर्ड बढ़ाने की पुकार से किस हित की आशा की जा रही है? हां, दरिद्र जनता का स्टैण्डर्ड तो बढ़ाना

ही होगा; पर वह इसलिए कि उसे तो अभी पेटभर खाने को भी नहीं मिलता है। पर यदि हर आदमी मोटर चलाने लगेगा, बिजली के पंखे लगाने लगेगा, नाटक सिनेमा देखना चाहेगा, अखबार और छापाखाना चाहेगा, एक एक महल बनाना चाहेगा, तो बताइए आप समाज को सुव्यवस्थित कैसे रख सकेंगे? स्पर्धा, डाह और कलह से कैसे बचायेंगे? आखिर उनकी इच्छाओं पर तो नियंत्रण रखना ही होगा न? चाहे आप यह कहिए कि अपनी कमाई से अधिक खर्च करने का किसीको अधिकार नहीं है, चाहे यह नियम बनाइए कि जो कमाता नही है, उसे खर्च करने का हक नहीं है। चाहे यह व्यवस्था कीजिए कि शारीरिक श्रम से जितना मिले उतने ही पर मनुष्य अपनी गुजर कर लिया करे। चाहे यह विधान बनाइए कि मनुष्य अपनी साधारण आवश्यकताओं भर की ही पूर्ति कर लिया करे। चाहे यह आज्ञा जारी कीजिए कि मनुष्य उन्हीं चीजों को इस्तैमाल करे कि जो उसके देश या प्रान्त में पैदा हों। चाहे यह उपदेश दीजिए कि मनुष्य प्राकृतिक साधनों पर ही अवलम्बित रहे। गरज यह कि उसकी इच्छाओं और आवश्यकताओं पर आपको कोई न कोई कैद लगानी होगी। यह कैद होगी उसकी समाज की स्थिति के अनुसार। यदि कैदें हम ढीली करते जायँगे तो अन्त को समाज में स्वेच्छाचारिता और गोल-माल पैदा कर देंगे, यदि तंग करते जायेंगे तो संभव है समाज उसे बरदाश्त न कर सके। और यह बात निर्विवाद है कि मनुष्य जब अपनी इच्छा से राजी-खुशी अपनी आवश्यकताएँ कम कर देता है तो वह औरों के मुकाबले में अपनेको अधिक सुखी, स्वावलम्बी और स्वतंत्र पाता है। यह अनुभव-सिद्ध है। इसी तरह आवश्यकताओं को बढ़ा लेने वाला अपने को दुखी, पराधीन और उलझनों या दुर्व्यसनों में फँसा हुआ पावेगा। इसलिए यह उचित है कि समाज में ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जाय, जिससे मनुष्य खुद ही अपनी आवश्यकताओं को संयम में रखना सीखे। एक के संयम का अर्थ है दूसरे की सुविधा और स्वतंत्रता। अतएव जहां अधिक संयम होगा वहां अपने आप अधिक स्वतंत्रता होगी। अब मैं पूछना चाहता हूँ कि मनुष्य, तू संयम का अवलम्बन करके अधिक स्वतंत्र रहना चाहता है या आवश्यकताओं को बढ़ाकर सुख-साधनों का गुलाम बनना चाहता है?

अब हमारे पूर्वोक्त टीकाकार भाई विचार करें कि खादी और हाथ से

काम करने का कितना महत्त्व है। हाथ से काम करना उत्पत्ति का संयम है। हाथ से काम करना पूंजी को एक जगह संग्रह न होने देना है। हाथ से काम करना मजूरी की प्रथा मिटाना है—या यों कहो कि मालिक और मजदूर के कृत्रिम और हानिकर भेद को मिटाना है। हाथ से काम करना स्वावलम्बन है। हाथ से काम करना पुरुषार्थ और तेजस्विता है। हाथ से काम करना सादगी और नम्रता है। खादी यदि हाथ से काम करने का चिह्न नहीं है तो कुछ भी नहीं है। खादी गरीबों का सहारा तो इसलिए है कि यह बेकारों के घर में कुछ पैसे भेज देती है। परन्तु खादी आजादी का जरिया इसलिए है कि हर शख्स को अपनी जरूरत के लिए दूसरे का मुँह न ताकने का उपदेश देती है। हाथ से काम करना सिखाकर वह हमें सचमुच आजादी का रास्ता बताती है।

पाठको, अब आप सोचिए कि सीधा रास्ता कौन-सा है। हाथ से काम करने का, अपने पावों के बल खड़े होने का या मशीन या कल-कारखानों और उनके मालिकों और हाकिमों की गुलामी का, अपनी आवश्यकताओं के बढ़ाने का या घटाने का? सादगी का या भोग-विलास का?

दुनिया की घड़ी को पीछे घुमाने की दलील अजीब है। जब हाथ से काम करके सर्वसाधारण सुखी थे, और किसी ने कल कारखाने का आविष्कार किया, किसी ने भाफ बिजली का आविष्कार किया तब क्यों न कहा गया कि दुनिया पीछे हटाई जा रही है? क्या साधन सामग्रियों का दिन दिन गुलाम होते जाना ही दुनिया का कदम आगे बढ़ाने का लक्षण है? और क्या स्वावलम्बन की ओर उसे ले जाना दुनिया को पीछे घसीट ले जाना है? सुख-साधन सामग्री की विपुलता और विविधता पर हरगिज अवलम्बित नहीं है। सुख मन के सन्तोष आनन्द और निश्चिन्तता पर अवलम्बित है। करोड़पति और राजा महाराजा चिन्ता और पश्चात्ताप से रात-रात भर करवटें बदलते हुए पाये गये हैं और एक फक्कड़ किसान रूखी रोटी खाकर, मुफ्त झरने का सजीव पानी पीकर, हरे भरे खेत की मेंड़ पर सुख की नींद सोता हुआ मिलता है। सुखी वह है, जिसने अपनी इच्छाओं को जीत लिया है, दुखी वह है जो अपनी इच्छाओं और वासनाओं का गुलाम है। जीवन की पूर्णता बाह्य-साधनों पर उतनी अवलम्बित नहीं, जितनी आंतरिक शक्तियों के उत्कर्ष पर है। आपकी महानता के लिए कोई यह नहीं देखेगा कि आपके पास कितनी मोटरें हैं, आप कितना कीमती खाना

खाते हैं, आपके कितने दास-दासी हैं। आपका रूप-रंग कैसा है; बल्कि यह देखा जायगा कि आप कितने संयमी हैं, कितने सदाचारी हैं, कितने सेवा-परायण हैं, कितने निःस्वार्थ हैं, कितने कष्ट-सहिष्णु हैं, कितने प्रेममय हैं, कितने निडर हैं, कितने बहादुर हैं, कितने सत्य-वृत्ति हैं। महात्मा गांधी का जीवन, बुद्ध का जीवन, ईसामसीह का जीवन, अधिक पूर्णता के निकट था या जार का, रावण का, अथवा कारूँ और कुबेर का ? इस उदाहरण से तो आपको पूर्णता के सच्चे पथ की पहचान हो जानी चाहिए। आप कहेंगे कि इने-गिने आदमियों के लिए तो यह बात ठीक है, सारे समाज के लिए नहीं, तो मैं कहूँगा कि विकास का मार्ग सबके लिए एक ही हो सकता है। उनके दल चाहे अलग-अलग अवस्थाओं में अलग-अलग हों, पर रास्ता तो वही है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और दलों में भेद भी हो सकता है; परन्तु रास्ता तो एक ही होगा—संयम का, व्यावहारिक भाषा में कहेंगे तो, हाथ से काम करने का।

५ : खादी और आजादी

अब हम खादी के प्रश्न पर भी स्वतंत्र रूप से विचार कर लें और देखें कि इससे हमारी स्वतंत्रता का कहां तक सम्बन्ध है। खादी के लिए जो बड़ा दावा किया जाता है कि यह आजादी लाने वाली है वह कहां तक ठीक है ? दु:ख की बात तो यह है कि अब भी कई लोग यह मानते हैं कि खादी आन्दोलन सिर्फ अंग्रेजों को दबाने के लिए है, लंकाशायर की मिलों और मिल मालिकों पर असर डालने के लिए है, जिससे वे भारतीय आजादी की मांग को मंजूर करने के लिए मजबूर हों। किन्तु मैंने जहां तक खादी के असूल और मतलब को समझा है, मेरी तो यह मजबूत राय बन चुकी है, कि खादी आन्दोलन का एक नतीजा यह जरूर निकलेगा कि अंग्रेजों पर दबाव पड़े, परन्तु उसका यह मतलब हरगिज नहीं है। उसका असली और दूरगामी मतलब तो है भारत को और यदि गुस्ताखी न समझी जाय तो सारी दुनिया को सच्ची आजादी दिलाना। इसलिए जब कोई कहता है, यह समझता है कि खादी तो स्वराज्य मिलने तक जरूरी है या गांधी जी के जीते जी भले ही चलती रहे, तो मुझे इस पर दु:ख होता है। क्योंकि वर्षों के दिन-रात के उद्योग, प्रचार और इतनी सफलता के बाद

भी अभी तक कितने ही पढ़े-लिखे लोगों ने भी खादी की असलियत को नहीं समझा; उसके बिना सच्ची आजादी किस तरह असम्भव है इसको नहीं जाना। सच तो यह है कि आजादी और खादी एक शब्द के दो मानी हैं या एक सिक्के के दो पहलू हैं।

हमें यह भुला देना चाहिए कि खादी एक महज कपड़ा है, बल्कि खादी एक असूल है, एक आदर्श है। खादी के मानी है हाथ से काम करना, अपनी बनाई चीज इस्तैमाल करना, अपने देश का पैसा देश में रहने देना, पैसे का एक जगह संग्रह न होने देना और उसका स्वाभाविक तरीके से सर्वसाधारण में बँट जाना। खादी भाफ और अधिक पूंजी के बल पर चलने वाले कारखानों के खिलाफ बगावत का झंडा है। एक मामूली सवाल है कि जहां हाथ बेकार हैं, आदमी भूखों मरते हैं वहां आखिर बड़े बड़े कल कारखानों की जरूरत क्यों पैदा होती है? समाज की सुख-सुविधा के नाम पर धन-संग्रह करने के मतलब ने ही इन भीमकाय कारखानों और व्यापार-उद्योग-धंधों को जन्म दिया है। जो काम हाथ से हो सकता है उसको भला मशीन की क्या जरूरत है? जो काम हाथ से चलने वाली मशीन से हो सकता है उसके लिए भाफ से चलने वाली मशीन की क्या जरूरत है? फिर लाखों लोगों को यों बेकार पड़े रहने देकर मशीन से कारखाने चलाना कहां की अक्लमन्दी है? यह माना कि यन्त्र मनुष्य की बुद्धि के विकास का फल है। यह भी सही कि कपड़े की मिल चर्खे का विकास है। पर सवाल यह है कि इन मिलों से सर्व-साधारण जनता का कितना हित हुआ? वे गरीब अधिक बने या धनवान? बेकार अधिक हुए या नहीं? भारत को छोड़ दीजिए, सारे यूरोप में अरबों आदमी बेकार हैं। यह क्यों? जो काम भाफ या बिजली की मशीनों से लिया जाता है वह यदि मनुष्यों से लिया जाय, तो क्या फिर भी बेकारी रह सकती है? हां, यह सत्य है, कि शहरों में सब काम हाथ से नहीं किये जा सकते। सामूहिक-जीवन में कई सामूहिक आवश्यकताएं ऐसी होती हैं, वे इतने अधिक परिमाण में और इतने विशाल आकार-प्रकार की होती हैं कि यन्त्रों का उपयोग उनके लिए सुविधा-जनक होता है। पर दुनिया में, बताइए, शहर कितने हैं? और क्या आप दुनिया को शहर में ही बांट देना चाहते हैं? क्या गांवों की अपेक्षा शहरों का जीवन मनुष्य-जीवन के स्वाभाविक

विकास के अधिक अनुकूल है ? मनुष्य गांव में अधिक स्वतंत्र, सुखी, स्वस्थ, नीतिमान, सज्जन रह सकता है, या शहर मे ? अतएव यदि हम शहरों के खयाल को अपने दिमाग में से हटा दें, और दुनिया में गांवों की बहुसंख्या और महत्ता को समझ लें, तो हमारे दिमाग की कई उलझनें कम हो जायँ। असल बात यह है, हमारी असली कसौटी यह होनी चाहिए कि मनुष्य जीवन विकसित, सुव्यवस्थित, स्वतंत्र और सुखी किस प्रकार रह सकता है ? गांव के सादे जीवन में ही ये सब बातें सुलभ और सिद्ध हो सकती है, शहरो के जटिल, कृत्रिम गुलाम जीवन मे हरगिज नही। यदि हम शहरो और शहर की सभ्यता को अपनी कल्पना में से हटा सकते है तो हम बडे उद्योग धंधों और भीमकाय यन्त्रो को अवश्य अपनी समाज-रचना में से हटा देंगे। कोई बात इसीलिए तो स्थिर नहीं रह सकती है कि वह विकास क्रम में हमारे अंदर दाखिल हो गई है। मनुष्य की अपरिमित स्वार्थ-साधुता और प्रचार-शक्ति भी तो इसमें बहुत सहायक हुई है। मनुष्य विचारशील है और वह विकास के हरएक मोड पर सिंहावलोकन करता है और उसके परिणाम की रोशनी में अपनी गति-विधि को सुधारता है। पिछली औद्योगिक क्रान्ति ने जन-समाज को स्पष्ट-रूप से पूँजीपति और दरिद्र, पीडक और पीडित, इन दो परस्पर-विरोधी वर्गों में बांट दिया। इसके पहले भी समाज में शोषण था, परन्तु उद्योग धन्धो को समाजाधीन बनाने की उस समय इतनी आवश्यकता क्यों न प्रतीत हुई ? इसलिए कि आज उद्योग धंधों की प्रधानता और भीमकाय यन्त्रों की प्रचुरता ने जनता को चूस लिया, लाखों को बेकार बना दिया और मुट्ठी भर लोगों को मालामाल कर दिया। कल-कारखानों या उद्योग-धंधों को समाजाधीन बनाकर आप इस रोग को निर्मूल नहीं कर सकते। उससे आप सिर्फ इतना ही कर सकते हैं कि मुनाफा मज-दूरों के घर में भी पहुँचता रहे, उनकी सुख-सुविधाएँ भी बढ़ जायँ, परन्तु वे पूर्ण स्वतंत्र और स्वावलम्बी नहीं बन सकते। मनुष्य के सभी काम तो समाजाधीन नही हो सकते हैं। सामूहिक काम ही सामूहिक पद्धति पर हो सकते हैं और उन्हीं के समाजाधीन होने की आवश्यकता है। रोटी, कपडा, मनुष्य की व्यक्तिगत आवश्यकताएँ है, पर रेल, सडक, पुल, सामाजिक। रोटी, कपडा उसे खुद बना व कमा लेना चाहिए, रेल, सडक, पुल उसे परस्पर सहयोग से बनाने होंगे, और ये समाजाधीन रह

सकते हैं। जो चीजें समाजाधीन हों वे यदि मनुष्यों के हाथ-बल से न हो सकें तो उनके लिए बड़े यन्त्रों का उपयोग कुछ समझ मे आ सकता है। परन्तु लाखो आदमियो को बेकार रखकर हर बात में यन्त्र की सहायता लेना मनुष्य को यन्त्र-गुलाम बना देना है और उसकी बहुतेरी असली शक्तियों को नष्ट कर डालना है। अतएव यदि आप चाहते हों कि मनुष्य केवल राजनैतिक गुलामी से ही नहीं बल्कि हर तरह की गुलामी से छूटकर आजाद रहे, तो आपको उसे यन्त्रों की गुलामी से बचाना होगा। खादी मनुष्य जाति को यन्त्रों की गुलामी से छुड़ाने का सन्देश है।

औद्योगिक क्रांति के बाद अब यह स्वाश्रय का युग शुरू हो रहा है और प्रगति की गति मे यह पीछे का नहीं आगे का कदम है। कृत्रिम साधनों की विपुलता बुद्धि-वैभव का चिह्न अवश्य है, किन्तु साथ ही वह मनुष्य का स्वावलम्बन दिन-दिन कम करती जा रही है और नाना-विध गुलामियों मे जकड़ती जा रही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

आजादी का अर्थ यदि हम इतना ही करें कि अंग्रेजों की जगह हिन्दुस्तानी शासक बन जायँ, तो खादी का पूरा पूरा गुण हमारी समझ मे न आ सकेगा। परन्तु यदि उसका यह अर्थ हमारे ध्यान मे रहे कि भारत का प्रत्येक नर-नारी स्वतन्त्र हो, उस पर शासन का नियन्त्रण कम-से-कम हो, तो हम खादी का पूरा महत्त्व समझ सकते हैं। खादी का अर्थ केवल वस्त्र-स्वाधीनता ही नहीं, यन्त्र-स्वाधीनता भी है। यन्त्रों की गुलामी के मानी है धनी और सत्ता-धारियों की गुलामी। खादी इन दोनो गुलामियों से मनुष्य को छुड़ाने का उद्योग करती है।

६ : सच्चा खादी प्रचार

हमने यह तो देख लिया कि खादी वस्त्र-स्वावलम्बन और यन्त्र स्वावलम्बन का साधन है और इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि खादी से बढ़कर गृह-उद्योग का साधन अभी तक किसी ने सिद्ध नहीं किया है, न प्रयोग करके ही बताया है। दूधशाला, मुर्गी के अंडे की पैदावार, रेशम, शहद, साबुन, डलिया, रस्सी आदि बनाने जैसे कितने ही धन्धे आंशिक रूप में और स्थान तथा परिस्थिति-विशेष में थोड़े बहुत सफल हो सकते है, किन्तु खादी के बराबर व्यापक, सुलभ, सहजसाध्य, जीवन की एक बहुत बड़ी आवश्यकता को पूर्ण

करनेवाला आदि गुणों से युक्त धन्धा इनमें एक भी नहीं है। फिर भी अभी तक खादी-उद्योग की, जितनी चाहिये देश में प्रगति नहीं हुई है। इसके यों तो छोटे-बड़े कई कारण हैं, किन्तु उनमें सबसे बड़ा है खादी-सम्बन्धी व्यापक ज्ञान का और उसके पीछे आचरण का अभाव। पिछले वर्षों में खादी की उत्पत्ति बहुत बढ़ी है, किस्में तरह-तरह की चली हैं; पोत में भी बहुत उन्नति हुई है, बिक्री और प्रचार का भी बहुत उद्योग किया गया है, सस्ती भी पहले से काफी हो गई है—फिर भी एक भारी कसर इसके कार्य में रही है। खादी की ओर लोगों को आकर्षित करने के लिए हमने उनके हृदयों को ज्यादा स्पर्श किया है, उनकी बुद्धि को आवश्यक खूराक बहुत ही कम दी है। हमने ऐसी दलीलें ज्यादा दी हैं कि खादी गांधीजी को प्रिय है, इसलिए पहनो; स्वराज्य की सेना की वर्दी है, इसलिए पहनो; गरीबों को दो रोटी देने का पुण्य मिलेगा, इसलिए अपनाओ आदि। किन्तु उन अंकों और तथ्यों को लोगों के सामने कम रखा है, जिनसे उनके दिमाग में यह अच्छी तरह बैठ जाय कि खादी ही हमारे लिए एक-मात्र सस्ता और अच्छा कपड़ा है, इतनी ही नहीं बल्कि खादी उत्तम समाज-व्यवस्था का एक तत्व है। यह बात सच है कि बुद्धि की अपेक्षा हृदय में क्रियाबल अधिक है, किन्तु जब तक कोई बात दिमाग में बैठती नहीं, तब तक उसका आचरण अधकचरा ही होता है। फिर खादी यदि आत्मानुभव की तरह बुद्धि के क्षेत्र के परे का कोई तत्त्व होता तो बात दूसरी थी। किन्तु यह तो एक सीधा-सा आर्थिक और सामाजिक प्रश्न है और मोटी बुद्धि वाले को भी समझ में आ सकता है। बल्कि यों कहना चाहिये कि यह इतना सीधा और सरल है कि इसका यही गुण सूक्ष्म और तेज बुद्धि वाले को परेशान कर रहा है। इसलिए अच्छा तो यह हो कि खादी के सम्बन्ध में हम पहले लोगों की बुद्धि को समझावें और समझा चुकने के बाद यदि उनमें उत्साह न हो तो फिर उनके हृदयों और मनोभावों को जाग्रत करके उनमें काफी बल और प्रेरणा उत्पन्न करें। मेरी समझ में इससे खादी का अधिक और स्थायी प्रचार होगा।

खादी के विकास और प्रचार में जिस तरह बुद्धि के प्रति अनास्था बाधक है, उसी तरह उसकी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा भी है। मनुष्य का यह एक स्वभाव है कि जो वस्तु उसे प्रिय होती है उसमें उसे गुण-ही-गुण

गुण दीखने लगते हैं और कई बार तो अवगुण भी गुण दिखाई देते हैं। किन्तु यह जागृति, विकास और वृद्धि का लक्षण नहीं, शिथिलता मन्दता और अन्धता का है। जिसके मूल में कोई गहरा सत्य है वह तो सूर्य की तरह अपने-आप अपना प्रकाश फैलायेगा। अब हमारा काम सिर्फ इतना ही है कि एक ओर से अज्ञान और दूसरी ओर से अत्युक्तिरूपी बादलों और कुहरों के आवरण उसके आस-पास से हटाते रहें। अज्ञान और अत्युक्ति दोनों के मूल में असत्य ही छिपा हुआ है। खादी जैसी शुद्ध वस्तु और श्रेष्ठ समाज तत्त्व के प्रचार के लिए जान में या अनजान में, असत्य का अवलम्बन करके हम उसके सत्य तेज को लोगों से दूर रखते हैं।

इसलिए मेरी राय में खादी ही का क्या, किसी भी वस्तु का सच्चा प्रचार है उसके विषय में वास्तविक ज्ञान की सामग्री लोगों के सम्मुख उपस्थित करना। किन्तु इतना ही काफी नहीं है। इससे उनकी बुद्धि को ज्ञान तो हो जायगा, वे निर्णय और निश्चय तो कर लेंगे, किन्तु यह नहीं कह सकते कि इतने ही से वे उसका पालन भी करने लग जायंगे। बुद्धि में निर्णय और निश्चय करने का गुण तो है किन्तु कार्य में प्रवृत्त और अटल रखने का गुण हृदय में है। जो आदमी किसी से कहता है पर खुद नहीं करता, उसका असर नहीं पड़ता। इसका कारण यह है कि वह कहता है तो और लोग भी सुन लेते हैं। लोग अधिकांश में करते तभी हैं जब कहने वालों को करते हुए भी देखते हैं। क्योंकि वे सोचते हैं कि यदि यह बात वास्तव में हित की और अच्छी है तो फिर यह क्यों नहीं करता? उसका आचरण ही उसकी अच्छाई या हितकारिता का यकीन लोगों को कराता है। होना तो यही चाहिये कि जब कोई बात हमारी समझ में आ जाय और हमें हितकारी मालूम हो तब हमें इस बात से क्या प्रयोजन कि दूसरा और स्वयं उपदेशक वैसा चलता है या नहीं? हम अपने-आप वैसा आचरण करते रहें, किन्तु ऐसी स्वयं-प्रेरणा या क्रिया का बल लोगों में आमतौर पर कम पाया जाता है। यह उनके विकास की कमी है। अतएव उन लोगों को भी स्वयं खादी पहनना चाहिए और उसकी उत्पत्ति में किसी-न-किसी तरह सहायक होना चाहिए। क्रिया-बल की कमी का एक कारण यह भी है कि हमारे शिक्षण और संस्कारों में पुस्तक-बल पर ही ज्यादा जोर दिया गया है, आचरण-बल पर कम।

एक ओर अति-बुद्धिवाद हमें आचरण-निर्बल बना रहा है तो दूसरी ओर बुद्धि-हीन अनुकरण ज्ञान-निर्बल। हमें दोनों प्रकार की निर्बलताओं से बचना होगा। सत्य की साधना ही हमें इनसे बचायेगी। ज्ञान और तदनुकूल आचरण ही सत्य की साधना है। यही वास्तविक व सच्चा प्रचार है।

७ : खादी-सत्य

अब अच्छा हो कि हम खादी के सम्पूर्ण सत्य को समझ लें।

तो खादी क्या है? एक कपड़ा है। वह हाथकते सूत का और हाथ का बुना होता है। तो इसका महत्व क्या? उपयोगिता क्या? यह परिश्रम और परिश्रम के योग्य विभाग का स्वाभाविक नियम बनाती और बताती है। जैसे कपास बोने से लेकर कपड़ा बुनने, रंगने, छापने तक जितनी प्रक्रियाएं करनी पड़ती हैं, उन सबके परिश्रम का मूल्य स्वाभाविक रूप में उन परिश्रम करने वालों को मिल जाता है। उसका मुनाफा किसी एक के घर में जमा नहीं होता। पारिश्रमिक के रूप में जगह-जगह अपने आप बंट जाता है। इसके विपरीत मिल के कपड़े में परिश्रम का विभाजन उतना स्वाभाविक और योग्य नहीं होता, बल्कि वह मुनाफे के रूप में पहले मिल-मालिकों के घर में जमा होता है और फिर भागीदारों में बाँटा जाता है। खादी की क्रियाओं में पारिश्रमिक ही पारिश्रमिक है, यदि मुनाफा कहीं हो भी तो वह एक जगह एकत्र नहीं होता। किसान, कतवैये, बुनवैये, रंगरेज, छीपी आदि में जहां-का-तहां बंटता रहता है। परन्तु मिल में वह पहले एक जगह आता है और बहुत बड़े रूप में आता है और फिर सिर्फ भागीदारों में बंट जाता है, उन लोगों में नहीं, जिन्होंने दरअसल उस कपड़े को बनाने में तरह-तरह का परिश्रम किया है। पर इसके सच्चे हकदार कौन हैं?, वे जो परिश्रम करते हैं। रुपया लगाना परिश्रम नहीं है। मिल वही खड़ी करता है जिसके पास रुपये होते हैं। शेयर वही खरीदता है, जिसके पास रुपया है! यह रुपया हमारे पास जमा कैसे होता है? हम रुपयेवाले कैसे बन सकते हैं? इसकी जांच यदि करें, धनी लोगों के अनुभव यदि सुनें तो इसी नतीजे पर पहुंचना पड़ेगा कि धन सच्चाई से और सीधे उपायों से बिना किसी-न-किसी प्रकार की चोरी किये—जमा नहीं हो सकता। तो मिल-मालिक लुटेरे या चोर हो गये

एक तो शुरूआत का पैसा जमा करने में चोरी हुई, दूसरे मिल के जिस मुनाफे का उन्हें हक नहीं है उसे लेने में चोरी हुई। मुनाफा क्या है? बचाया हुआ पारिश्रमिक।

तो आप पूछेंगे, रुपयेवाले मुफ्त ही कारखानों में रुपया लगाते रहें? तो हम कहते हैं, भाई! उन पर दबाव डालकर कहा है कि मिल खोलनी ही पड़ेगी। फिर यदि रुपया लगाया है तो उसका मामूली ब्याज-भर ले लें। सच तो यह है कि कपड़े के लिए बड़े कारखानों की आवश्यकता ही नहीं है। कारखाने वालों का, कुछ अच्छे अपवादों को छोड़ दीजिए, यह उद्देश्य कभी नहीं था कि वे समाज के एक अभाव की पूर्ति करें। उन्हें धन कमाना था, उन्होंने कारखाने खोले; उससे धन बढ़ाया भी। जब दुनिया में कारखाने नहीं थे, तब क्या लोग नंगे ही रहते थे? क्या ढाके की मलमल और शबनम के मुकाबले का कपड़ा किसी मिल ने आज तक बनाया है? तो खादी का महत्त्व यह हुआ कि वह पारिश्रमिक का स्वाभाविक बंटवारा कर देती है और जो उसका सच्चा अधिकारी होता है उसी के घर में उसे पहुँचा देती है। इसी का नाम है उद्योग के क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण।

खादी का यह गुण, यह उपयोगिता, खादी का सत्य हुआ। यों खादी में चार सत्य समाये हुए हैं—(१) खादी एक कपड़ा है, जिससे शरीर की रक्षा होती है। (२) खादी एक पद्धति—विकेन्द्रीकरण है, जिससे परिश्रम का यथायोग्य बंटवारा स्वाभाविक क्रम से हो जाता है। (३) खादी एक सिद्धान्त है, जो हाथ से काम करना यानी शारीरिक श्रम या स्वावलम्बन सिखलाता है और (४) खादी एक सेवा है जो आज भारतवर्ष में दरिद्रनारायण की सेवा और पूजा सिखलाती है। ये सब सत्य हमें इस महासत्य तक पहुंचाते हैं कि खादी एक ऐसी वस्तु है, जो हमारे व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की स्थिति व सुव्यवस्था के लिए अनिवार्य और परम उपयोगी है। अतः खादी की साधना सत्य की ही साधना है। यदि हमें जनता ही का राज कायम करना है, यदि हमें आम जनता की उन्नति, सुख, स्वतन्त्रता, शान्ति, प्रिय है तो यह खादी-सत्य हमें जंचे बिना नहीं रह सकता।

: ६ :

कुछ समस्याएं

१ : सार्वजनिक और व्यक्तिगत सम्बन्ध

एक मित्र ने प्रश्न किया कि सार्वजनिक जीवन में व्यक्तिगत संबंधों की क्या मर्यादा रहनी चाहिए ? सार्वजनिक सेवकों के लिए यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, इसलिए इसपर ज़रा गहराई से विचार कर लेना अच्छा है।

सार्वजनिक क्षेत्रों में व्यक्तियों से जो हमारे संबंध बँधते हैं, उनका मूल है हमारी सार्वजनिक सेवा की भावना। उसमें हम परस्पर सहयोग द्वारा देश और समाज की सेवा करते हुए अपने-अपने जीवन को उच्च, पवित्र और बलिष्ठ बनाना चाहते हैं। जहाँ समान आदर्श, एक-सी विचार-दिशा मिल जाती है वहीं मित्रता और सख्य हो जाता है और वह सगे भाई-बहनों से भी ज्यादा प्रगाढ़ बन जाता है। ऐसी दशा में हम प्रत्येक का कर्तव्य है कि दूसरे की नैतिक और आत्मिक उन्नति में सहायक हो और इस बात के लिए सर्वदा सतर्क और जाग्रत रहे कि हमारे अन्दर कोई बुराई या गन्दगी घुस तो नहीं रही है। जहाँ मित्रता और भाईचारा होता है वहाँ परस्पर विश्वास तो होना ही चाहिए; अविश्वास और संशय रखने वाला आदमी नित्य मरता है, जहाँ कि विश्वास रखनेवाला धोखा खाकर कभी-कभी मरता है। फिर भी यदि किसी से कोई दोष—नैतिक या चारित्रिक—हो जाय, या दूसरे प्रकार की गलती हो, तो उसे चुपचाप सहन कर लेना या उसकी तरफ से आँखें मूँद लेना किसी प्रकार उचित नहीं है। इसका सबसे अच्छा तरीका तो यह है कि जिससे गलती या दोष हुआ हो उसे जाग्रत कर दिया जाय। ऐसा न करके दूसरों से कानाफूँसी करना बुरा और बेजा है। ऐसे अवसरों पर दोष-पात्र का उपहास करना अपनी हीन-वृत्ति का परिचय देना

है। हाँ, दोष यदि गंभीर हो तो उसकी सूचना संस्था या समाज के मुखिया को अवश्य दे देनी चाहिए। कई लोग यह समझकर कि हमे क्या मतलब, या इस डर से कि हम क्यों किसी की निन्दा करें, मुखियों तक उस बात को नहीं पहुँचाते। वे गलती करते हैं। द्वेष-भाव से यदि कोई बात ऐसे लोगों से कही जाय जिन पर उस व्यक्ति या उसके कार्यों की कोई जिम्मेदारी या सम्बन्ध नहीं है, तो वह निन्दा कहलाती है। यदि कर्त्तव्यवश किसी का दोष किसी संबन्धित व्यक्ति से कहना पड़े तो वह निन्दा नहीं, उस दोषित व्यक्ति या संस्था या समाज के प्रति हमारा यह कर्तव्य ही है। हमे यह न भूलना चाहिए कि बुराई या चुगली में द्वेष होता है। अपना कोई स्वार्थ साधने की इच्छा होती है। किन्तु जहाँ कर्त्तव्य का तकाज़ा हो संस्था का हित हो वहाँ यदि दोष वरिष्ठों या सम्बन्धित व्यक्तियों से न कहा जाय, मित्रता भंग होने या उसे बदनाम करने का लांछन लगने के डर से संकोच किया जाय तो वह सेवा और सत्य की उपासना नहीं हुई, उस व्यक्ति से मोह हुआ तथा अपनी जिम्मेदारी को न निबाहना हुआ।

अगर व्यक्ति अपना दोष स्वीकार कर लेता है और प्रायश्चित्त करके आगे के लिए ऐसा न होने देने का विश्वास दिला देता है तो फिर उससे पूर्ववत् सार्वजनिक सम्बन्ध रखा जा सकता है; परन्तु इसमें दोषित व्यक्तिकी वृत्ति देखनी होगी।उसने खुद ही सचेत होकर दोष स्वीकार किया है, या किसी के जाग्रत करने पर किया है, या परिस्थिति से दब-कर किया है। दोष पहले-पहल ही हुआ है या अक्सर होता रहता है। फिर जैसी स्थिति हो वैसा ही उसका मूल्य समझकर व्यवहार करना चाहिए। पर एक से अधिक बार यदि ऐसा दोष हुआ हो या होता रहा हो तो फिर उस व्यक्ति से सार्वजनिक सम्बन्ध न रखना ही श्रेयस्कर है। प्रेमपूर्वक व्यक्तिगत सेवा उसकी जरूर की जा सकती है, उसे बुराई से बचाने के उपाय सहानुभूति के साथ किये जा सकते हैं, हमें उससे घृणा भी न करनी चाहिए। पर सार्वजनिक संस्थाओं में उसका रहना हितकारी नहीं हो सकता, क्योंकि सार्वजनिक संस्थाएँ लोगों के दान, आश्रय, सहायता पर चलती हैं और लोग इसी विश्वास से उन्हें विविध सहायता देते हैं कि उनमें सदाचारी, सच्चे और भले आदमी हैं। व्यक्ति की अपेक्षा संस्था और संस्था की अपेक्षा सिद्धान्त का महत्त्व सर्वदा ही अधिक रहना चाहिए। व्यक्ति जब संस्था और सिद्धांत की

जीवित प्रतिमूर्ति बन जाता है तब वह अपने-आप संस्था और सिद्धांत के बराबर महत्त्व पा जाता है, वह सूर्य के सदृश तपता, जीवन देता और गंदगी और अपवित्रता को भस्म करता जाता है।

जब किसी के शरीर या मन में से कोई दोष निकालने की चेष्टा की जाती है तब उसे दुःख तो जरूर ही होगा, परन्तु उससे घबराने की जरूरत नहीं। यदि उसको वृत्ति में केवल सेवाभाव ही है, संयोगवश यह दोष हो गया है तो इस व्यवहार से उसे ग़लतफहमी न होगी, वह इसके दूरवर्ती शुभ परिणाम को और इसमें छिपे हुए अपने आत्म-कल्याण को साफतौर पर देख लेगा। और यदि उस समय उसे इतना दर्शन न भी हुआ तो वह अधिक सुख पायगा और पीछे हमें अवश्य आशीर्वाद देगा।

व्यक्ति का महत्त्व वहीं तक है, जहाँ तक कि उससे सार्वजनिक सेवा ही होती है और दूसरी बुराइयों का वह साधन नहीं बनता। जब इस बात को भुलाकर व्यक्तियों के मोह में सार्वजनिक लक्ष्य हमारी आँखों से ओझल हो जाता है तब हम सबका चुपके-चुपके पतन होने लगता है, और यदि हमें सार्वजनिक सेवा ही प्रिय है तो हम इस विषय में ग़ाफ़िल नहीं रह सकते।

२ : सेवा व सत्ता

संस्थाओं में आयेदिन व्यक्तिगत राग-द्वेष झगड़े व कहीं-कहीं हिंसा-काण्ड भी होते रहते हैं। तो हमें सोचना चाहिए कि इनकी जड़ कहां है और क्या है?—क्योंकि इसी के हमारी आंखों से ओझल हो जाने का परिणाम होता है—दलबन्दियां, झगड़े, कटुता और विद्वेष। इनमें व्यक्तियों का अहंकार बहुत काम करता है। दार्शनिक अर्थ में 'अहम्' के बिना संसार ही नहीं टिक सकता, न चल सकता है; परन्तु यह अहम् जब दूसरे के 'अहम्' की उपेक्षा, अवहेलना करता है या उसे दबाना और कुचलना चाहता है तब उसकी स्वाभाविकता, सात्त्विकता, मानुषता नष्ट होकर वह आसुरी रूप धारण करता है और उसे हम व्यावहारिक एवं दोष की भाषा में अहन्ता, अहंकार, गर्व, घमंड कहते हैं। जब मनुष्य में 'सेवा' की भावना घटती है, तभी वह अहंकार सात्त्विकता छोड़कर राजसता और तामसता को ग्रहण करके समाज का उपकार करने के बदले अपकार करने का साधन बनता है। अतएव

पहली सावधानी जो हमें रखनी है, वह यह कि हमारे 'सेवा'-भाव को बढ़ाने का तो पूरा मौका मिले, लेकिन 'सत्ता' के लोभ को रोकने की हम हर तरह कोशिश करें। इसमें तटस्थता और उदासीनता घातक होगी।

'सेवा' की भावना मनुष्य में तभी तक रह सकती है जब तक उसके मन में दूसरों के दुःखों, पीड़ाओं, कष्टों को अनुभव करने की और उन्हें दूर करने में अपना सर्वस्व लगा देने की स्फुरणा उठती रहती हो। जब मनुष्य के मन में अपनी सत्ता, प्रभुत्व, धाक जमाने की, अपना बोल-बाला करने की अपने ऐन्द्रिक सुखों की भावना बढ़ने लगती है तब 'सेवा'-भाव घटने लगता है। अतः हमें इनकी ओर सचेत हो जाने की आवश्यकता है; क्योंकि हम खतरे में पैर डाल रहे हैं। इससे बचने के लिए हमें सतत आत्म-निरीक्षण करते रहने की जरूरत है। इसका एक अच्छा उपाय यह है हम समाज के सामने 'नग्न' रहने की कोशिश करें। अर्थात् समाज को यह अवसर सदा देते रहें कि वह हमारे अन्तरंग को हर रूप में, हर अवस्था में देखता रहे। हमारे निज के और हमारे संगठन के अन्दर किसी प्रकार की गुप्तता, गूढ़ता न रहे। आज हम उलटा करते हैं। अपने गुणों और सत्कार्यों को ही हम प्रकाश में लाते हैं, अवगुणों, दोषों, कुकर्मों को छिपाने की कोशिश करते हैं। इसका कोई यह अर्थ न लें कि एक को दूसरे के अवगुण ही देखने-चाहिएं, दोषों और कुकर्मों का ढिंढोरा ही दुनिया में पीटना चाहिए। इसका तो मतलब इतना ही है कि हम खुद अपने-आपको अपने दोष और कुकर्म देखने के लिए दुनिया के सामने खुला रहने दें। इससे लाभ यह होगा कि एक ओर हमारा आत्म-निरीक्षण और दूसरी ओर दुनिया की समालोचना हमें सत्पथ से भ्रष्ट न होने देगी।

इसमें एक बात और समझ लेनी जरूरी है। निर्लज्ज बनकर 'नागा' बन जाना एक चीज है और हमें नग्न देखने के जनता के अधिकार को स्वीकृत करना दूसरी चीज है। पहली में जहां जनता की समालोचना, सूचना और मनोभावों के प्रति उपेक्षा और अवहेलना है, वहां दूसरी में आत्म-सुधार की प्रबल उत्कण्ठा है और है जनता की समालोचना से लाभ उठाने की प्रवृत्ति। एक ओर से आत्म-निरीक्षण का अभाव और दूसरी ओर से जनता के समालोचन के प्रभाव की कमी से ही हमारी संस्था, संगठन और समाज के संचालक, मुखिया या दूसरे लोग पथ-भ्रष्ट होकर पतन के रास्ते चले जाते हैं और कई बार

अनियन्त्रित होकर आपस में लड़ते और ज़हर फैलाते हैं। अतएव हमें चाहिए कि हम अपने प्रत्येक अगुआ, साथी सदस्य को इसी कसौटी पर कसते रहें कि उसमें एक ओर आत्म-परीक्षा की और दूसरी ओर जनता की समालोचना से लाभ उठाने की प्रवृत्ति कहां तक है और उसका जीवन खुली पोथी एवं बहती नदी की तरह सरल है या तिजोरी की तरह अभेद्य और दुर्भेद्य है।

यह तो जड़ में ही सुधार करने की बात हुई। लेकिन बुराई की व्यावहारिक रोक की भी जरूरत है। बुराई करने वाले को निर्भय और निःशंक न रहने देना चाहिए। उसकी समालोचना करके ही सन्तुष्ट न हो जाना चाहिए। उससे काम न चले तो विरोध और प्रतिकार भी अवश्य करना चाहिए। जरूरत पड़ने पर बहिष्कार और असहयोग भी करना चाहिए। हां, इतना हम अवश्य ध्यान रखें कि जो कुछ भी समालोचना, विरोध, प्रतिकार, बहिष्कार आदि हो अहिंसक तरीके , उसकी बुराई को रोकने की भावना से, उसको सुधारने की इच्छा से, वैर और बदला निकालने के लिए नहीं; क्योंकि हमें यह नहीं भूलना है कि हमारा विरोध व्यक्ति की बुराई से है, व्यक्ति से नहीं। व्यक्ति और उसके गुण-दोष परस्पर इतने अभिन्न हैं कि इस प्रक्रिया के असरसे व्यक्ति बिलकुल बच नहीं सकता, परन्तु इसमें मनुष्य विवश है,वस्तु पर ही—व्यक्ति पर नहीं—जोर देकर हम इस स्थिति से बचने का यत्न कर सकते हैं। लेकिन यदि व्यक्ति की बुराई इस हद तक पहुंच गई है कि वह सहन नहीं की जा सकती तो समूचे व्यक्ति के साथ असहयोग करने या उसका बहिष्कार करने की भी जरूरत पेश आ सकती है और ऐसा समय उपस्थित हो जाय तो बिना झिझके हमें ऐसा करना चाहिए। इसमें जब हम शिथिलता बताते हैं तभी संस्थाओं, संगठनों और समाजों में द्वेष, झगड़े, अनाचार बढ़ जाते हैं और फिर उसके भयङ्कर परिणाम सबको भुगतने पड़ते हैं।

३ : सेवक के गुण

संग्राम में विजय पाना जिस प्रकार सेना के गुण, योग्यता और नियम-पालन पर बहुत-कुछ अवलंबित रहता है, उसी प्रकार देश-सेवा का कार्य देश-सेवकों के गुण, बल, योग्यता और नियम-पालन के बिना प्रायः असम्भव है। केवल व्याख्यान दे लेने, लेख लिख लेने, अथवा

सुन्दर कविता रच लेने से कोई देश-सेवक की पदवी नहीं पा सकता। ये भी देश-सेवा के साधन हैं; पर ये लोगों के दिलों को तैयार करने भर में सहायक हो सकते हैं, उनके सङ्गठन और संचालन में नहीं। अतएव यह आवश्यक है कि हम जान लें कि एक देश-सेवक की हैसियत से हमें किन-किन गुणों के प्राप्त करने की, किन-किन नियमों के पालन करने की आवश्यकता है और फिर उसके अनुसार अपने-अपने जीवन को ढालें।

(१) देश-सेवक में पहला गुण होना चाहिए सचाई और लगन। यदि यह नहीं है, तो और अनेक गुणों के होते हुए भी मनुष्य किसी सेवा-कार्य में सफल नहीं हो सकता। मक्कारी और छल-प्रपंच के लिए देश या समाज या धर्म-सेवा में जगह नहीं।

(२) दूसरे की बुराइयों को वह पीछे देखे, पर अपनी बुराइयां और त्रुटियां उसे पहले देखनी चाहिएं। इससे वह खुद ऊँचा उठेगा और दूसरों का भी स्नेह संपादन करता हुआ उन्हें ऊंचा उठा सकेगा।

(३) तीसरी बात होनी चाहिए नम्रता और निरभिमानता। जो अपने दोष देखता रहता है वह स्वभावतः नम्र होता है, और जो कर्तव्य-भाव से सेवा करता है उसे अभिमान छू नहीं सकता। उद्धतता, अहम्मन्यता और बड़प्पन की चाह—ये देश-सेवक के रास्ते में जहरीले कांटे हैं। इनसे उन्हें सर्वदा बचना चाहिए।

(४) देश-सेवक निर्भय और निश्चयशील होना चाहिए। सत्य-वादी और स्पष्टवक्ता सदा निर्भय रहता है। ये गुण उसे अनेक आप-दाओं से अपने आप बचा लेते हैं।

(५) मित और मधुर-भाषी होना चाहिए। मित-भाषिता नम्रता, और विचार-शीलता का चिह्न है और मधुरता दूसरे के दिल को न दुखाने की सहृदयता है। मधुरता की जड़ जिह्वा नहीं, हृदय होना चाहिए। जिह्वा की मधुरता कपट का चिह्न है; हृदय की मधुरता प्रेम, दया और सौजन्य का लक्षण है। भाषा की कटुता और तीखापन या तो अभिमान का सूचक होता है या अधीरता का। अभिमान स्वयं व्यक्ति को गराता है, अधीरता उसके काम को धक्का पहुँचाती है।

(६) दुःख में सदा आगे और सुख में सबसे पीछे रहना चाहिए। यश अपने साथियों को देने और अपयश का जिम्मेवार अपने को समझने की प्रवृत्ति रहे।

(७) द्वेष और स्वार्थ से दूर रहना चाहिए। अपने योग्य साथियों को हमेशा आगे बढ़ने का अवसर देना, उन्हें उत्साहित करना और उनकी बताई अपनी भूल को नम्रता के साथ मान लेना द्वेष-हीनता की कसौटी होती है। अपने ज़िम्मे की संस्था या धन-सम्पत्ति को या पद को एक मिनट की नोटिस पर अपने से योग्य व्यक्तियों को सौंप देने की तैयारी रखना निःस्वार्थता की कसौटी है।

(८) सादगी से रहना, कम-से-कम खर्च में अपना काम चलाना और अपना निजी बोझ औरों पर न डालना चाहिए। सादगी की कसौटी यह है कि अन्न-वस्त्र आदि का सेवन शरीर की रक्षा के हेतु किया जाय, स्वाद और शोभा के लिए नहीं। सेवक के जीवन में कोई काम शोभा या शृंगार के लिए नहीं होता है। खर्च-वर्च की कसौटी यह है कि आराम पाने या पैसा जमा करने की प्रवृत्ति न हो।

(९) जो सेवक धनी-मानी लोगों के संपर्क मे आते रहते हैं या उनके स्नेह-पात्र हैं उन्हें इतनी बातों के लिए खास तौर पर सावधान रहना चाहिए—

(अ) बिना प्रयोजन उनके पास बैठना और बातचीत न करना चाहिए।

(आ) अपने खर्च का बोझ उनपर डालने की इच्छा न पैदा होनी चाहिए—हुई तो उसे दबाना चाहिए।

(इ) वे चाहें तो भी बिना काम उनके साथ पहले या दूसरे दरजे में सफर न करना चाहिए।

(ई) उनके नौकर-चाकर, सवारी आदि पर अपने काम का बोझ न पड़ने देने की सावधानी रखनी चाहिए।

(उ) मान पाने की इच्छा न रखनी चाहिए—उसका अधिकारी अपने को मान लेना तो भारी भूल होगी।

(ऊ) उनके धनैश्वर्य में अपनी सादगी और सेवक के गौरव को न भुला देना चाहिए।

(ए) थोड़े में यों कहें कि अपने सार्वजनिक कामों में सहायता प्राप्त करने के अतिरिक्त अपना निजी बोझ उन पर किसी रूप में न पड़ जाय इसकी पूरी खबरदारी रखनी चाहिए। यदि उनके यहां किसी प्रकार की असुविधा या कष्ट हो तो उसका प्रबन्ध स्वयं कर लेना चाहिए—इसकी शिकायत उनसे न करनी चाहिए।

(१०) अपने खर्च-वर्च का पाई-पाई का हिसाब रखना और देना चाहिए। अपने कार्य की डायरी रखना चाहिए।

(११) घरू काम से अधिक चिन्ता सार्वजनिक काम की रखनी चाहिए। एक-एक मिनट और एक-एक पैसा खोते हुए दर्द होना चाहिए। खर्च-वर्च में अपने और साथियों के सुख-साधन की अपेक्षा कार्य की सुविधा और सिद्धि का ही विचार रखना चाहिए। सार्वजनिक सेवा सुख चाहनेवालों के नसीब में नहीं हुआ करती, इस गौरव के भागी तो वही लोग हो सकते हैं जो कष्टों और असुविधाओं को झेलने में आनंद मानते हों और विघ्नों और कठिनाइयों का प्रसन्नता-पूर्वक स्वागत और मुकाबला करते हों। सेवक का कार्य उनके कष्ट-सहन और तप के बल पर फूलता-फलता है। सेवक ने सुख की इच्छा की नहीं कि उसका पतन हुआ नहीं। सेवक दूध, फल और मिष्टान्न खाकर नहीं जीता—कार्य की धुन, सेवा का नशा उसकी जीवनी शक्ति है।

(१२) व्यवहार-कुशल बनने की अपेक्षा सेवक साधु बनने की अधिक चेष्टा करे। साधु बननेवाले को व्यवहार-कुशल बनने के लिए अलहदा प्रयत्न नहीं करना पड़ता। व्यवहार-कुशलता अपने को साधुता के चरणों पर चढ़ा देती है। व्यवहार-कुशलता जिस भय से डरती रहती है वह साधुता के पास आकर उसका सहायक बन जाती है। मनुष्य का दूसरा नाम है साधु। सेवक और साधु एक ही चीज़ के दो रूप हैं। अतएव यदि एक ही शब्द में देश-सेवक के गुण, योग्यता और नियम बताना चाहें तो कह सकते हैं कि साधु बनो। साधुता का उदय अपने अन्दर करो, साधु की-सी दिनचर्या रखो। अन्न पर नहीं, भावों पर जिओ। स्वीकृत कार्य के लिए तपो। विघ्नों, विपत्तियों, कठिनाइयों, मोहों और स्वार्थों से लड़ने में जो तप होता है वह पंचाग्नि से बढ़कर और उच्च है। अतएव प्रत्येक देश-सेवक से मैं कहना चाहता हूं कि यदि तुम्हें सचमुच सेवा से प्रेम है, सेवा की चाह है, अपनी सेवा का सुफल संसार के लिए देखना चाहते हो और जल्दी चाहते हो, तो साधु बनो, तप करो। दुनिया में कोई काम ऐसा नहीं जो साधु के लिए असम्भव हो, जो तप से सिद्ध न हो सके। अपने जीवन को उच्च और पवित्र बनाना साधुता है और अंगीकृत कार्यों के लिए विपत्तियां सहना तप है। इन दो बातों का संयोग होने पर दुनिया में कौन-सी बात असंभव हो सकती है?

४ : जिम्मेदार होने की जरूरत

सार्वजनिक जीवन उतना ही सुव्यवस्थित, सुसंगठित, प्रगतिशील और प्रभावशाली बन सकता है जितना कि हम कार्यकर्ताओं में अपनी जिम्मेदारी को महसूस करने का भाव अधिक होगा। भारत में एक दिव्य जीवन और ज्योति के दर्शन हो रहे हैं। चारों तरफ उत्साह और कार्य-शक्ति के चिन्ह प्रकट हो रहे हैं, लेकिन बाद में जैसे पानी गँदला हो जाता है और अपनी मर्यादा छोड़कर उल्टे-सीधे रास्ते वह निकलता है, उसी तरह इस जीवन-ज्योति का हाल मुझे कुछ-कुछ दिखाई दे रहा है। अपनी ज़बान और कलम दोनों को हमने छुट्टी छोड़ दिया है, ऐसा मालूम होता है। किसी के खिलाफ़ जो दिलचाहा कह दिया, जो जी चाहा आक्षेप और लांछन लगा दिये, अटट-शटट अफवाहें फैला दीं, गलत और तोड़ी-मरोड़ी खबर अखबारों को भिजवा दीं, जहाँ चाहे धौंस और धाँधली चलाने की कोशिश की, ये कुछ उदाहरण उस बढ़ते हुए जीवन और ज्योति के विकार के हैं। बाज लोग अनजान में और नासमझी से, बिना गहराई तक गये, किसी बात को मान लेते हैं और सरल स्वभाव से उसका प्रचार या ज़िक्र इधर-उधर करते रहते हैं। बाज़ लोग दुष्टता और शरारत से ऐसा करते हैं, बाज़ प्रतिहिंसा से प्रेरित और प्रभावित होकर करते हैं। किसी भी तरह यह होता हो, लेकिन यह है दरअसल बुरा, निंदनीय और त्याज्य। जहां कहीं भी कोई इस दोष का जिम्मेदार पाया जाय, वहीं यह उचित है कि हम उसको रोकें और उसकी भूल उसे समझायें। इसमें उपेक्षा या तटस्थता धारण करना अपनी जिम्मेदारी को भूलना है। तटस्थ रहने वाले भी कई बार उस बुराई को फैलाने और बढ़ाने के उतने ही जिम्मेदार बन जाते हैं जितने कि उस बुराई को फैलाने वाले। यदि हमें सार्वजनिक जीवन को विशुद्ध और बलिष्ठ बनाना ही है तो हमें ठेठ यहीं से संयम की शुरूआत करनी होगी। अगर अपनी जबान और कलम को हम नहीं रोक सकते तो समय पड़ने पर हम अपने शरीर को कैसे बुरे काम से रोक सकेंगे? यहाँ तनिक हमें अपने विचार और भाव पर भी संयम रखने की जरूरत होगी, मन में ही यदि असत्य, अत्युक्ति, प्रतिहिंसा, दुष्टता आदि विकार नहीं आने दिये जाते हैं तो फिर वे कलम और ज़बान में कहाँ से आ जायंगे? प्रत्येक जिम्मेदार सार्वजनिक कार्यकर्ता

को चाहिए कि वह अपना चौकीदार खुद बनकर देखे कि वह कैसा है ? कहाँ है ? क्या कर रहा है ? कहाँ जा रहा है ?

मेरे इस प्रकार के जीवन-शुद्धि-विषयक विचारों पर बाज-बाज मित्र कह दिया करते हैं—'तुम तो शुद्धि ही की बात किया करते हो, हम तो काम को देखते हैं। काम करते चले जाओ।' मैं भी काम करने और काम ही करते रहने की उपयोगिता को मानता हूं, मगर इतना विवेक करना जरूरी समझता हूं कि जो काम हो, वह अच्छा ही काम हो, वह सुव्यवस्थित और सुचारु रूप से किया गया हो। अनपढ़ ढंग से ऊट-पटांग कुछ करते ही चले जाने से आदमी बहुत काम करने वाला भले ही दिखाई दे, मगर यदि वह विवेकयुक्त, व्यवस्थायुक्त और विधियुक्त नहीं है तो परिणाम में कम, उल्टा और हानिकर भी हो सकता है। इसलिए हमें केवल यही नहीं देखना चाहिए कि कोई आदमी काम करता है या नहीं। यह भी देखना होगा कि जो काम करता है, वह शुद्ध भाव से करता है या नहीं, सही और अच्छी रीति से करता है या नहीं, जिम्मेदारी और लगन के साथ करता है या नहीं, स्थिरता और मनोयोग के साथ करता है या नहीं। राम भी पराक्रमी थे और रावण भी पराक्रमी था। दोनों महान् योद्धा, कर्मवीर और तपस्वी थे। मगर संसार जानता है कि एक राम था और दूसरा रावण। रावण की बलाढ्य अगणित सेना किसी काम नहीं आई और अकेले राम के बन्दरों ने ही मैदान मार लिया। इससे हमें क्या शिक्षा लेनी चाहिए ?

हमारे 'राष्ट्रीय विकास' के क्रम में हमारे जीवन में यह ऐसा महत्त्वपूर्ण समय आ रहा है, जिसमें यदि हम विवेक, संयम और जिम्मेदारी के भाव से काम न लेंगे तो न केवल हमारी बहुतेरी शक्ति व्यर्थ ही जायगी अपितु निश्चित रूप से हमारी प्रगति को भी रोक देगी।

५ : आधुनिक दाता और भिखारी

सार्वजनिक काम बिना संस्था के समुचित और सुसंगठित रूप से नहीं चल सकते और संस्था बिना धन की सहायता के नहीं चलती, यह स्वयंसिद्ध और सर्वमान्य बात है। धन मुख्यतः धनी लोगों से ही मिल सकता है। हमारे देश में ऐसे धनी बहुत कम हैं जो सार्वजनिक कामों में दिल खोलकर धन लगाते हों। पुराने विचार के धनी मंदिरों, गो-शालाओं, धर्मशालाओं, कुओं, अन्न-क्षेत्रों आदि में धन लगाते हैं और कुछ

संस्कृत-हिन्दी की पाठशालाओं तथा अंग्रेजी स्कूलों के लिए भी धन देते हैं। देश की परम आवश्यकता को समझकर सामाजिक सुधार अथवा राष्ट्रीय संगठन के काम में थैली खोलकर रुपया लगाने वालों की बड़ी कमी है। फिर जो ऐसे कामों मे दान दिया जाता है वह कीर्ति के लोभ से, मुलाहिजों में आकर, जितना दिया जाता है उतना उस कार्य से प्रेम होने के कारण नहीं। इसका फल यह होता है कि हमें रुपया तो मिल जाता है, पर उन कामों के लिए उनका दिल नहीं मिलता, जो कि धन से भी अधिक कीमती है। जहां धन और मन दोनों मिल जाते हैं वहां ईश्वर की पूरी कृपा समझनी चाहिए।

पर जहां मन नहीं है, अथवा मन दूसरी बातों में लगा हुआ है, वहां से अपने कामों के लिए धन प्राप्त करना एक टेढ़ी समस्या है। कार्यकर्त्ता की सबसे बड़ी परीक्षा यदि किसी जगह होती है, सबसे अधिक मनःक्लेश उसे यदि कहीं होता है तो अपने प्रिय कार्यों के लिए धन एकत्र करने में। मैं इस बात को मानता हूँ कि यदि कार्यकर्त्ता अच्छे और सच्चे हों तो धन की कमी से उनका काम नहीं रुक सकता। मैं यह भी देखता हूँ कि कितने ही देश-सेवक धन प्राप्त करने में विवेक का कम उपयोग करते हैं। धनवान प्रायः शंकाशील होते हैं। यदि वे ऐसे न हों तो लोग उन्हें चैन न लेने दें। धन ही उनका जीवन-प्राण होता है; धन ही उनके सारे परिश्रम और उद्योग का लक्ष्य होता है; इसलिए धन-दान के मामले में वे कठोर, संशयचित्त और बेमुरौवत हों तो आश्चर्य की बात नहीं; फिर भी जिस बात में उनका मन रम जाता है, फिर वह देश-सेवकों की दृष्टि में उचित हो या अनुचित, वे मुट्ठी खोलकर पैसा लगाते ही रहते हैं। अतएव सबसे आवश्यक बात है धनवानों को यह जंचना कि हमारा काम लोकोपयोगी है, उसकी इस समय सबसे अधिक आवश्यकता है और कार्यकर्त्ता सच्चे प्रामाणिक और व्यवस्थित काम करने वाले हैं। यह हम बातें बनाकर उन्हें नहीं समझा सकते। छल-प्रपंच तो कै दिन तक चल सकता है? हमारी व्यक्तिगत पवित्रता, हमारी लगन, हमारी कार्य-शक्ति ही उन्हें हमारा सहायक बना सकती है।

हमारे देश में दान देनेवाले तीन प्रकार के लोग होते हैं। (१) एक तो वे धनी जो पुराने ढंग के धार्मिक कार्यों में धन लगाते हैं, (२) दूसरे वे धनी जो देश-हित और समाज-सुधार में रुपया देते हैं, और

(३) सर्व-साधारण लोग। पुराने ढंग के लोगों में धर्म का भाव अधिक है, धर्म का ज्ञान कम है; और देश तथा समाज की स्थिति का ज्ञान तो और भी कम है। पुरानी रूढ़ियों और अन्धविश्वासों को ही उन्होंने धर्म मान रक्खा है—और यह उनका इतना दोष नहीं है जितना उन लोगों का, जिन्होंने उनकी ये धारणाएँ बना दी हैं, और अब भी जो उन्हें बना रहने देते हैं। दान का भाव उनके अन्दर है। जिस दिन वे अपनी धारणाओं को गलत समझ लेंगे, अपने भ्रम को जान जायंगे, उसी दिन वे समझ और खुशी के साथ देश-हितकारी कार्यों में दान दिया करेंगे। इसका उपाय तो है, उनके अन्दर देश-काल के ज्ञान का प्रचार करना। उनके साथ धीरज रखना होगा, आतुर बनने से काम न चलेगा।

दूसरे दल में दो प्रकार के लोग हैं—एक तो वे जो सभी अच्छे कामों में सहायता देते रहे हैं; दूसरे वे जो खास-खास कामों में ही देते हैं। ये दो भेद हम सार्वजनिक भिखारियों को अच्छी तरह ध्यान में रखने चाहिये। पहले प्रकार के लोग काम करने वालों पर ज्यादा दृष्टि रखते हैं और दूसरे प्रकार के लोग काम और काम करने वाले दोनों पर। पहले दाता को यदि यह जंच जाय कि आदमी भला और ईमान-दार है तो फिर उसका काम न जंचने पर भी वह सहायता कर देता है और दूसरा दाता इतने पर संतोष नहीं करता। वह यह भी देखता है कि यह काम क्या कर रहा है, अच्छी तरह कर रहा है या नहीं, जो कार्य स्वयं दाता को पसंद है वही कर रहा है या दूसरा; और यदि वह उसके मत के अनुकूल हुआ तो ही सहायता करता है। पहले दाता में उदारता अधिक है और दूसरे में विवेक तथा मिशनरी-वृत्ति। पहले में राजा का मनौदार्य है, और दूसरे में सेनानायक की विवेक-शीलता, तारतम्य-बुद्धि। पहला देने की तरफ जितना ध्यान रखता है उतना इस बात की तरफ नहीं कि दिये धन का उपयोग कैसा हो रहा है, काम-काज कैसा-क्या चल रहा है; दूसरा पिछली बात के लिए जागरूक रहता है। पहले दाता से बहुतों को थोड़ा-थोड़ा दान मिलता है, दूसरे से थोड़ों को बहुत। पहला धूर्तों के जाल में फंस सकता है, दूसरे से सच्चे भिखारी भी निराश हो सकते हैं। इस मनो-वृत्ति को पहचानकर हमें भिक्षा-पात्र हाथ में लेना चाहिए। राजा-वृत्ति के दाता के पास हर भिखारी बड़ी रकम की अभिलाषा से जायगा,

अथवा बार-बार जाने लगेगा तो निराशा, पछतावा और कभी किसी समय उपेक्षा या अपमान के लिए उसे तैयार रहना चाहिए। मिशनरी-वृत्ति वाले दाता के पास उसके प्रिय कामों को छोड़कर दूसरे कामों के लिए जाने से सूखा इन्कार मिलने की तैयारी कर रखनी चाहिए।

अब रहे सर्वसाधारण दाता। ये दाता भी हैं और दान-पात्र भी हैं। सार्वजनिक काम अधिकांश मे सर्वसाधारण के ही लाभ के लिए होते हैं। उन्हींका धन और उन्हींका लाभ। हमारी वर्ण-व्यवस्था ने समाज-हित के लिए धन देना धनियों का कर्तव्य ठहरा दिया। इसलिए अधिकांश धन उन्हींसे मिलता है और उन्हींका दिया होता है। यों देखा जाय तो सर्वसाधारण जनों के ही यहां से वह धन धनियों के यहां एकत्र हुआ है और उसका कुछ अंश फिर उन्हींकी सहायता में लग जाता है। पर इतना चक्कर खाकर आने के कारण वह उन्हें अपना नहीं मालूम होता। सबसे अच्छी मनोवृत्ति तो मुझे यही मालूम होती है कि सर्वसाधारण अपनी संस्थाएँ, अपने काम, अपने ही खर्च से चलावें। दान लेने और दान देने की प्रथा मनुष्य के स्वाभिमान को गहरा धक्का पहुँचाती है। दान देने वाला अपने को उपकार-कर्त्ता अतएव बड़ा समझने लगता है और अभिमानी हो जाता है। इधर दान लेने वाला अपने को उपकृत अतएव छोटा और ज़लील समझने लगता है। यदि कर्तव्य-भाव से दान दिया और लिया जाता है, यदि दाता अपना अहोभाग्य समझता हो कि मेरा पैसा अच्छे काम में लगा, यदि भिक्षुक भी अपने को धन्य समझता हो कि समाज-सेवा या देश-हित के लिए मुझे झोली हाथ में लेने का और अपमानित या तिरस्कृत होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ—तब तो इससे बढ़कर सुन्दर, उच्च, ईर्ष्या-योग्य मनोवृत्ति हो नहीं सकती। अतएव या तो कर्त्तव्य और सेवा-भाव से दान दिया और लिया जाय, फिर उसमें उपकार या एहसान का भाव किसी ओर न रहे या फिर दान देने-लेने की प्रथा उठाकर स्वावलम्बन की प्रणाली डाली जाय। वर्तमान दाताओं और भिक्षुकों का वर्तमान अस्वाभाविक और उद्वेग-जनक सम्बन्ध किसी तरह वांछनीय नहीं है।

भिक्षुक भी कई प्रकार के हैं। पेटार्थी और सेवार्थी—ये दो बड़े भेद उनके किये जा सकते हैं; फिर याचक भिखारी और डाकू भिखारी—ये दो भेद भी उनके हो सकते हैं। अपने पेट के लिए भीख मांगने वाले, फिर चाहे वे पुराने ढंग के भिखमंगे हों, चाहे नवीन ढंग से चन्दा जमा

करने वाले हों, लोग उन्हें पहचानते हैं और चाहें तो उन्हें जल्दी पकड़ सकते हैं। सेवार्थी वे हैं जो अपने अंगीकृत कार्यों और संस्थाओं के लिए सहायता प्राप्त करते हैं। अपने भरण-पोषण मात्र के लिए वे संस्था से खर्च ले लेते हैं। याचक भिखारी वे जो गली-गली चिल्लाते और गिड़गिड़ाते फिरते हैं; और डाकू भिखारी वे जो मुंहचिरे होते हैं अथवा अखबारों में बदनामी करने की धमकी दे-देकर या आन्दोलन मचाकर रुपया हड़प लेते हैं।

दाताओं को चाहिए कि वे स्तुति से प्रभावित और निन्दा से भयभीत होकर दान न दें। कार्य की आवश्यकता, श्रेष्ठता और उपयोगिता तथा कार्य-संचालन की लगन, प्रामाणिकता, व्यवस्थितता और योग्यता देखकर धन दिया करें। भिखारियों को चाहिए कि दाता को पहचानकर उसके पास जायं, आवश्यकता हो तभी जायं। दाताओं और भिखारियों के लिए नीचे लिखे कुछ नियम लाभकारी साबित होंगे।—

दाताओं के लिए—

(१) देश, काल और पात्र को देखकर दान दें।

(२) जो देना हो खुशी-खुशी दें—बे-मन से या जबरदस्ती कुछ न दें।

(३) आजकल देश-हित और समाज-सुधार के कामों में ही धन लगावें।

(४) दान देने के पहले भिक्षुक को परख लें। यह जांच लें कि वह अपने, अपने कुटुम्बियों के, आश्रितों के लिए सहायता चाहता है या अपने अंगीकृत कार्य के लिए, या अपनी संस्था के संचालन के लिए चाहता है। फिर व्यक्ति और कार्य की जैसी छाप उनके दिल पर पड़े वैसी सहायता करनी चाहिए।

(५) हर आगन्तुक की सीधी सहायता करने के बजाय यह अच्छा है कि एक-एक कार्य के लिए एक-एक विश्वसनीय प्रधान चुन लिया जाय और उसकी मार्फत सहायता दी या दिलाई जाय।

(६) जहां-जहां दान दिया जाता है वहां उसका उपयोग कैसा-क्या होता है, इसकी जांच-पड़ताल दाता को हमेशा कराते रहना चाहिए और आवश्यकता जान पड़े तो बिना मांगे ही सहायता करनी चाहिए।

(७) इतनी बातों की जांच होनी चाहिए—(१) प्राप्त धन का हिसाब ठीक-ठीक रखा जाता है या नहीं; (२) खर्च-वर्च में किफायत

से काम लिया जाता है या नहीं; और (२) कार्य के अलावा व्यक्ति अपने ऐशो-आराम में तो खर्च नहीं कर रहे हैं न?

(८) दाता भिखारी का अनादर न करे। स्नेह के साथ उसकी बातें सुने और मिठास से उसको उत्तर दे। इन्कार करने में भी, जहां-तक हो, रुखाई से काम न लिया जाय। यह नियम सेवार्थी भिखारियों पर लागू होता है पेटार्थी या डाकू भिखारी पर नहीं। उनको तो भिक्षा, दान या सहायता देना घर की लक्ष्मी को कूड़े पर फेंकना है।

भिखारियों के लिए—

(१) केवल सार्वजनिक कार्य के लिए ही भिक्षा मांगने जायं।

(२) अपने खर्च-वर्च के लिए किसी व्यक्ति से कुछ न मांगें— संस्था या अपने अंगीकृत कार्य पर अपना बोझ डालें और सो भी उतना ही, जितना भरण-पोषण के लिए अति आवश्यक है। भूखों मरने की नौबत आने पर भी अपने पेट के लिए किसी के आगे हाथ न फैलावे।

(३) जब वह भिक्षा मांगने निकला है तब मान-अपमान, आशा-निराशा से ऊपर उठकर दाता के पास जाय। सहायता मिल जाने पर हर्ष से फूल न उठे, न मिलने पर दुःखी न हो। मिल जाने पर दाता को धन्यवाद अवश्य दिया जाय; पर न मिलने पर तनिक भी झुंझलाहट न दिखाई जाय। उसे कोसना तो अपने को भिक्षुक की श्रेष्ठता से गिरा देना है।

(४) भिक्षा मांगने तभी निकले जब काम बिलकुल ही अड़ जाय।

(५) धन के हिसाब-किताब और खर्च-वर्च में बहुत चौकस और सावधान रहे। कार्य-संचालन में प्रमाद या आलस्य न करे अन्यथा उसका भिक्षा मांगने का अधिकार कम हो जायगा।

(६) दाताओं पर प्रभाव जमाने के लिए आडम्बर न रचे। उन्हें फुसलाने के लिए व्यर्थ की तारीफ न करे। डराकर दान लेने का तो स्वप्न में भी खयाल न करे।

(७) अपने कार्य में जिन-जिन लोगों की रुचि हो उन्हींके पास सहायता के लिए जाय।

(८) यह समझे कि संस्थाएँ और कार्य धन के बल पर नहीं, हमारे त्याग, तप और सेवा के बल पर ही चल सकती हैं और यदि तप

और सेवा न होगी तो धन भोग-विलास की सामग्री बन जायगा। स्थायी कोष बनाने के लिए धन संग्रह करने किसी के पास न जाना चाहिए।

मेरा खयाल है कि यदि दाता और भिखारी दोनों इन बातों का खयाल रखते रहेंगे तो न कोई अच्छा कार्य धन के अभाव में बिगड़ने पायगा, न धन का दुरुपयोग होगा, न दाता और भिखारी को परस्पर निन्दा या तिरस्कार करने का अवसर ही आयगा। आदर्श दाता और आदर्श भिखारी जिस समाज में हों वह धन्य है। वह समाज कितना ही पीड़ित, पतित, पिछड़ा हो, उसका उद्धार हुए बिना रह नहीं सकता।

६ : धनिकों से

मेरा इस बात में विश्वास है कि समाज में सबके समान अधिकार हैं सबको अपना उत्कर्ष करने की समान सुविधा होनी चाहिए। मैं व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने के पक्ष में नहीं हूँ। झूठ और अन्याय से धन कमाना और उसे संग्रह करना बुरा समझता हूँ। लेकिन मैं इस बात को नहीं मानता कि सारी बुराई की जड़ धन या धनी लोग हैं। हमारे हिन्दू-समाज में बुराई धन वालों से नहीं, ब्राह्मणों से शुरू हुई। वे क्यों धन के या सत्ता के वश में होकर अपने कर्तव्य और धर्म को भूल गए? ब्राह्मण बुद्धि और ज्ञान का प्रतीक है। तप और तेज की निधि है। बुराई बुद्धि में है, धन में नहीं; बुद्धि हमें कुमार्ग में ले जाती है, धन तो उसका सहायक बन जाता है। इसलिए मैं तो समाज के बिगाड़ की असली जिम्मेवारी दुर्बुद्धि स्वार्थ-बुद्धि को मानता हूँ, धन--सत्ता आदि साधनों को नहीं। गांधी ब्राह्मण हैं, उन पर न धन का जोर चलता है, न सत्ता का। जिस दिन इनका जोर चल जायगा,समझियेगा वह ब्राह्मणत्व से गिर गए हैं।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि धनिक सब तरह निर्दोष हैं। समाज के प्रति जो कर्तव्य उनका था या है उसका ये यथावत् पालन करते हैं, सो बात नहीं; बल्कि इस समय तो समाज में एक ऐसा दल पैदा हो गया है जो कहता है कि धनिकों की धन-तृष्णा ने उनको समाज का शोषक बना दिया है। यह आरोप बिलकुल निराधार हो ऐसा नहीं कह सकते। महात्मा गांधी जी ने इसी वणिक्वृत्ति के शोषण को ध्यान में रखकर कहा था कि वैश्य जाति के पापों के प्रायश्चित्त करने के लिए ही

मेरा जन्म वैश्य कुल में हुआ है। श्री जमनालालजी बजाज भी एक आदर्श वैश्य बनने का प्रयत्न इसीलिए कर रहे थे और श्री घनश्यामदासजी बिड़ला ने भी पूंजीपति-बन्धुओं से कहा है कि आप लोग अपने जीवन-व्यवहार से यह साबित कर दो कि पूंजीपति वर्ग उन दोषों का पात्र नहीं है जो समाजवादी लोग उन पर लगाते हैं। इसका अर्थ यह है कि धनिक, पूंजीपति या वैश्य-वर्ग के लोगों को समाज या देश के कार्यों में अधिकाधिक हिस्सा लेना चाहिए।

यह वे दो तरह से कर सकते हैं। एक तो धनोत्पादन इस तरह करें जिससे श्रमिकों और गरीबों का शोषण न हो; दूसरे, जो कुछ धन-संग्रह करें उसमें से देश और समाज के कामों में जनता के हित में उसका काफी अंश लगावें।

पहली बात की तरफ बहुत ही कम लोगों का ध्यान गया है। वे अन्धा धुन्ध धन कमाने के पीछे पड़े हुए हैं। उसके लिए झूठ और धोखा-धड़ी को कोई पाप नहीं समझते हैं। धन अलबत्ता देते रहते हैं परन्तु उस दान में भी सब स्वार्थ घुस गया दीखता है। नाम के लिए या आगे-पीछे कुछ लाभ उठाया जा सकेगा, इस दृष्टि से यानी भय या लालच से धन अधिक दिया जाता है। फिर मानो बड़ा अहसान करते हों, ऐसा भी कोई-कोई जताते हैं। पाप की कमाई में से कुछ धन अच्छे काम में लगा कर पुण्य संचय करना चाहिए, और जो हमारे पाप की कमाई का दान लेते हैं वे हमें पाप से बचने में सहायता करते हैं। इस वास्तविक भावना से कितने लोग धन देते हैं? मुझे अक्सर दान मांगने और लेने के अवसर आते रहते हैं। अपने पेट पालने के लिए मैंने कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। सार्वजनिक कामों के लिए दान मांगना और लेना मैं ब्राह्मण का ही नहीं प्रत्येक देश-सेवक का धर्म समझता हूँ। इस भिक्षुक जीवन में जो कुछ अनुभव हुए हैं उनके आधार पर उन धनिकों से इतना जरूर कहना चाहता हूँ कि वे धन के कारण अपने को बड़ा और श्रेष्ठ समझने का ख्याल छोड़ दें। दूसरे जब कोई सार्वजनिक कार्यकर्ता उनके सामने आवे तब वे उसे तुच्छ और उपेक्षा की दृष्टि से न देखें। यह जरूर जान लें कि व्यक्ति सच्चा और ईमानदार तो है न, कार्य उसका लोकोपयोगी है न। वे पात्र को परखे बिना हरगिज दान न दें। झूठी दया के वशवर्ती होकर भी दान न दें। भय से कभी दान न दें। व्यक्ति यदि सत्पात्र है तो उसके

प्रति सद्भाव रखते हुए नम्रता-पूर्वक दान दें। और जब देना ही है, देते हैं तो सात्विक दान क्यों न दें? कंजूसी ही करना हो तो अपने ऐश-आराम में करें, देश और समाज के लिए देने में नहीं। संकल्पित दान को न देना, उसका अपने निजी खर्च या व्यवसाय में उपयोग कर लेना साक्षात् चोरी है। इससे वे बचें। वे इस बात को न भूलें कि उनकी अमर्यादित धन-तृष्णा, अनैतिक साधनों से धन-संग्रह और केवल स्वार्थ और सुख-भोगों में ही उसका उपयोग करने की वृत्ति के ज़हरीले परिणाम प्रकट होने लगते हैं।

अभी समय है, वे चेतें। क्या हिंसात्मक तथा अहिंसात्मक दोनों प्रकार के बल उनकी शोषण-वृत्ति के और स्वार्थ-परता के खिलाफ काम कर रहे हैं? यदि उन्होंने अपने को न सम्भाला और अपने जीवन को जनता की सेवा के अनुकूल न बनाया तो खुद ईश्वर भी आने वाले दुर्दिन से उनकी रक्षा न कर सकेगा।

७ : देश-सेवक और तनख्वाह

देश-कार्य को सुव्यवस्थित और सुसंगठित रूप से संचालित करने के लिए हज़ारों की तादाद में देश-सेवकों की आवश्यकता रहती है। जबतक इनके गुजर का नियमित प्रबंध न हो तबतक इतनी बड़ी कार्यक्षम सेना मिलना असंभव है। फिर भी कई लोग उन देश-सेवकों या सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं को, जो वेतन लेते हैं, बुरा समझते हैं, उनकी निन्दा करते हैं, समय-असमय उनपर टीका-टिप्पणी करते हैं। इसलिए हम यह भी देखलें कि यह आक्षेप कहां तक ठीक है।

तनख्वाह के मानी हैं नियमित और निश्चित रुपया अपने खर्च के लिए लेना। देशभक्त या सार्वजनिक कार्यकर्ता सिर्फ उतना ही रुपया नियमित रूप से लेता है जितना महज़ जीवन-निर्वाह के लिए काफी हो। ऐश-आराम और मौज-शौक के लिए एक पाई भी लेने का उसे हक नहीं है। कोई नियमित-रूप से ले या अनियमित-रूप से, निश्चित रकम ले या अनिश्चित, किसी संस्था से ले या व्यक्ति से, किसी देशसेवक या लोक-सेवक को मैंने फाके कर-करके काम करते हुए नहीं देखा है। यदि उसके साथ उसका कुटुम्ब भी है तो उसे कहीं-न-कहीं से, किसी-न-किसी तरह, गुज़र-बसर के लिए रुपया लेना ही पड़ता है। तो जब कि तन-ख्वाहदार या बे-तनख्वाहदार सभी लोगों को खर्च-वर्च या गुजर-बसर के

लिए रुपयों की जरूरत होती है तब जो निश्चित और नियमित रूप से एक रकम लेकर उसीपर अपनी गुजर चलाते हैं. वे बुरे क्यों, और वेतन लेकर सारा समय देश और जन-सेवा में लगाने की प्रणाली बुरी क्यों? जो लोग वेतन न लेकर देश या जन-सेवा करते हैं वे या तो अपने बाप-दादों की कमाई में से खर्च करते हैं, या धनी मित्रों की सहायता पर गुजर करते हैं; या बीमा, अखबार, वकालत, डाक्टरी अथवा ऐसा ही कोई निजी धन्धा खोलते हैं और उसमें से भत्ता लेते हैं; परन्तु जीवन-निर्वाह के लिए रुपया सब लेते हैं। यदि कोई निश्चित और नियमित रकम नहीं लेता हो तो मेरी राय में यह गुण की नहीं, बल्कि दोष की बात है। इसके अलावा व्यक्तियों की अनियमित और अनिश्चित रूप से सहायता लेने की अपेक्षा तो किसी सुयोग्य और मान्य संस्था से नियमित रकम महज अपनी मामूली जरूरियात भर के लिए लेना क्यों श्रेयस्कर और वाञ्छनीय नहीं है? यों तो मैं ऐसे भी देश-सेवकों या सार्वजनिक कार्यकर्ता कहलाने वालों को जानता हूँ, जो एक ओर वेतन शब्द का तिरस्कार करते हैं पर जो दूसरी ओर या तो चन्दा लेकर खा जाते हैं, या डरा-धमकाकर लोगों से रुपया लाते हैं, या कर्ज लेकर फिर मुँह नहीं दिखाते, या पैसा न मिलने पर अखबारों में गाली-गलौज करते और गिराने की कोशिश करते हैं। पर यहां इनका विचार नहीं करना है; क्योंकि ये तो वास्तव में समाज के चोर हैं और लोकहित के नाम पर चोरी और ठगी करते फिरते हैं। अस्तु।

तो अब यह समझ में नहीं आता कि जब कि हर देश-भक्त और समाज-सेवक को अपनी गुजर के लिए रुपयों की या धन की कुछ-न-कुछ आवश्यकता होती है तो फिर नियत रकम में अपनी गुजर करने की प्रणाली क्यों बुरी है? आप कहेंगे, निजी धन्धेवाला अधिक स्वतन्त्र है। पर किस बात के लिए? अधिक खर्च कर देने के लिए और किसी भी एक काम में न लगा रहने के लिए ही न? पर इस स्वतन्त्रता में या अनियम में रहकर काम करनेवाले की अपेक्षा एक नियम के अधीन रह कर नियत और निश्चित रुपया लेने और काम करनेवाला आदमी क्या अधिक कठिनाइयों में काम नहीं करता है? उसे अधिक संयम और शक्ति से काम नहीं लेना पड़ता है? और क्या इसी कारण वह निन्दा का पात्र है? फिर अपने निजी धन्धों में अधिकांश समय देनेवालों की मुख्य शक्ति तो अपने धन्धे में ही चली जाती है—राष्ट्र या समाज के

कामों के लिए नाम-मात्र का अवकाश उन्हें मिलता है। इससे उन्हें 'देश-सेवक' बनने का श्रेय भी भले ही मिल जाय, देश को उनसे पूरा लाभ नहीं मिलता। इसके विपरीत तनख्वाहदार लोक-सेवक को 'वेतन-भोगी' कहकर आप चाहे 'देशभक्ति' से खारिज कर दीजिए; पर उसके सारे समय और शक्ति पर देश और समाज का अधिकार होता है और उसका पूरा एवं सारा लाभ देश या समाज को मिलता है। इसके सिवा जहाँ देश-सेवकों के निर्वाह का कोई प्रबन्ध नहीं होता वहां का सार्व-जनिक जीवन अक्सर गन्दा पाया जाता है। अतएव मेरी मन्दमति में तो वेतन की प्रथा निन्दनीय नहीं, प्रोत्साहन देने योग्य है। गुजरात में जो इतना सुदृढ़ संगठन हुआ है, वह वेतनभोगी देश-सेवकों का ही ऋणी है। आज देश में जितनी राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाएँ चल रही हैं, श्री गोखले की भारत-सेवक-समिति, लालाजी की पीपल्स सोसायटी, श्रद्धानन्दजी का गुरुकुल, कर्वे का महिला-विद्यापीठ, देवराजजी का जालन्धर-कन्या-महा विद्यालय, टैगोर की विश्वभारती, मालवीयजी का हिन्दू-विश्वविद्यालय, गांधीजी का चरखा-संघ, हरिजन सेवक-संघ; जमनालालजी बजाज का गांधी सेवा-संघ, ये सब अपने खर्च के लिए निश्चित और नियमित रकम अर्थात् वेतन पानेवालों के ही बल पर चल रहे हैं और अपने-अपने क्षेत्र में भरसक सेवा कर रहे हैं। देश में ठोस और रचनात्मक कार्य कभी हो ही नहीं सकता, यदि आपके पास हजारों की तादाद में नियत और निश्चित रकम लेकर सेवा करनेवाले लोग न हों। कांग्रेस का काम आज से कहीं अधिक सुव्यवस्थित और सुसंगठित रूप से चलने लगे, वह कही अधिक बलशालिनी, इस सरकार से भी बहुत अधिक शक्तिशाली संस्था हो जाय, यदि उसमें 'राष्ट्र-सेवक-मंडल' की योजना पर अमल होने लगे।

इन बातों और स्थितियों की उपेक्षा करके यदि हम राष्ट्रीय क्षेत्र में वेतन-प्रथा का पैर न जमने देने का उद्योग करेंगे तो हम या तो देश-सेवा और जन-हित के नाम पर चोरी और ठगी को प्रोत्साहन देने का या देश-सेवा के उत्सुक नवयुवकों को निजी काम-धन्धों के द्वारा स्वार्थ-साधन में या सरकारी नौकरियों की गुलामी में लगाने का ही पुण्य प्राप्त करेंगे।

८ : कार्य-कर्त्ताओं की जीविका

कार्यकर्त्ता भी मनुष्य है और इसलिए वह हवा खाकर या फाकेकशी करके नहीं रह सकता। अधिक नहीं तो खाने-कपड़े भर का तो उसका कोई प्रबन्ध होना ही चाहिए। इसमें दो मत नहीं हो सकते। अब प्रश्न यह है कि यह प्रबन्ध हो कहां से ? इसके इतने जरिये देखे जाते हैं—

(१) किसी संस्था के द्वारा,
(२) किसी मित्र या मित्रों की सहायता से,
(३) अपनी सम्पत्ति हो तो उसमें से,
(४) भिक्षा द्वारा या
(५) आड़े-टेढ़े और आक्षेप योग्य मार्ग से,

संस्था से उन्हीं लोगों को मिलता या मिल सकता है जो संस्था के उद्देश्य को मानते हों, उसकी नीति पर चलते हों और उसके नियमों की पाबन्दी रखते हों। मित्रों से सहायता व्यक्तिगत स्नेह और आदर होने पर ही मिल सकती है। इसमें यदि आदर्श और सिद्धान्त की एकता हो तो यह सहायता अधिक हार्दिक और अधिक स्थायी हो सकती है। अपनी सम्पत्ति रखने वाले कार्यकर्त्ता बहुत थोड़े हैं और हो सकते हैं। महात्माजी कहते हैं, मुझे ७॥ लाख गांवों के लिए ७॥ लाख कार्यकर्त्ता चाहिएं। अब इतने कार्यकर्त्ता अपनी सम्पत्ति रखने वाले कहां से मिलेंगे ? भिक्षा द्वारा पेट भरने से आत्म-सम्मान नष्ट होता है। जिसकी भावना और जीवन सेवामय है उसे तो घर-घर भीख मांगने की जरूरत ही क्या है ? यदि उसकी जरूरतें बहुत थोड़ी हैं और थोड़ी ही होनी चाहिएं—तो कष्ट के साथ क्यों न हो, उसे पेट भरने की सामग्री मिल ही जाती है। भिक्षा से तो परिश्रम करके मजदूरों के रूप में जो कुछ मिले उस पर गुजर करना बेहतर है। पांचवां रास्ता तो निकृष्ट ही है। कोई भला आदमी और प्रतिष्ठित कार्यकर्त्ता टेढ़ा और आपत्तिजनक मार्ग अपनी गुजर के लिए न स्वीकार करेगा। सच्चे कार्यकर्त्ता की एक परीक्षा यह भी है कि वह अपने निर्वाह के लिए राज-मार्ग ही अङ्गीकार करे, चोर-मार्ग कदापि नहीं। धमकाकर, झूठ बोलकर, धोखा देकर, खुशामद करके, गिड़गिड़ाकर, मिथ्या स्तुति करके, अन्य प्रशंसा करके, आत्म-सम्मान खोकर, झूठे वायदे करके, झूठा हिसाब बनाकर, चन्दा हजम करके, या हिसाब न बताके ये सब चोर-मार्ग के नमूने हैं।

इनमें हमारी समझ में सबसे श्रेष्ठ मार्ग तो यह है कि कार्यकर्त्ता जिसकी सेवा करता है उनकी आप दी हुई सहायता पर ही सन्तोष माने। किंतु इसके लिए बहुत धैर्य और श्रद्धा की आवश्यकता है। दूसरे, एक आदमी सेवा करे और उसके चार आदमियों का खर्च लोगों पर पड़े यह न होना चाहिए। ऐसी स्थिति वालों को अक्सर विशेष कष्ट और असुविधा होती है। अव्वल तो आश्रित न हों या एक दो हों, किंतु जो हों वे भी कार्यकर्त्ता बनकर रहें तो विशेष कठिनाई न होगी; किंतु फिर भी यह मार्ग है जरूर ऐसा कठिन जिस पर थोड़े ही लोग चल सकते हैं। जो अकेले हैं उनके लिए यह बहुत ही बढ़िया है–सिर्फ उनकी जरूरतें ऐसी ही होनी चाहिएं जो उस समाज के लोगों से, जिनकी वह सेवा करता है, खर्चीली न हों। दूसरे नम्बर पर, इससे सुसाध्य है किसी संस्था द्वारा नियत रकम लेना। इसमें निश्चिन्तता तो अधिक है; किंतु कार्यकर्त्ताओं के आलसी, सुख-भोगी, लोकमत के प्रति लापरवाह रहने का अन्देशा रहता है। यदि संस्था के संचालक और कार्यकर्त्ता जागरूक रहें तो इस दोष से बचाव हो सकता है। अपनी सम्पत्ति रखने वाले यानी अवैतनिक रूप से काम करने वालों में अभिमान, गैर-जिम्मेवारी और अनियम का दोष पाया जाता है। वे अपने को उन लोगों से भी श्रेष्ठ समझने लगते हैं जो पिसते तो उनसे ज्यादह हैं, उपयोगी भी उनसे ज्यादह हैं; परन्तु अवैतनिक नहीं हैं। यदि इस बुराई से कार्यकर्त्ता अपने को बचाये रक्खें तो फिर हर्ज नहीं है।

कार्यकर्त्ताओं की जीविका के संबन्ध में एक और बात विचारणीय है। कुछ कार्यकर्ताओं को शिकायत है कि हम काम करने को तैयार हैं परन्तु कोई हमारी जीविका का प्रबन्ध नहीं है। इधर जो लोग जीविका का प्रबन्ध कर सकते हैं उनका कहना है कि देश में योग्य कार्यकर्त्ताओं का अभाव है। इसका एक ही रास्ता है–या तो हम स्वतन्त्र रूप से अपनी जीविका का साधन ढूंढ लें या जिनसे जीविका के प्रबन्ध की अपेक्षा रखते हैं—उन्होंने कार्यकर्ता की योग्यता की जो नाप बना रखी है—उसमें पूरे उतरें। यदि हम अपनी योग्यता की नाप अपनी ही रखना चाहते हैं तो जीविका का प्रबन्ध हमें खुद कर लेना चाहिए। यदि खुद प्रबन्ध कर सकने की स्थिति न हो तो उनकी नाप में पूरा उतरने का यत्न करना चाहिए। या तो हम अपनी नाप रखने का सन्तोष पावें और जीविका की जिम्मेवारी अपने ऊपर लें या जीविका के प्रबन्ध से

निश्चिन्तता प्राप्त करने के लिए दूसरों की नाप में पूरा उतरने की जिम्मेवारी लें। दोनों दशाओं में एक बात का सन्तोष ले लें और एक बात की जिम्मेवारी। यह नहीं हो सकता कि सन्तोष हम दोनों प्रकार का चाहें और जिम्मेवारी एक बात की भी नहीं। कुछ तो हमारा समाज भी अपने कर्त्तव्य के प्रति उतना जाग्रत नहीं है जिससे कार्यकर्त्ताओं को जीविका की चिन्ता न करनी पड़े; और कुछ हम कार्यकर्ता भी उस कोटि के नहीं होते जिसकी अच्छी छाप समाज पर पड़ती रहे। इसमें दोष की अधिक जिम्मेवारी कार्यकर्त्ताओं पर ही आती है; क्योंकि समाज तो प्रायः सहृदय, सहानुभूतिशील और क्षमाशील ही देखा जाता है। अतएव इस विषय में मुझे कुछ सन्देह नहीं है कि कार्यकर्त्ता की योग्यता और सेवा में ही कहीं कसर होनी चाहिए जिससे उसे निर्वाह की चिन्ता में पथ-भ्रष्ट होना पड़ता है या सेवा से विरक्त होजाना पड़ता है। साथ ही मुझे इस बात में कोई शक नहीं है कि जब तक संस्था-सङ्गठन या प्रांत के मुखिया कार्यकर्त्ताओं की जीविका का समुचित प्रबन्ध नहीं करते या उसकी जिम्मेवारी को अनुभव नहीं करते तब तक सुसङ्गठित और सुचारु रूप से काम चलना असम्भव है।

६ : जीवित रहने का भी अधिकार नहीं ?

सार्वजनिक संस्था, संगठन और जीवन में यह एक प्रश्न है कि दूसरों के मतों और विचारों को किस हद तक सहन किया जाय ? आप एक बात को सही मानते हैं, मैं दूसरी बात को। आप कहते हैं, ठहरने और काम करने का समय है। मैं कहता हूँ, लड़ने और आन्दोलन करने का है। एक कहता है, फलां आदमी को सभापति बनाओ, दूसरा कहता है, नहीं; फलां को बनाना चाहिए। एक के मत में यह प्रणाली अच्छी है; दूसरे के विचार से दूसरी। एक एक व्यक्ति को नेता मानता है; दूसरा दूसरे को। कोई एक संस्था पर कब्जा करना चाहता है; कोई वहां से हटना नहीं चाहता। धार्मिक झगड़ों को छोड़ दें तो सार्वजनिक जीवन में ऐसी ही बातों पर विवाद, वैमनस्य और झगड़े हुआ करते हैं। यदि हम हर छोटी-बड़ी बात पर लड़ते और एक-दूसरे पर हमला करते रहें तो सार्वजनिक जीवन में एक घृणित वस्तु हो जाय। हमें एक ऐसी मर्यादा बांधनी ही होगी, जहां तक हम एक-दूसरे को बरदाश्त करें और उसके बाद विरोध या प्रतिकार। फिर हमें यह भी निश्चय करना होगा

कि विरोध या प्रतिकार कैसा होना चाहिए ? मेरी समझ में हमें सबसे पहले यह देखना चाहिए कि मत-भेद का आधार कोई सिद्धान्त, आदर्श या उच्च लक्ष्य है, अथवा स्वभाव, व्यवहार, द्वेष, मत्सर आदि है ? इसी प्रकार मतभेद रखने वाले व्यक्ति का भाव शुद्ध है, नीयत साफ है, या धोखे और फरेब से काम लिया जाता है ? यदि मतभेद के मूल में सिद्धान्त, आदर्श या लक्ष्य है और भावना शुद्ध है तो वहां वैमनस्य नहीं पैदा हो सकता। जहां शुद्ध और उच्च भावना है वहां छोटी-छोटी व्यवहार की, तफसील की, या स्वभावगत गुण-द्वेष की बातों पर झगड़ा और तू-तू, मैं-मैं नहीं हो सकती। जहां दिल में एक बात हो और बाहर दूसरी कही जाती हो वहां विश्वास जमना कठिन होता है और झगड़ा हुए बिना नहीं रहता। अब इसकी क्या पहचान कि मतभेद सिद्धान्त-मूलक है या व्यक्तिगत कारणों से अथवा भावना शुद्ध है या अशुद्ध ? यदि सिद्धान्तगत है तो व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हानि-लाभ, उतार-चढ़ाव, मान-अपमान को सिद्धान्त के मुकाबले में तरजीह न देगा। सिद्धान्त की रक्षा के लिए उसे महल में रहने की आवश्यकता होगी तो वहां रहेगा, और यदि जंगल में एकाकी मारे-मारे फिरने अथवा फांसी और सूली पर चढ़ने की जरूरत होगी तो उसके लिए भी खुशी से तैयार रहेगा। वह कठिनाइयों में सदा आगे और सुख-भोग में पीछे रहेगा। वह ऐसे समय पर अवश्य अपने को जोखिम में डाल देगा, जब संकट और साहस का अवसर होगा, जब बुराई और बदनामी का ठीकरा सिर पर फूटने वाला होगा। पर यदि मतभेद का कारण व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा है, तो वह सिद्धान्त को कुचलकर अपने व्यक्तित्व को आगे बढ़ाने के लिए चिन्तित रहेगा। पद न मिलने से अप्रसन्न होगा, मान न मिलने से वह सहयोग छोड़ देगा, सहायता न मिलने से बुराई करने लगेगा, गुणों को भूलकर दुर्गुणों की चर्चा करने लगेगा, सिद्धान्त-पालन का मजाक उड़ावेगा। सिद्धान्त-वादी सिद्धान्त को छोड़कर लोकप्रियता या लोक-निन्दा की परवा न करेगा। वह टीका-टिप्पणी और निन्दा से चिढ़ेगा नहीं, बल्कि नम्र बनकर प्रत्येक बात से शिक्षा ग्रहण करने की चेष्टा करेगा।

इसी तरह सच्चाई छिपी नहीं रहती। आप बोलें या न बोलें, सच्चाई सदा बोलती रहती है। सच्चाई है क्या चीज ? अन्तःकरण और आचरण का सामञ्जस्य, एकता। सच्चाई ही एक ऐसी चीज है

जो मतभेद होते हुए भी परस्पर आदर बढ़ाती है। सच्चाई अपने अवगुण को अधिक और पहले देखती है, दूसरे के को कम और बाद में। जहां सच्चाई है, वहां नम्रता अवश्य मिलेगी। उद्दण्डता और अभिमान, यदि सच्चाई हो भी तो, उसे मुरझा देते हैं। उद्दण्डता और अभिमान दूसरों पर शासन करना चाहते हैं, अपने अपात्र होने पर भी दूसरों को दबाना चाहते हैं; परन्तु सच्चाई सदा विनत रहकर, अपने को मिटाकर, दूसरों को बढ़ाना चाहती है।

यह तो हुई सिद्धान्त या आदर्शगत मत-भेद तथा सच्चाई की पहचान। अब प्रश्न यह रह जाता है कि मत-भेद किस हद तक सहन किये जायं ? सो प्रथम तो यह मनुष्य की सहन-शीलता पर अवलम्बित है। मतभेद छोटी-बड़ी बातों पर हो तो वह सर्वथा सहन करने योग्य हैं। यदि सिद्धान्त और आदर्श-सम्बन्धी हैं, उसकी बदौलत यदि सिद्धांत और आदर्श की जड़ कटती है तो वह सहन करने योग्य नहीं; बल्कि असहयोग करने योग्य है। असहयोग के मूल में भी व्यक्ति के प्रति तो प्रेम और सहानुभूति ही होनी चाहिए, द्वेष और डाह के लिए उसमें जगह नहीं हो सकती। असहयोग के आगे की सीढ़ी है कष्ट-सहन। यही तपस्या है। अपने सिद्धान्त और आदर्श के लिए जो व्यक्ति तपता है, निन्दा, कटूक्ति, भर्त्सना, अपमान और शारीरिक यन्त्रणाएं प्रसन्न रहकर सहता है, वही महान् पुरुष बनता है। वह सार्वजनिक जीवन को ऊँचा उठाता है, पवित्र बनाता है और आगे बढ़ाता है।

पर एक यह भी मत प्रचलित है कि यदि तुम्हारा मत न मिलता हो तो उसकी निन्दा करो, उसके खिलाफ ज़हर उगलो, उसे लोक-दृष्टि में गिराओ और अन्त में उसका काम तमाम कर दो। मेरी समझ में यह भले आदमियों का पथ नहीं है। मत-भेद के कारण गिराना और मारना आसुरी प्रवृत्ति है और सभ्य समाज में उसको कदापि प्रोत्साहन नहीं मिल सकता। मनुष्य को स्वेच्छा से जीवित रहने का, स्वतन्त्र रहने का और सुधारने का जन्म-जात अधिकार है। बुराई होने पर आप उसकी स्वतन्त्रता को मर्यादित कर सकते हैं; परन्तु जीवित रहने का अधिकार नहीं छीन सकते। आपकी तारीफ तो तब है, जब आप मुझे अपने मत का कायल कर दें, अपने मत में मिला लें। मुझे मार डालने में आपकी कौन-सी बहादुरी है ? एक बैल भी सींग मारकर मनुष्य को मार डाल सकता है। इसलिए सच्ची वीरता किसी को अपने मत का कायल कर देने

में है, न कि उसको गिराने या मार डालने में। कुचलना या मार डालना नहीं, बल्कि मत-परिवर्तन ही सच्ची सिद्धान्तवादिता और वीरता की कसौटी है। यह मनुष्य का कितना बड़ा अन्याय और अत्याचार है कि वह अपने मत को इतना श्रेष्ठ अटल, निर्भ्रम और सत्य समझे कि उसके लिए दूसरे को ज़िन्दा रहने का भी हक न रहने दे ? यह मनुष्यता का व्यभिचार है। यह मनुष्यता को लज्जित और कलंकित करना है। यह मनुष्य का घोर स्वार्थ और मदान्धता है। इससे समाज में कभी न्याय और स्वतन्त्रता का विकास नहीं हो सकता। यह एकतंत्रता, अन्या-चार और स्वेच्छाचार का परवाना है। इसका अर्थ यह है कि तुम्हारे हाथ में यदि गिराने और मारने की शक्ति है तो बस। तुम अपने गुणों और खूबियों पर नहीं जीना चाहते, अपनी पशुता के बल पर जीना चाहते हो। अपनी मनुष्यता को नहीं, पशुता को बढ़ाकर जग में पशुता की वृद्धि करना चाहते हो ! क्या तुम यह मनुष्यजाति की सेवा कर रहे हो ? क्या इस पर कुछ सोचने की जरूरत नहीं है ?

: ७ :

आन्दोलन और नेता

१ : राज-संस्था

राजनीति समाज-नीति का एक अंग है। मनुष्यों ने मिलकर समाज बनाया, समाज ने राज्य बनाया। मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार-नियम को नीति कहते हैं। नीति शब्द का अर्थ है—वे नियम जो आगे ले जाते हैं। जो नियम या व्यवस्था समाज को आगे ले जाती है वह समाज-नीति; जो राज्य को आगे ले जाती है वह राजनीति कहलाती है। समाज कहते हैं एक व्यवस्थित मानव-समूह को। यह मानव-समूह जब अपने शासन-कार्य के लिए सरकार नाम की एक अलहदा संस्था बना लेता है तब शासन-संस्था और मानव-समूह मिलकर राज्य (State) कहलाता है; अर्थात् राज्य के दो भाग हैं—एक तो शासन-संस्था और दूसरा शासित मानव-समाज। राज्य का अर्थ केवल सरकार यानी शासन-मंडली नहीं है। राज्य की उत्पत्ति समाज से हुई है। समाज ने अपनी सत्ता के एक अंश से शासन-संस्था यानी सरकार खड़ी की है। जब मनुष्य-समाज व्यवस्थित होने लगा तो सहज ही इन बातों की सुव्यवस्था की ओर उसका ध्यान गया—दूसरे समाज के आक्रमणों से अपने को कैसे बचावें? आपस के लड़ाई-झगड़ों का निपटारा कैसे करें? समाज का भरण-पोषण और उन्नति कैसे हो? शासन-संस्था इन्हीं कठिनाइयों का हल है। आरम्भ में समाज के लोग मिलकर इन कामों के लिए कुछ लोगों को चुन लिया करते थे—एक मुखिया सरपंच बना लेते थे और समाज का काम चला लेते थे। दूसरों पर काम सौंप देने से स्वभावतः खुद निश्चिन्त रहने लगे। इसका फल यह हुआ कि मुखिया राजा बन बैठा और समाज की सम्पत्ति से राज-काज करने के बदले समाज को अपने डण्डे से हांकने लगा। जब समाज जाग्रत हुआ तो उसने राजा को उखाड़ने की चेष्टा की और आज हम जगह-जगह प्रजा-सत्ता की स्थापना देख रहे हैं।

स्वतन्त्रता का व्यावहारिक अर्थ है राजनैतिक स्वतंत्रता अर्थात् शासन-विषयक स्वतंत्रता। इसकी प्राप्ति या उपयोग के साफ अर्थ दो हैं—एक सीधे राज-काज में हाथ बँटाना, और दूसरे राजनैतिक जागृति या आन्दोलन करना। या यों कहें कि एक तो शासन-संस्था में सम्मिलित होकर काम करना, दूसरे उससे स्वतंत्र रहकर लोक-जागृति करना और आवश्यकता पड़ने पर शासक-मंडली का विरोध करना। यह बात सच है कि राज-संस्था समाज का ही एक अंग है और समाज-हित ही उसका एकमात्र लक्ष्य है; किन्तु कई बार शासन-संस्था स्वयं अपने अस्तित्व की चिन्ता में इतनी डूब जाती है कि उसे समाज-हित का खयाल नहीं रहता। तब समाज के प्रतिनिधियों का कर्त्तव्य होता है कि वे समाज के हित की ओर उसका ध्यान दिलावें और यदि शासन-मंडली इतने से न माने तो लोगों को सजग करें और उनके बल से उसमें आवश्यक सुधार या परिवर्तन करावें। इस प्रकार राज-संस्था के दो अंग अपने-आप हो जाते हैं—एक तो शासक-वर्ग, दूसरे प्रतिनिधि-वर्ग। इनमें से ही प्रायः आन्दोलनकारी लोग उत्पन्न होते हैं। प्रतिनिधियों का काम है समाज-हितकारी नियम बनाना और शासक-वर्ग का काम है उनका व्यवहार करना। वास्तव में तो इन प्रतिनिधियों में से ही शासक भी उत्पन्न होते हैं। जो प्रतिनिधि शासन की जिम्मेवारी लेते हैं वे शासक और जिन पर शासन-सुधार की जिम्मेवारी आ जाती है वे आन्दोलनकारी हो जाते हैं। कभी-कभी ये एक-दूसरे के घोर विरोधी भी बन जाते हैं; परन्तु दोनों का उद्देश्य एक ही होना चाहिए, समाज-हित। इसके बदले जब व्यक्तिगत स्वार्थ इनके मूल में प्रविष्ट कर जाता है तब दोनों अपने उच्च उद्देश्य से गिर जाते हैं और समाज के दण्ड-पात्र होते हैं।

तो स्वतंत्रता-प्रेमी के सामने सबसे पहले दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—सरकारी अधिकारी बने या लोक-सेवक बने? जहां सरकार सुव्यवस्थित है—लोक-हित के लिए लोक-प्रतिनिधियों द्वारा संचालित होती है वहां तो सरकारी अधिकारी बनना उतने ही गौरव की बात है जितनी लोक-सेवक बनना; परन्तु जहां राज-संस्था ऐसे लोगों ने हथिया ली हो जो अपनी स्वार्थ-साधना के लिए उसका उपयोग कर रहे हों, न लोक-हित की परवा है, न लोक-मत की पूछ; वहां सरकारी अधिकारी बनना लोक-द्रोह करना है। वहां तो लोक-सेवक बनना ही प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है। सरकारी नौकरियों के लिए—भिन्न-भिन्न उच्च पदों के लिए

परीक्षाएं नियत होती हैं। पहले उन्हें पास करके अपनी रुचि और योग्यता के अनुकूल काम ग्रहण करना चाहिए और उसे ईमानदारी के साथ समाज-हित का पूरा ध्यान रखते हुए, अपने को समाज का एक तुच्छ सेवक समझते हुए करना चाहिए। एक ओर से कठिन आपदाओं का भय और दूसरी ओर से अनेक प्रलोभनों की मोहिनी के रहते हुए भी अपने कर्तव्य-पालन से न चूकना चाहिए। इन दोनों विपत्तियों से सदा सावधान रहना चाहिए। द्रव्य, स्त्री और नशा ये तीन चीजें ऐसी हैं जिन्हें स्वार्थी लोग दूसरे को कर्तव्य-भ्रष्ट करने के लिए इस्तेमाल करते हैं। जो इनसे बचता रहेगा वही सफल और विजयी होगा। शिक्षा और न्याय-विभागों के द्वारा समाज की शारीरिक सुख-सुविधाओं की पूर्ति होती है, किन्तु इन दो विभागों के द्वारा उनकी मानसिक, बौद्धिक और नैतिक प्रगति की जाती है। फिर भी चुनाव तो व्यक्ति को अपनी रुचि और योग्यता को देखकर ही करना चाहिए।

लोक-सेवक के बारे में अगले प्रकरण में विस्तार से विचार करना ठीक होगा।

२ : नेता और उसके गुण

लोक-सेवक के तीन विभाग किये जा सकते हैं—(१) नेता, (२) संयोजक और (३) कार्यकर्ता या स्वयं-सेवक। नेता का काम है—लोगों का ध्यान लक्ष्य की ओर जमाये रखना, लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए आवश्यक बल और उत्साह की प्रेरणा करना, स्वयं उनके आगे रहकर लक्ष्य-सिद्धि के लिए उद्योग करना, लड़ना और उन्हें सफलता की ओर ले जाना। संयोजक का काम है नेता के बताये कार्यक्रम के अनुसार ग्राम, जिला या प्रान्त में संगठन करना, प्रचार करना और लोगों को एक सूत्र में बांधना एवं लक्ष्य-सिद्धि के लिए सामूहिक बल एकत्र करना। स्वयं-सेवक का काम है संयोजक की हर प्रकार से सहायता करना। नेता ही इनमें मुख्य होता है, इसलिए उसकी योग्यता का हम अच्छी तरह विचार कर लें। नेता में इतने नैतिक, बौद्धिक, शारीरिक और व्यावहारिक गुण आवश्यक हैं।

नैतिक गुण—सत्यशीलता, न्यायपरायणता, प्रेममयता, साहस, निर्भयता, उत्साह, सहनशीलता, उदारता, गम्भीरता, स्थिर और शान्त-चित्तता, आशावादिता, निःशंकता, निर्व्यसनता।

बौद्धिक गुण—दूरदर्शिता, प्रसंगावधान, समयसूचकता, शीघ्र-निर्णयता, विवेकशीलता, आज्ञादायित्व ।

शारीरिक गुण—नियम-निष्ठा, कष्ट-सहिष्णुता, आरोग्यता, फुरतीलापन ।

व्यावहारिक गुण—मिलनसारी, साधन-प्रचुरता, भाईचारापन, कुशलता, सभा-चातुरी, हरदिल-अजीजी ।

नेता अपने युग की आत्मा समझा जाता है—इसलिए न केवल अपने समाज की तमाम अच्छाइयों का प्रतिबिम्ब उसमें होना चाहिए, बल्कि उसके कष्ट और पीड़ा का भी वह दर्पण होना चाहिए एवं उसके अभावों की आशा ज्योति उसमें जगमगानी चाहिए । वह प्रायः हर गुण में अपने अनुयायियों से आगे रहता है । सत्यशीलता उसका सबसे बड़ा गुण है । वह सत्य को शोधेगा, सत्य को ग्रहण करेगा, सत्य पर दृढ़ रहेगा, सत्य का विस्तार करेगा, सत्य के लिए जीयेगा, सत्य के लिए मरेगा । व्यवहार में हम जिसे न्याय कहते हैं, वह सत्य का एक नाम है । दो आदमी लड़ते हुए आये, उसमें किसकी बात सच है, कौन सच्चा है और कौन झूठ बोलता है,इसी निर्णय का नाम है न्याय । न्याय का नाम है सत्य-निर्णय । जो न्यायी है उसे सत्य का अनुयायी होना ही पड़ेगा । वह नेता कैसे जन-समाज के आदर को प्राप्त कर सकता है यदि वह न्यायी और सत्य-परायण नहीं है । सत्यशीलता के द्वारा वह अपने दावे को मजबूत कर लेता है और शत्रु तथा प्रतिपक्षी तक को उसे मन में मानना ही पड़ता है । इस कारण लोकमत दिन-दिन उसके अनुकूल होता ही चला जाता है । अपने राष्ट्र और समाज की दृष्टि से सत्य किस बात में है, हित किस बात में है इसका निर्णय उतना कठिन नहीं है जितना इस बात का निर्णय कि प्रतिपक्षी या शत्रु, या कोई तटस्थ व्यक्ति जिससे हमारा मुकाबला है, या साबका पड़ा है वह किस हद तक सत्य और न्याय से प्रेरित हो रहा है; उसके व्यवहार में कौन-सी बात शुद्ध भाव से की जा रही है और कौन-सी अशुद्ध भाव से । क्योंकि यदि किसी नेता ने इसकी परवा न की और उसके प्रत्येक व्यवहार को असत्य और दुर्भाव-पूर्ण ही वह मानता चला जायगा तो वह असत्य और अन्याय के पथ पर चल पड़ेगा, जिसका फल यह होगा कि एक तो उसके पक्ष में ही सत्य और न्याय पर चलनेवाले लोग उससे उदासीन हो जायंगे और दूसरे विपक्षी दल के भी उससे सहानुभूति रखनेवाले लोग विरक्त-

हो जायंगे। स्वयं शत्रु भी, जो मन में उसकी सच्चाई को मान रहा होगा और इसलिए उसे आदर की दृष्टि से देख रहा होगा, उसके दिल से दूर हट जायगा। जो तटस्थ होंगे उनकी सहानुभूति शत्रु की ओर होने लगेगी। इस प्रकार क्रम-क्रम से उसका बल कम होता जायगा और फिर केवल पशु-बल ही भले उसका साथ दे सके। सो नेता को सबसे अधिक सावधानी इस बात की रखनी चाहिए कि विपक्षी के प्रति अन्याय न हो; परन्तु यदि इतनी उदारता से काम लिया जाय तो संभव है, शत्रु हमारी सज्जनता से लाभ उठाकर हमको चकमा देता रहे—हम तो रहें अपनी सज्जनता में और वह दिन-दिन प्रबल होता रहे। सो सज्जनता का अर्थ 'अन्धता' नहीं है। सत्य और न्याय अन्धा नहीं होता। हां, उसके पास पक्षपात नहीं होता। यही उसकी विशेषता और सबसे बड़ा गुण है। इसी के कारण सबके हृदय पर इनका राज्य है। और इस आशंका से बचने के लिए सरल उपाय यह है कि आप प्रत्येक मनुष्य के व्यवहार को अच्छी और बुरी दोनों दृष्टियों से देखने की आदत डाल लें। भले ही पहले आप उसके व्यवहार को बुरे भाव में ग्रहण कर लें। यह सोचिए कि इस बुरे उद्देश्य का मुझ पर बुरे-से-बुरा क्या परिणाम हो सकता है? आवश्यकता पड़ने पर यहां तक कल्पना कर लीजिये कि इससे आप और आपका सारा काम चौपट हो जायगा। अब इस दुष्परिणाम के लिए अपने मन को, अपने साथियों को तैयार कर रखिए। यह भी सोच लीजिए कि यदि हार ही होगई, यदि असफलता ही मिली, यदि अन्त तक दुःख और क्लेश में ही जीवन बीता तो परवा नहीं—दुनिया में हमेशा ही सबको सफलता और विजय नहीं मिला करती। इससे दो लाभ होंगे—एक तो आप सतर्क हो जायंगे और दूसरे विफलता मिलने पर हताश न होंगे। अब यह सोचिए कि इससे बचने का क्या उपाय है? कितनी तैयारी की जरूरत है? कहां-कहां मजबूती रखना जरूरी है? कहां कैसी पेशबन्दी करनी चाहिए? जैसी जरूरत दीखे वैसा प्रबन्ध कर लीजिए।

इसके बाद यह विचार कीजिए कि ऐसे दुर्भाव की कल्पना करके हम उसके साथ अन्याय तो नहीं कर रहे हैं? तब यह कल्पना कीजिए कि उसने यह शुभ-भाव से किया होगा। अब अन्दाज़ लगाइए कि क्या शुभ-भाव हो सकता है? शत्रु, उदासीन और मित्र की स्थिति का विचार करके आप भिन्न-भिन्न निर्णयों पर पहुँचेंगे। यदि व्यवहार शत्रु का है तो

शुभ भाव की आशा कम रखिए; यदि तटस्थ पुरुष का है तो उससे अधिक और मित्र का हो तो उससे भी अधिक रखनी चाहिए। हर दशा में, बुरे परिणाम की पूरी तैयारी करके, शुभ भाव की ओर झुकता हुआ निर्णय करना अच्छा है। यदि व्यवहार परोक्ष में हुआ है तो बिलकुल शुद्ध निर्णय कठिन है, इसलिए संशय का लाभ दूसरे को देना सज्जनता और वीरता दोनों हैं। हां, विपरीत परिणाम की अवस्था में अपनी तैयारी पूरी रखनी चाहिए—इसमें ग़फ़लत न रहे। ऐसा करने से आपकी सत्य-शीलता और न्याय-परायणता को किसी प्रकार आघात न पहुंचेगा—इतना ही नहीं; बल्कि उनकी वृद्धि होगी और वृद्धि के साथ-ही-साथ नेता को उनका वर्धमान लाभ भी मिलेगा।

नेता का हृदय प्रेम-परिपूर्ण होने की आवश्यकता इसलिए है कि वह मनुष्य है। मनुष्य प्रेम का पुतला है। वह नेता है इसलिए उसमें प्रेम भी उतना ही अधिक होना चाहिए। प्रेम के जादू से ही अनुयायी उसकी ओर खिंचते हैं—बरबस खिंचते चले आते हैं। सत्य अन्त.करण का बल है तो प्रेम हृदय का बल है। सत्य और न्याय हमें कायल कर देता है कि हम उसका साथ दें। परन्तु प्रेम हमें दौड़ कर उसके पास ले जाता है और खुशी-खुशी बलिवेदी पर स्वाहा करवा देता है। प्रेम के ही कारण नेता समाज के दुःख को अनुभव करता है और उसे मिटाने के लिए व्याकुल रहता है। नेता का प्रेम व्यक्ति, कुटुम्ब में सीमित नहीं होता। राष्ट्र और समस्त विश्व में व्याप्त होता है। इस कारण उसके प्रेम का प्रभाव तटस्थ और शत्रु पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता। वास्तव में उसकी शत्रुता किसी से नहीं होती। वह तो बहुतों के दुःखों को दूर करने के लिए, बहुतों को सुधारने के लिए, कुछ लोगों को कष्ट पहुंचने देता है—उसके बस में हो तो वह इतना भी कष्ट न पहुँचने दे। परन्तु एक तो खुद ही वह अपूर्ण है और दूसरे, सारी प्रकृति पर उसकी सत्ता नहीं चलती है। बिना इस प्रेम के नेता एक मशीन का पुतला है जिससे किसी को जीवन, उत्साह और स्फूर्ति नहीं मिलती।

यदि नेता में साहस और निर्भयता न हो तो वह खतरे के मौके पर पीछे हट जायगा और बलवान शत्रु हो तो दब जायगा। खतरे के मौके पर नेता को सदा आगे रहने का साहस होना चाहिए। जनता को भी उसे विकट परिस्थितियों में साहस दिखाने और प्राण तथा शरीर का जहां भय हो वहां बे-खटके आगे कदम बढ़ाने के लिए प्रेरित करना

चाहिए। उसे सदा यह ध्यान में रखकर चलना चाहिए कि मैं कोई काम किसी से दबकर, किसी खतरे से डरकर तो नहीं कर रहा हूँ और यदि कहीं ऐसा प्रतीत हो तो फौरन अपने को संभालना चाहिए।

उत्साह नेता का जीवन है। उसका शरीर और मन ऐसा होना चाहिए जो थकावट को न जानता हो। उत्साह आत्म-विश्वास से उत्पन्न होता है। आत्म-विश्वास अपने कार्य की सत्यता से आता है। जब उत्साह-भंग होने का अवसर आवे तो उसे सोचना चाहिए कि मेरा कार्य गलत तो नहीं है। यदि मूलतः कार्य सही है तो फिर अनुत्साह या तो उसकी मानसिक दुर्बलता है या किसी शारीरिक रोग का परिणाम है। उसे चिन्ता रखकर इसका उपाय करना चाहिए। उत्साह उस गुण का नाम है जो मनुष्य को सदा सक्रिय और तेज-तर्रार बनाये रखता है। वह जिसकी ओर देखता है उसमे जीवन आने लगता है। वह सोते हुओं को जगा देता है, जागे हुओं को खड़ा कर देता है और खड़े हुओं को दौड़ा देता है। उत्साह के ही कारण नेता उम्र में बूढ़ा होने पर भी जवान मालूम होता है।

दुर्दमनीयता वह गुण है जो बाधाओं और कठिनाइयों को चीरकर अपना रास्ता निकाल लेता है। दुर्दमनीय यह नहीं कहता कि क्या करूँ, परिस्थिति ही ऐसी थी। उचित और सत्य बात पर वह परमेश्वर से भी दबना न चाहेगा। परन्तु यदि वह गलत बात पर अड़ जायगा तो उसकी अदम्यता अधिक दिनों तक न चलेगी। आवेश, आवेग, क्रोध, उन्माद या मिथ्याभिमान ठंडा होने पर अपने-आप उसका दिल बैठने लगेगा। उसका तेज कम पड़ने लगेगा।

प्रतिज्ञा-पालन के बिना वह अपने साथियों और अनुयायियों का विश्वास-पात्र न रहेगा और इस विश्वास-पात्रता के बिना उसका नेतापन एक दिन नहीं टिक सकता। प्रतिज्ञा करने के पहले वह सौ दफा विचार कर ले, पर कर चुकने पर उसे हर तरह निभावे। यदि कोई ऐसा ही विशेष कारण आपड़ा हो तो वह इतना सबल होना चाहिए कि साथियों और अनुयायियों को भी जँच सके। यदि कोई व्यक्तिगत कष्ट या असुविधा उसके मूल में हो तो यह बहुत कमजोर कारण समझा जायगा।

निश्चलता, दृढ़ता और धीरज कठिनाइयों, संकटों के समय में महौषधि का काम देते हैं। तूफान के समय में लंगर जो सेवा जहाज और यात्रियों की करता है वही ये गुण विपत्ति और खतरे के समय करते

हैं। चंचल मनुष्य यों भी विश्वास और आदर-पात्र नहीं हो सकता। एक काम को पकड़ लिया तो फिर उसे जबरदस्त कारण हुए बिना न छोड़ने का नाम है दृढ़ता। काम की शुरूआत करने के पहले खूब सोच लो शुरू करने के बाद उसी अवस्था में उसे बदलो या छोड़ो, जब यह विश्वास हो जाय कि अरे, यह तो अच्छाई के भरोसे बुराई कर बैठे, पुण्य के खयाल से पाप-कार्य में लिप्त हो गये। कठिनाइयों में न घबराने का नाम धीरज है। फल जल्दी न निकलता हो तो शान्ति रखने और ठहरने का नाम धीरज है। कठिनाइयां तब तक आती ही रहेंगी जब तक कुछ लोग तुम्हारे विरोधी होंगे, फिर प्राकृतिक विघ्न भी तो आते रहते हैं। दोनों दशाओं में घबराने की क्या जरूरत है? यदि विघ्न मनुष्य-कृत हैं तो उनका मूल और उपाय कठिन नहीं है। यदि प्राकृतिक हैं और हमारे बस के बाहर हैं तो फिर घबराने से क्या होगा? बस की बात हो तो उसका उपाय करो—घबराकर बैठ जाना तो पशु से नीचे गिर जाना है। फल तो किसी कार्य का समय पाकर ही निकलता है। जितनी ही हमारी लगन तेज होगी, जितने ही अधिक हमारे साथी और सहायक होंगे, जितने ही कम हमारे विरोधी होंगे, जितनी ही अधिक हमारी तपस्या होगी, जितने ही अधिक अनुकूल अन्य उपकरण होंगे, उतनी ही जल्दी सफलता मिलेगी। सो यदि फल वांछित समय तक न निकलता हो तो पूर्वोक्त बातों में से ही एक या अधिक बातों की कमी उसका कारण होगी। वह हमें शोधना चाहिए और यह विश्वास रखना चाहिए कि कार्य का फल अवश्य मिलता है।

सहनशीलता, विपक्षियों को निःशस्त्र करने में और अपने बड़प्पन का प्रमाण जगत् को देने के लिए बहुत आवश्यक है। जब कोई हम पर वार करता है या हमें कष्ट पहुँचाता है तब हम यदि बदले में उस पर वार नहीं करते हैं या उसे कष्ट नहीं पहुँचाते हैं, उस कष्ट या वार को शान्ति से पी जाते हैं तो उसे सहनशीलता कहते हैं; परन्तु यदि हमने डरकर या दबकर ऐसा किया तो वह सहनशीलता नहीं, दब्बूपन है। सहनशीलता तभी कही जायगी जब उसे कष्ट पहुँचाने या प्रहार करने का सामर्थ्य या साधन हमारे पास हो और फिर हम सहन कर जायं। किसी के अपराध को सहन करने के बाद भूल जाना क्षमा कहलाती है और जब हम उसके साथ पूर्ववत् ही सज्जनता का व्यवहार करते हैं तब वह उदारता हो जाती है। सहनशीलता और उदारता की जितनी

आवश्यकता अपने लोगों के लिए है उससे अधिक तटस्थों या विपक्षियों के लिए है; क्योंकि अपनों की ओर तो इन गुणों का प्रवाह सहज ही होता है; परन्तु जब दूसरों की ओर हो तब उनकी विशेषता और मूल्य बढ़ जाता है। लोग जितना ही अधिक यह अनुभव करेंगे कि तुम अपने प्रतिपक्षी से अधिक न्यायी, अधिक शान्तिमय, अधिक नीतिमान्, अधिक सभ्य, अधिक सज्जन हो, उतना ही तुम्हारा पक्ष अधिक प्रबल होगा, उतनी ही तुम्हारी अधिक सहायता वे करेंगे और यह सहनशीलता और उदारता के ही बल पर हो सकता है।

गम्भीरता एवं स्थिर और शान्त-चित्तता से नेता का ठोसपन और मानसिक समतोलता सूचित होती है। गम्भीरता का मतलब कपटाचरण नहीं है; बल्कि किसी की बात को पेट में रखने, उसके सब पहलुओं पर धीरज के साथ विचार करने की शक्ति है। यदि आपके साथियों और अनुयायियों को यह शंका रहती है कि आपके मन में बात समाती नहीं है, आप चटपट हो बिना आगा-पीछा सोचे और गहरा विचार किये ही कुछ कह डालते और कर डालते हैं तो आपके निर्णयों पर उनकी श्रद्धा नहीं बैठेगी और आपकी बातों को वे शंका की दृष्टि से देखते और दुविधा में पड़ते रहेंगे।

आशावादिता और निःशंकता अन्तःकरण की स्वच्छता का चिह्न है। जिसका हृदय मलिन नहीं है, उसे अपने कार्य की सफलता पर अवश्य ही श्रद्धा रहेगी और दूसरों की ओर से उसे सहसा खटका न रहेगा। जिसका चित्त शुद्ध है, वह दूसरों की सत्प्रवृत्तियों को ही अधिक देखता है और इसलिए आशावान् तथा निःशंक रहता है। जिसे दूसरों की दुष्प्रवृत्तियां अधिक दिखाई देती हैं वह निराशावादी क्यों न होगा? परन्तु दूसरे के दोषों को देखनेवाला नायक नहीं बन सकता। जो खुद ही आशा-निराशा से पद-पद पर चलित होता रहता है उससे दूसरे आशा का सन्देश कैसे पा सकते हैं?

व्यसनों में फँसना इन्द्रियों के अधीन होना है। जो इन्द्रियों का गुलाम है, समझ लीजिए, उसे दूसरों से अपने साथियों या अनुयायियों से एवं विरोधियों से भी कहीं-न-कहीं अनुचित रूप से दब जाना पड़ेगा और विरोधी तो उसके इस ऐब से जरूर बहुत फायदा उठा सकता है एवं उसे पछाड़ सकता है।

ये तो हुए नेता के आवश्यक नैतिक गुण। बौद्धिक गुणों में दूर-

दर्शिता इसलिए आवश्यक है कि वह अपने साथियों और अनुयायियों को दूर के खतरों से बचाता और सावधान करता रहे। प्रसंगावधान इसलिए उपयोगी है कि कठिन समय पर, विषम परिस्थिति में, ठीक निर्णय कर सके। शीघ्रनिर्णयता के अभाव में 'समय निकल जाने पर' पछताना पड़ता है। जो निर्णय करने में मन्द तथा आलसी है उसका प्रभाव अपने तेज-तर्रार सैनिकों पर नहीं पड़ सकता और उसे खुद भी सदा आनन्द और उत्साह की प्रेरणाएँ नहीं होतीं। बल्कि यों कहना चाहिए कि हृदय के सर्वदा सजीव और जाग्रत तथा उत्साह-युक्त रहने से ही शीघ्र निर्णय-शक्ति मनुष्य में आती है। जो सदा प्रसन्न और जागरूक रहता है उसकी बुद्धि खांडे की धार की तरह दोनों तरफ के तर्कों और विचारों को काटती हुई खट् से निर्णय कर देती है। विवेकशीलता के मानी हैं सदा सार और असार का, लाभ और हानि का, कर्तव्य और अकर्तव्य का, औचित्य और अनौचित्य का विचार करते रहना, अपनी मर्यादाओं एवं देश, काल, पात्र का विचार रखना। जो इतना विवेकी और विचारशील नहीं है, वह पद-पद पर संकटों, निराशाओं और असफलताओं से घिरा रहता है। शीघ्र निर्णय तो हो, पर हो वह विवेकपूर्वक। विवेक की मात्रा जितनी अधिक होगी, निर्णय भी उतना ही शीघ्र और शुद्ध होगा। आज्ञादायित्व के बिना तो नेता का काम एक मिनट नहीं चल सकता। उसे दूसरों से काम कराना पड़ता है और सो भी बहुतांश में आज्ञा देकर ही। इसमें वही सफल हो सकता है जो आज्ञा-पालन के महत्त्व को जानता हो, जो स्वयं स्वेच्छा से दूसरों की आज्ञा में रह चुका हो। यदि हमने कोई आज्ञा दी और पालन करनेवाले के सिर पर वह एक बोझ बनकर बैठ गई तो उसमें न लाभ है, न लुत्फ। नेता की आज्ञा और अनुयायी की इच्छा, दोनों घुल-मिल जानी चाहिए। अनुयायी की भाषा में वह आज्ञा भले ही हो, नेता के स्वभाव में वह प्रेम का सन्देश हो जाना चाहिए। अनुयायी की स्थिति, शक्ति, योग्यता का सतत विचार करते रहने से ही ऐसी मानसिक स्निग्धता आ जाती है कि नेता का इंगित, तृषित अनुयायी के लिए, पानी की बूंद हो जाता है। ऐसे स्नेह-मय सम्बन्ध के बिना आज्ञा-दायित्व 'फौजी कानून' का दूसरा नाम हो जाता है और केवल पेट-पालू ही, यन्त्र की तरह, उसका किसी तरह पालन कर देते हैं। नेतृत्व की सफलता के लिए यह स्थिति बिलकुल हानिकर है।

शारीरिक और व्यावहारिक गुणों के लाभ स्पष्ट हैं। ये बौद्धिक और

नैतिक गुणों से उत्पन्न होने या बननेवाली प्रवृत्तियां अथवा आचार हैं। नियमनिष्ठा सत्यशीलता का एक उप-गुण है और सुव्यवस्थित रहने और रखने के लिए बहुत उपयोगी है। प्रकृति में नियम और व्यवस्था है। नियमित जीवन से सुव्यवस्थितता आती है। बाहरी अव्यवस्था जरूर ही किसी अन्दरी बिगाड़ की सूचक है। ऐसे लोग भी पाये जाते हैं जो अन्दर से बिलकुल अच्छे किन्तु बाहरी बातों में उदासीन होते हैं। लेकिन उनमें और अनियमित या अव्यवस्थित आदमी में भेद होता है। उनकी उदासीनता बाह्य बातो से विरक्ति का फल है। वह उनके जीवन में हर जगह दिखाई देगी। परन्तु अव्यवस्थितता और अनियमितता मानसिक दुर्बलता का चिह्न है और दोष है। कष्ट-सहिष्णुता साहस का परिणाम है। जिसके शरीर को कष्ट उठाने का अभ्यास नहीं है वह साहस से जी चुराने लगेगा और अन्त को कायर बन जायगा। आरोग्यता-फुरतीलापन नियम-पूर्ण जीवन से आता है और शरीर को कार्यक्षम बनाये रखने के लिए अनिवार्य है। बीमार और सुस्त नेता अपने साथियों और अनुयायियों के सिर पर एक बोझ हो जाता है। मिलनसारी और हरदिल-अजीजी प्रेममय जीवन और सहनशीलता से बननेवाला स्वभाव है। जिसने अपने हृदय को मधुर बना लिया है, उसकी तमाम कटुता, तीखापन और मलिनता निकाल दी है वह मिलनसार, और जिसने दूसरों के लिए अपनी घिसाई-पिसाई को जीवन का धर्म बना लिया है वह हरदिलअजीज क्यों न होगा? इनके बिना दूसरों के हृदय को जीतने का अवसर नेता को नहीं मिल सकता। भाईचारापन मिलनसारी और कौटुम्बिकता का दूसरा नाम है। भ्रातृ-भाव में समान और स्नेहपूर्ण व्यवहार तथा कौटुम्बिकता में समान-स्वार्थ की भावना है। यह नेता की विशाल-हृदयता का सूचक है। इस भावना के कारण नेता किसी-को अपना शत्रु नहीं समझ सकता और वह अजेय हो जाता है। कुशलता सत्य और अहिंसा के सम्मिश्रण से पैदा होती है। तेज के साथ जब हृदय की मिठास मिलती है तो जीवन में कुशलता अपने-आप आने लगती है। कोरा सत्य-व्यवहार उद्दण्डता में परिणत हो सकता है। अहिंसा की मिठास उसको मर्यादा में रखती और रुचिकर बना देती है। प्रसंग को देखकर बरतने, निश्चित प्रभाव डालने और इच्छित परिणाम निकालने के यत्न का नाम कौशल है। यह चित्त की समता से प्राप्त होता है। सभा-चातुरी कुशलता का ही एक अंग है। जिसे

समाज के शिष्टाचारों का ज्ञान नहीं है, जिसे मानसिक जगत् के व्यापारों से परिचय नहीं है, वह सभा-चतुर नहीं हो सकता। और जिसे समाज की भिन्न भिन्न मनोवृत्तियों, रुचियों और विचारों के लोगों से काम लेना है, सामूहिक रूप में काम करना और कराना है, उसमें सभा-चातुरी का गुण बहुत आवश्यक है।

३ : नेता के साधन

संयोजक और कार्यकर्ता या स्वयंसेवक तो नेता के साथी हुए, उसके गुण उसकी मूल सम्पत्ति हुई। उसका व्यावहारिक ज्ञान, धन और समाचार-पत्र उसकी सफलता के जबरदस्त साधन हैं। जनता को ज्ञान-दान करने के लिए उसे विद्वत्ता की और उत्थान-सामग्री देने के लिए भावुकता की आवश्यकता है। उसमें मौलिकता भी होनी चाहिए। हम मानते हैं, 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'—अर्थात् यह जगत् सत्यमय है, ज्ञान-मय है, ब्रह्ममय है। ऐसी दशा में इस ज्ञान से बढ़कर मौलिकता और क्या होगी? पर सत्य, ज्ञान, ब्रह्म, या आत्मा के समस्त स्वरूपों को, अंगों को, सम्पूर्ण प्रकाश को समय की आवश्यकता के अनुसार समाज के सामने रखने में अवश्य मौलिकता आती है। महात्मा गांधी का ही उदाहरण लीजिए। अहिंसा का सिद्धांत आर्य-जीवन में कोई नई बात नहीं है, किन्तु उन्होंने उसे सर्वसाधारण राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में प्रविष्ट करके एक नई ज्योति संसार को दी है।

पर यह मौलिकता केवल अध्ययन से नहीं आ सकती। मनन उसका मुख्य आधार है। अध्ययन मनन के लिए किया जाता है। अध्ययन से ज्ञान में व्यापकता आती है—किन्तु मनन ज्ञान में व्यक्तित्व लाता है। अध्ययन और मनन की पूर्णता की कसौटी यह है कि उस विषय में हम बिना किसी से पूछे स्वयं निश्चित राय और निर्णय दे सकें और बिना किसी ग्रन्थ या गुरु के वचनों के प्रमाण के स्वतः अपने बल पर अपने मत को प्रतिपादित और सिद्ध कर सकें। इतनी पूर्णता के बाद ही ज्ञान में नवीनता या मौलिकता आ सकती है।

अपनी मानसिक अवस्था से जगत् की मानसिक अवस्था की सतत तुलना करते रहने से ही व्यावहारिक ज्ञान आता है। अपना और जगत् का—समाज का—समन्वय ही व्यावहारिकता है। नेता को इतनी बातों का व्यावहारिक ज्ञान अवश्य होना चाहिए—

(१) समाज को कहां ले जाना है ?

(२) समाज की वर्तमान दशा क्या है ?

(३) कौन-कौन-से पुरुष या संस्था समाज को प्रभावित कर रहे हैं ?

(४) उनसे मेरा सम्बन्ध या उनके प्रति मेरा रुख क्या होना चाहिए ?

(५) कौन लोग मेरे विचार या कार्यक्रम के विरुद्ध हैं ?

(६) उन्हें मैं अपने अनुकूल किस तरह बना सकता हूं ?

(७) जो अनुकूल हैं उनसे किस-किस प्रकार से सहायता ली जाय ?

(८) सर्व-साधारण शिक्षा और संस्कार की किस सतह पर हैं ?

(९) समाज के सूत्र जिनके हाथों में हैं उनका समाज पर कितना और कैसा प्रभाव है ?

(१०) मेरे प्रति या मेरे विचारों के प्रति उनके क्या भाव हैं ?

(११) किस हद तक उनका विरोध करना होगा ?

(१२) विरोध में जनता कहां तक सहायक होगी ?

(१३) जनता को विरोध के लिए कैसे तैयार किया जाय ?

(१४) वे कौन-सी बातें है जिनसे जनता को कष्ट है और जिनके कारण जनता उनसे दुखी या अप्रसन्न है ?

(१५) विरोधी प्रबल हुए तो संकट-काल में क्या-क्या करना उचित है ?

(१६) उस समय जनता क्या करे ?

(१७) दूसरे समाज या देश के कौन लोग या संस्थाएँ मेरे उद्देश्य से सहानुभूति रखती हैं ?

(१८) उनका मेरे समाज या राज्य से क्या और कैसा सम्बन्ध है ?

(१९) मेरे उद्देश्य या कार्यक्रम के पोषक पूर्ववर्ती ग्रन्थ, व्यक्ति कौन-कौन हैं और युक्तियां क्या-क्या हैं ?

(२०) समाज में प्रचलित धर्म, संस्कृति, परंपरा और रूढ़ियां क्या-क्या हैं, लोगों की मनोभावनाएँ कैसी हैं—वे भावुक है, ठोस हैं, बहादुर हैं, पोच हैं ? उनके त्योहार और मान्यताएँ क्या-क्या हैं ?

(२१) उनके दोष और दुर्व्यसन क्या-क्या हैं ? आदि, आदि।

धन भी नेता का एक साधन जरूर है, पर मानसिक और नैतिक साधन-सम्पत्ति तथा विश्वासी साथियों के मुकाबले में यह बहुत गौण

है। फिर भी उसके ऐसे धनी मित्र जरूर हों, जो समय-समय पर उसके अर्थभार को घटाते रहें। किन्तु उसके धन का असली जरिया तो जनता का हृदय ही होना चाहिए। अधिकारियों में भी उससे मित्रता और सहानुभूति रखनेवाले कई लोग होने चाहिएं। ये उसके चरित्र की उच्चता से ही मिल सकते हैं। चरित्र में मुख्यतः तीन बातें आती हैं (१) बात की सफाई, (२) गांठ की (धन की) सचाई और (३) लंगोट की सचाई।

उद्देश्य तो नेता का महान् और जन-हितकारी होता ही है। स्वभाव भी उसका मधुर और प्रकृति मिलनसार होनी चाहिए। सच्चाई, अच्छाई और गुण के प्रति प्रीति और अत्याचार, अन्याय, झुठाई, बुराई के प्रति मन में तिरस्कार और प्रतिकार का भाव होना चाहिए। पहला गुण उसे भले आदमियों का मित्र बनावेगा और दूसरा बुरों को मर्यादित तथा हतबल। संकट का अवसर हो तो पहले सबसे आगे होने की और यश तथा पुरस्कार का प्रसंग हो तो पीछे रहने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। आत्म-विज्ञापन उतना ही होने दे, जितना कि उद्देश-सिद्धि के लिए आवश्यक है। सदा अपने हृदय पर चौकी बिठा रक्खे कि अपनी निजी प्रशंसा या बड़ाई का भाव तो आत्म-विज्ञापन की प्रेरणा नहीं कर रहा है।

४ : पत्र-व्यवसाय

समाचार-पत्र यों तो साहित्य-जीवन का एक अंग है। साहित्य का जीवन में वही स्थान और काम है जो मनुष्य-शरीर में दिल और दिमाग का होता है। साहित्य न केवल ज्ञान-सामग्री ही समाज को देता है, बल्कि हृदय-बल भी देता है। मनुष्य के मन में एक बात पैदा होती है वह उसे लिखकर या कहकर प्रकट करता है। उसका भाव या विचार अक्षर-बद्ध कर लिया जाता है, यही साहित्य है। संसार में जो कुछ वाङ्मय = वाक्‌मय—है वह सब साहित्य है। इसमें आध्यात्मिक ज्ञान देने वाले वेद, दर्शन, उपनिषद् भी हैं; भौतिक और लौकिक ज्ञान देने-वाले विज्ञान तथा आचार-शास्त्र भी हैं और हृदय को उत्साहित, आनंदित रमणीय एवं बलिष्ठ बनाने वाले काव्य-नाटकादि भी हैं। इस तरह सार्वजनिक जीवन के बहुत बड़े आधार सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ भी साहित्य के ही अन्तर्गत हैं। साहित्य के बिना जीवन यदि असंभव नहीं

तो संस्कारहीन और निर्जीव होकर रहेगा। यदि साहित्य न हो तो मानव-शिक्षा और सुधार कठिन होजाय। साहित्य जीवन का केवल पथ प्रदर्शक और उत्साही साथी ही नहीं, बल्कि उसकी आंखें भी है। साहित्य समाज का प्रतिबिंब भी होता है। जो कुछ हमारे जीवन और समाज में होता है उसे हम साहित्य के द्वारा ही देख सकते हैं। प्राचीन जीवन को हम इतिहास-साहित्य के द्वारा देखते और लाभ उठाते हैं एवं वर्तमान जीवन को सामयिक पत्रों के द्वारा बनाते हैं।

इस कारण पत्र-व्यवसाय भी नेता के कार्य का एक बृहत् अंग हो गया है। आधुनिक जगत् में समाचार-पत्र एक महती शक्ति है। वह जन-समुदाय की बलवती वाणी है। अपने विचारों, भावों को जन-समुदाय तक पहुँचाने के वाहन हैं। लोकमत को जाग्रत करने के साधन हैं। जन-शक्ति के प्रतिकार-अस्त्र हैं। इनका उपयोग, प्रयोग या व्यवहार करना साधारण बात नहीं है। जो चीज जितनी ही प्रभावशालिनी होगी उसका उपयोग उतना ही जिम्मेवारी और सोच-समझ के साथ करना होगा। यदि किसी बात का असर सैकड़ों लोगों पर पड़नेवाला हो तो उसका उपयोग करने के पहले पत्रकार को बीस दफा उसके एक-एक अक्षर पर विचार करना होगा। आजकल पत्र-व्यवसाय बहुत मामूली धन्धा बन गया है। जिसे और कोई काम न मिला, उसने झट एक अखबार निकाल लिया—ऐसी कुछ दशा हो रही है। या जरा चटपटा लिखने की कला सध गई, किसी की धूल उड़ाने की जी में आ गई, किसी से झगड़ा हुआ और विरोध करने को तबियत चाही और अखबार निकाल दिया। ऐसी हलकी हालत असल में पत्र-व्यवसाय की न होनी चाहिए। यह स्थिति समाज की समझदारी के प्रति कोई ऊंचा खयाल नहीं बनने दे सकती। वास्तव में पत्र-व्यवसाय उन्हीं लोगों के हाथों में होना चाहिए, जो बहुत दूरदर्शी, प्रभावशाली, अनुभवी, विश्वसनीय, विचारक, आदर्श-चरित और विवेकशील हों।

पत्र-व्यवसाय में संपादक मुख्य है। यह काम या तो नेता स्वयं करता है, या उसका कोई विश्वस्त साथी। पत्र-व्यवसाय दो भागों में बँट जाता है—एक तो दैनिक और साप्ताहिक पत्र, दूसरे मासिक और त्रैमासिक पत्र—या यों कहें कि एक तो समाचार-पत्र और दूसरे विचार-पत्र। दोनों के संपादक भिन्न-भिन्न श्रेणी के होते हैं। पहले प्रकार का संपादक प्रधानतः आन्दोलनकारी होता है और दूसरे प्रकार का विचार-

प्रेरक। सामाजिक पत्रकार समस्याओं को सुलझाता है, दूरवर्ती परिणाम निकालने वाली घटनाओं की विवेचना करता है, विचार-जगत् में काम करता है, तहां समाचार-पत्रकार प्रत्यक्ष या कार्य-जगत् में काम करता है, घटनाओं का संग्रह करता है और उन्हें अपने प्रभाव के साथ जनता तक पहुंचाता है। समाचार-पत्रकार जो सामग्री उपस्थित करता है उसके दूरवर्ती परिणामों और तत्वों की छान-बीन सामयिक पत्रकार करता है। या यों कहें कि सामयिक पत्रकार जिन बीजों को विचार-जगत् में बोता है उन्हें समाचार-पत्रकार कार्य-जगत् में पल्लवित, पुष्पित और फुलित करता है। समाचार-पत्र की दृष्टि आज पर रहती है और सामयिक पत्र की कल पर। एक योद्धा है और दूसरा विचारक। एक क्षत्रिय है, दूसरा ब्राह्मण। एक में शक्ति है, दूसरे में शान्ति। चूंकि दोनों के क्षेत्र और कर्तव्य भिन्न हैं इसलिए दोनों की योजना भी भिन्न-भिन्न होनी चाहिए। एक कर्म-प्रधान और दूसरा विचार-प्रधान होना चाहिए। दोनों दशाओं में सम्पादक उच्च कोटि का होना चाहिए; क्योंकि हजारों के जीवन के सुख-दुःख की जोखिम उसके हाथ में है। लेखक के गुणों के साथ-साथ सम्पादक में प्रचारक के गुण भी होने चाहिएं। उसमें ऊंचे दर्जे के मानसिक, नैतिक और बौद्धिक गुण होने चाहिएं। नेता में और सम्पादक में इतना ही अन्तर है कि नेता कार्यों में प्रत्यक्ष पड़कर जनता को अपने साथ ले जाता है और सम्पादक केवल पत्र-द्वारा उन्हें प्रेरित और जाग्रत करता है। आजकल की आवश्यकताएं ऐसी हैं कि नेता प्रायः सम्पादक होता है। जिसके पास पत्र नहीं वह सफल नेता नहीं हो सकता। इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी सम्पादकों में नेता की योग्यता होती है; परन्तु नेता में सम्पादक की योग्यता अवश्य होनी चाहिए।

सम्पादक के पास एक अच्छा पुस्तकालय और एक अच्छा विद्वानों और प्रभावशाली लोगों का मित्र-मण्डल होना चाहिए। समाचार लाने-वाले स्थानिक तथा प्रान्तीय कई संवाददाता होने चाहिएं। ये उसकी आंखें हैं। इसलिए ये बहुत ऊँचे हुए आदमी होने चाहिएं। प्रभावशाली सम्पादक के पास अपना निजी प्रेस होना बहुत आवश्यक है। कम-से-कम एक साथी ऐसा जरूर हो जिसके भरोसे वह बाहर जा-आ सके। एक ऐसा विश्वसनीय साथी भी हो जो प्रबन्ध-विभाग की ओर से सम्पादक को निश्चिन्त रखता रहे।

लेखन-शैली स्पष्ट, ओजस्विनी और तीर की तरह सीधी, दिल की

सतह तक पहुंचनेवाली हो। कैसा भी क्षोभ और घबराहट का समय हो उसे शान्त और एकाग्र चित्त से लेख लिखने का अभ्यास होना चाहिए। लेख और टिप्पणी के विषयों को महत्त्व के अनुसार छांटने की त्वरित-शक्ति उसमें होनी चाहिए। थोड़े में उनकी मुख्य-मुख्य बातें अपने साथियों को समझा देने की योग्यता होनी चाहिए। शीघ्र निर्णय का गुण सम्पादक में होना चाहिए। एक सरसरी निगाह में सब कुछ देख लेने का अभ्यास होना चाहिए। संपादक अपने दफ्तर में आंख खोल-कर आता है और अपने कमरे में एक एंजिन की तरह बैठता है।

दफ्तर में दो आदमियों से उसका काम विशेष पड़ता है—व्यवस्था-पक और उपसंपादक। इन दोनों के सुयोग्य होने से संपादक का बोझ बहुत कम हो जाता है। बड़े सौभाग्य से ही ये दो व्यक्ति सम्पादकों को मिला करते हैं। इन्हीं के द्वारा वह सारे दफ्तर और पत्र के तमाम कामों का संचालन करता है।

ताजे अखबार सम्पादक का जीवन है। दफ्तर में आते ही सम्पादक सबसे पहले डाक और ताजे अखबार पर हाथ डालता है। खास-खास लेख, पत्र-सम्पादक खुद अपने हाथों से लिखता है। संपादक रोज चाहे अपने दफ्तर की छोटी-छोटी बातों को न देखे; परन्तु उसे हर छोटी-से-छोटी बात का स्वयं ज्ञान और अनुभव होना चाहिए। छोटी बातों की उपेक्षा तो वह हरगिज न करे। आलस्य और गफलत ये दोनों सम्पादक के शत्रु हैं। वह फुर्तीला हो, पर लापरवाह नहीं; बेगार काटने की आदत बिलकुल न हो। उसे सदैव स्मरण रखना चाहिए कि उसके सारे गुण-दोषों का असर अकेले दफ्तर पर ही नहीं, उसके सारे पाठक-वर्ग पर पड़ता है। इसलिए उसे अपने आचार-विचार के बारे में सदा आग्रक और सदा सावधान रहना चाहिए। वह खुद जैसा होगा वैसा उसका पत्र, उसका दफ्तर और अन्त में उसके पाठक होंगे। इसलिए सम्पादक के लिए यह परमावश्यक है कि वह सदा अपने आदर्शों से अपनी तुलना करता रहे और उस तक पहुँचने का प्रयत्न बड़ी तत्परता से करे। जितना ही वह ऐसा करेगा उतना ही अपने पाठकों—अपने समाज—को उस तरफ ले जा सकेगा। हम निश्चय रक्खें कि हमारी कृति हमसे बढ़कर नहीं हो सकती। हम विश्वास रक्खें कि हमसे बढ़कर योग्य पुरुष सहसा हमारे पास नहीं टिकेगा। इसलिए अपनी योग्यता बढ़ाने की चिन्ता सदैव सम्पादक को रखनी चाहिए। उसका यह-

स्वभाव ही बन जाना चाहिए कि इस नये आदमी के मुकाबले में मुझमें किन-किन बातों की कमी है। अपनी कमी को उसे प्रसंगानुसार स्वीकार भी करते रहना चाहिए। इससे उसमें वृथा अभिमान भी न पैदा होगा और उससे अधिक योग्य साथी उससे सच्चा प्रेम रक्खेंगे। मिथ्याभिमानी पुरुष योग्य साथियों को खो देता है।

सम्पादक रोज अपने दफ्तर के सब कर्मचारियों से चाहे मिले नहीं, पर किसे कोई कष्ट तो नहीं है, किसी के यहां कोई बीमार तो नहीं है, इसकी जानकारी उसे अवश्य रखनी चाहिए और ऐसे अवसरों पर बिना उनके चाहे भी उसकी प्रकुल सहानुभूति उनपर प्रकट होनी चाहिए।

सम्पादक को चाहिए कि जो कुछ लिखे परिश्रम करके, सोच-समझ-कर लिखे। ऊट-पटांग या अनुपयोगी कुछ न लिखे। उसके ज्ञान में यदि मौलिकता न हो तो उसके प्रतिपादन और विवेचन में अवश्य उसके व्यक्तित्व की छाप होनी चाहिए। कुछ-न-कुछ चमत्कार या विलक्षणता होनी चाहिए। किसी की लेखन-शैली या भाषा-प्रणाली का अनुकरण करने की अपेक्षा उसे अपनी विशेषता का परिचय देना चाहिए। वह अपने विषय में गरकाब हो जाय—उसे आत्मसात् कर ले। फिर हृदय में जैसा स्फुरण हो वैसा लिख डाले। उसमें जरूर विशेषता होगी—अपनापन होगा। मन में मन्थन होते-होते एक बात दिल में उठी। जिस जोर के साथ वह पैदा हुई, जिस सचाई के साथ आपके दिल में वह रम रही, जिस गहराई के साथ वह जड़ पकड़े हुए है उसी के साथ आप लिख दीजिए—आपका लेख प्रभावशाली होगा, उसमें ओज होगा, उसमें चमत्कार होगा। यदि चीज पूरे बल के साथ आपके हृदय की तह से निकली है तो वह जरूर दूसरे के दिल पर चोट कर देगी। बस, आप सफल लेखक हुए। जिन-जिन कारणों से आप अपने निष्कर्ष पर पहुँचे हैं उन्हें भी आप लोगों को समझाने के लिए लिख दीजिए—आपका लेख युक्तिसंगत होगा। क्यों, आप उस लेख या पुस्तक को लिखे बिना और समाज में उसे उपस्थित किये बिना रह नहीं सकते—यह आप लोगों को समझाएँ; आपके लेख या पुस्तक को वे चाव से पढ़ेंगे। आपको यह भी सोचना होगा कि भाषा कैसी हो। यदि लेख सर्व-साधारण के लिए है तो भाषा बहुत सरल, सुबोध लिखनी होगी। लेख लिखकर आप अपने घर की स्त्रियों को पढ़ सुनाइए—उनकी समझ में आ जाय तो अपनी भाषा को सरल समझ लीजिए। एक-एक बात खोलकर समझानी होगी।

ठेठ तह तक पाठक को पहुंचा देना होगा। यह आप तभी कर सकेंगे जब आप खुद उस चीज को अच्छी तरह समझे हुए होंगे। छोटे-छोटे वाक्य और बोल-चाल के शब्द होंगे। क्लिष्ट शब्दों और लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रयोग एवं उलझी हुई भाषा लिखना आसान है। सरल शब्द, छोटे वाक्य और सुलझी हुई स्पष्ट भाषा लिखना बहुत कठिन है। भाषा में यह गुण चिन्तन-मनन से आता है। जब कोई चीज हमारी आंखों के सामने हो तो उसका सीधा-सादा वर्णन करना आसान होता है। इसी तरह जब किसी विषय का सारा चित्र हमारे मन की आंखों के सामने खिंचा रहे तो उसका परिचय पाठकों को बहुत सरलता से कराया जा सकता है; पर यह तभी संभव है जब उस विषय पर इतना आधिपत्य कर लिया हो कि विषय का ध्यान आते ही उसकी तस्वीर सामने खड़ी हो जाय।

यदि श्रेणी विशेष के लिए लिखना हो तो भाषा उनकी योग्यता के अनुरूप होनी चाहिए। फिर गहन और शास्त्रीय विषय की भाषा में थोड़ी-बहुत क्लिष्टता आ ही जाती है। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है; किन्तु आमतौर पर भाषा में तीन गुण होने चाहिएं—सरलता, सुन्दरता, संक्षिप्तता। सरलता का अर्थ ऊपर आ चुका है। सुन्दरता का अर्थ है रोचकता और प्रभावोत्पादकता। भाषा ऐसी मनोहर हो कि हृदय में बैठती चली जाय। भाषा हमारे अन्तःकरण का प्रतिबिंब है। दूसरे से हमारे हृदय को मिलानेवाला साधन है। अतएव भाषा को मनोहर बनाने के लिए अन्तःकरण को मनोहर और रुचिर बनाना चाहिए। हृदय जितना ही सुरुचिपूर्ण, सुसंस्कृत, मधुर होगा उतनी ही भाषा मनोहर होगी। सुन्दरता का अर्थ कोरे शब्दालंकार नहीं, वागाडम्बर नहीं। सच्चे हृदय की व्याकुल वाणी में असर होता है। शब्द-सौन्दर्य की अपेक्षा भाव-सौंदर्य पर मुख्य ध्यान देना चाहिए। भाव भाषा को अपने-आप चुन लेते हैं और अपने सांचे में ढाल लेते हैं। भाषा पर अधिकार पाने के लिए सबसे जरूरी बात है शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों का संग्रह। यह अच्छे-अच्छे लेखकों की रचनाओं को पढ़ते रहने से होता है। एक ही अर्थ के कई शब्दों की ध्वनियों को अच्छी तरह समझना चाहिए। पुनरुक्ति से भाषा को बचाना चाहिए। ग्राम्य शब्दों का प्रयोग बिना आवश्यकता के न करना चाहिए।

संक्षिप्तता का अर्थ यह है कि काम की और आवश्यक बातें ही

लिखी जायं। संक्षिप्त भाषा वह है जिसमें से न एक शब्द निकाला जा सके, न जोड़ने की आवश्यकता रहे। लिखते समय मुख्य और गौण बात का भेद सदैव करते रहना चाहिए। यह सोचना चाहिए कि यह बात यदि न लिखी जाय तो क्या काम अड़ जायगा? अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें ही लिखी जायें। साधारण बातें तभी लिखी जायं जब वे महत्त्वपूर्ण बातों की पुष्टि के लिए आवश्यक हों। बात जो लिखी जाय वह सच्ची हो। क्रोध में कोई बात न लिखनी चाहिए। क्रोधावेश मे जितना लिखा गया हो उसे बेरहम बनकर काट देना चाहिए। क्रोध या द्वेषवश लिखी गई भाषा यदि सुन्दर बन गई हो तो भी वह अभीष्ट परिणाम न पैदा करेगी। वह पाठक के मन में क्रोध और द्वेष पैदा करेगी। भाषा का यह गुण है कि आप जिस भाव से लिखेंगे वही वह पाठक के मन में पैदा करेगी। जो भाषा हमारे हृदय के भाव दूसरे के हृदय में तद्वत् जाग्रत कर देती है उसे प्रभावशालिनी कहते हैं। लेखक जितना ही समर्थ होगा उतना ही उसकी भाषा में प्रभाव होगा। क्रोध, द्वेष, असूया ये मानव-हृदय के दुर्विकार हैं और इनसे लेखक या पाठक किसी का लाभ नहीं है। अपने हृदय की बुराई सैकड़ों-हजारो घरों में पहुँचाना साहित्य और समाज को घोर असेवा करना है। इसलिए लेखक को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके भाव समाज का कल्याण करने वाले हों। उत्साह और प्रसन्न चित्त होकर निर्विकार भाव से लिखने बैठेंगे तो भाषा साधु, सजीव और प्रभावोत्पादक होगी। हम जैसे होंगे वैसी ही हमारी भाषा होगी। इसलिए भाषा-सौन्दर्य के बाह्य साधनों की अपेक्षा लेखक को अपने आन्तरिक सौंदर्य की वृद्धि का ही सदा ध्यान रखना चाहिए।

लेख में सरलता और संक्षिप्तता लाने के लिए दिमाग में हर चीज के टुकड़े-टुकड़े करके देखने का गुण होना चाहिए। इससे विषय का असली स्वरूप और महत्त्व समझ में आ जाता है और गेहूं में से भूसी को अलग करना आसान हो जाता है। आप अपने मतलब की बातें चुनकर ठीक सिलसिले से रख दीजिए। आपका लेख संक्षिप्त रहेगा और सरल भी बन जायगा। जैसे एक डाक्टर शरीर को चीरकर हरएक रगोरेशे को देख लेता है उसी तरह सम्पादक को अपने विषय की एक-एक नस देख लेनी चाहिए।

सम्पादकों को चाहिए कि वे अपने को जनता का सेवक समझें।

सम्पादक यों तो सुधारक होता है; परन्तु सुधारक की भावना में अहम्मन्यता बढ़ सकती है। अहम्मन्यता से मनुष्य उच्छृंखल बन जाता है और फिर अन्याय और अत्याचार तक करते हुए नहीं हिचकता। सेवक में नम्रता होती है। जनता के पथदर्शक होने की योग्यता होते हुए भी जब वह उसके सेवक के रूप में रहता है तब उस पर यह जिम्मेवारी रहती है कि वह अपनी सेवा का अच्छा हिसाब जनता को दे। जनता को अपनी बात समझाने का भार उस पर रहता है। इस कारण वह स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता। उसे सर्वदा जनता के हित का ही विचार करना पड़ेगा। जिसका हित-साधन उसे करना है उसकी राय भी उसे लेनी पड़ेगी। इस तरह अपने को सेवक माननेवाले पर लोक-मत का अंकुश रहता है जो कि दोनों के हित के लिए उपयोगी है।

सुधार या परोपकार का भाव है तो अच्छा ही; परन्तु सेवा का भाव इससे अधिक निर्दोष और सात्विक है। दूसरे की सेवा की अपेक्षा आत्म-विकास की भावना और भी निरापद एवं उच्च है। सेवा में फिर भी दूसरे का भला करने का 'अहं' भाव छिपा हुआ है; किन्तु आत्म-विकास में वह नहीं रह जाता। मैं जो कुछ करता हूँ अपनी आत्मा के विकास या कल्याण के लिए करता हूँ, यह भावना मनुष्य को मान-बड़ाई आदि बहुत से गड्ढों और खाइयों में गिरने से बचा लेती है। उसके लिए समाज-सेवा, देश-भक्ति, राष्ट्र-हित ये सब आत्म-विकास के साधन हैं। वह अपने प्रत्येक कार्य को अन्त में यह हिसाब लगाकर देखता है कि इससे मेरे आत्मिक विकास में क्या सहायता मिली? लोग ऐसे मनुष्य को बड़ा देशभक्त, समाज-सेवक, राष्ट्रोद्धारक मानेंगे; पर वह अपने को आत्म-कल्याण का एक साधक मानेगा और इन विशेषणों को अपनी साधना के मार्ग की मोहिनी विभूतियां समझकर 'कृष्णार्पण' कर देगा।

परन्तु इसमें एक बात की सावधानी रखने की जरूरत है। यदि परोपकार का भाव प्रबल रहा तो जिस प्रकार अभिमान, मान-बड़ाई के फेर में पड़ जाने का डर है उसी प्रकार आत्म-हित की दृष्टि प्रधान होने से स्वार्थ-साधुता आने या बढ़ जाने की आशंका रहती है। इन गड्ढों से बचने का सबसे बढ़िया उपाय यह है कि आत्म-हित और समाज-हित को हम मिला लें। समाज-हित में ही हमारा आत्म-हित छिपा या समाया हुआ है अथवा समाज-हित करते-करते ही हम आत्म-

साधना में सफल होंगे, यह धारणा इसका स्वर्ण-मार्ग है। तात्त्विक दृष्टि से भी इनमें कहने लायक अन्तर नहीं है। यदि दूसरे के और हमारे अन्दर एक ही आत्मा है तो दूसरे का हित मेरा ही हित है। गुण-विकास भी दूसरे का हित-साधन करते हुए जितना हो सकता है उतना कोरी आत्म-साधना—ध्यान-धारणा—से नहीं। दूसरे में अपने को सब तरह मिला देना आत्मार्पण है; दूसरे के लिए अपने को सब तरह मिटा देना निर्भयत्व है। आत्मार्पण और निर्भयत्व के आत्म-प्रकाश, चैतन्य, निर्वाण, कैवल्य, मोक्ष, पूर्णस्वातन्त्र्य, परमपद, निरानन्द, ब्राह्मीस्थिति, स्थित-प्रज्ञता, के मुख्य द्वार हैं।

कर्त्तव्य का भाव भी संपादक के मन में हो सकता है। न तो आत्म-कल्याण के लिए, न परोपकार के लिए, मैं तो अपना कर्त्तव्य समझकर संपादन-कार्य कर रहा हूँ, ऐसा कोई संपादक कह सकता है। पर यह पूछा जा सकता है कि आखिर इसे आपने कर्त्तव्य क्यों बनाया? धन के लिए, कीर्ति के लिए, जन-हित के लिए, आत्म-संतोष के लिए या और किसी बात के लिए? यदि धन और कीर्ति इसका उत्तर है तो वह संपादक नीचे दरजे का हुआ। यदि दूसरे दो उत्तर हैं तो उनका समावेश परोपकार, सुधार, सेवा, आत्म-कल्याण इनमें हो जाता है। इसलिए परोपकार या आत्म-कल्याण यही दो भावनाएँ असली हैं। साधारण व्यवहार की भाषा में इन्हें परमार्थ और स्वार्थ कहते हैं। स्वार्थ की परिधि की ओर जावें तो वह परमार्थ हो जाता है और परमार्थ के केन्द्र की ओर चलें तो वह स्वार्थ हो जाता है। दोनों दृष्टियों से हम एक ही सत्य पर पहुँच जाते हैं—इसी से कहते हैं कि जगत् में अन्तिम सत्य एक है। अस्तु।

एक यह भी प्रश्न है कि संपादक जनता का प्रतिनिधि है या पथ-दर्शक? प्रतिनिधि तो मनुष्य अपने आप नहीं बन सकता। किसी सम्पादक को जनता ने अपना प्रतिनिधि बनाकर सम्पादक चुना हो, ऐसा तो कोई उदाहरण नहीं देखा जाता। हां, बरसों की सेवा के बाद कोई सम्पादक जनता के किसी एक विचार, आदर्श या कार्यक्रम का नैतिक प्रतिनिधि हो सकता है—पर सभी सम्पादकों को यह पद नहीं मिल सकता। पथदर्शक तो अपने पास की कोई चीज हमें दिखाता है—वह हमें अच्छी मालूम देती है और हम उसके पीछे जाते हैं। वफादार और सच्चा पथदर्शक बाद को भले ही प्रतिनिधि बन जाय या बना दिया जाय।

जिनके पास न तो कोई अपनी चीज़ जनता को देने के लिए है, न जनता ने जिन्हें अपने प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया है, उन्हें सम्पादक इसीलिए कहा जा सकता है कि वे एक अखबार निकालते हैं, सनसनी भरी खबरें छापते हैं, जोश-खरोश भरी टिप्पणियां लिखते हैं और कुछ कापियां बेच लेते हैं। न तो समाज पर, न राज्य पर उनका कोई असर होता है।

नेता लोक-रंजन के लिए नहीं, बल्कि लोक-कल्याण के लिए पत्रकार बनता है। बल्कि मेरी राय में तो एक-मात्र लोक-कल्याण ही सब प्रकार के पत्रों का उद्देश्य होना चाहिए। मनोरंजन को पत्रों के उद्देश्य में स्थान नहीं मिल सकता, न मिलना चाहिए। लोक-हृदय ठहरा बाल-हृदय। जटिल और गूढ़ ज्ञान-तत्त्व यदि नीरस और क्लिष्ट भाषा में उसके सामने उपस्थित किये जायं तो उन्हें सहसा आकलन और ग्रहण नहीं कर सकता। इसीलिए कुशल लेखक मनोरंजन की पुट लगाकर उसे उसके अर्पण करता है। यही उसकी कला है। यही और इतना ही मनोरंजन का महत्त्व है।

इसके सम्बन्ध में दो मत हैं। एक मत के लोग कहते हैं, पत्र-संचालन और व्यवसायों की तरह एक व्यवसाय है। यद्यपि वह औरों से श्रेष्ठ है, उसके द्वारा ज्ञान और शिक्षा-लाभ होता है, तो भी वह है व्यवसाय ही। व्यवसायी का मुख्य काम होता है ग्राहक की रुचि देखना, उसकी रुचि और पसन्दगी के अनुसार तरह-तरह की चीजें रखना। चीजों को वह सजाता भी इस तरह है कि लोग उसी की दूकान पर खिंचकर चले आवें। इसके लिए उसे अपनी चीज की खासतौर पर तारीफ भी करनी पड़ती है। इन सब बातों के करने में उसे इसी बात का सबसे बड़ा खयाल रहता है कि ग्राहक कहीं नाराज न हो जाय, कहीं हमारी दूकान न छोड़ दे। यह निर्विवाद बात है कि सर्वसाधारण जन उसी चीज की ओर ज्यादा आकर्षित होते हैं जो चमकीली हो, चटकीली हो, फिर वह घटिया हो तो परवा नहीं। इसलिए व्यवसायी ऐसी ही चीजों को अपनी दूकान में ज्यादा रखता है। दूसरी बढ़िया अच्छी और ज्यादा उपयोगी चीजें भी वह रखता है; पर वे उसके नजदीक गौण हैं; क्योंकि वह कहता है, इसके खरीददार थोड़े होते हैं।

दूसरे मत के लोग पत्र-संचालन को एक 'सेवा' समझते हैं। वे कहते हैं कि पत्र-सम्पादक साहित्य के चौकीदार हैं, जनता के वैद्य हैं,

शिक्षक हैं, पथ-दर्शक हैं, नेता हैं। वे अपने सिर पर बड़ी भारी जिम्मेवारी समझते हैं। उन्हें सदा सर्वदा इस बात का खयाल रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि हमारे किसी वचन, कृति या संकेत से जनता का अकल्याण हो, वह बुरे रास्ते चली जाय, बुरे और गन्दे भावों, विचारों और कार्यों को अपना ले, ऐसे कामों में लग जाय जो उसे प्यारे मालूम होते हों; पर जो वास्तव में उसके लिए अकल्याणकारी हों। वे इस बात की तरफ इतना ध्यान नहीं देते कि लोगों को कौन-सी बात प्रिय है; बल्कि इसी पर उनका मुख्य ध्यान रहता है कि उसका कल्याण किस बात में है। वह अपने को प्रेय नहीं, श्रेय-साधक मानते है, इसलिए वे लोक-रुचि का अनुसरण उसी हद तक गौण या प्रधान रूप से करते हैं, जिस हद तक उसके द्वारा वे जनता के कल्याण को सिद्ध होता हुआ देखते हैं। बहुत बार ऐसा भी होता है, और इतिहास इस बात का खूब साक्षी है कि उन्हें लोक-रुचि के खिलाफ जबरदस्त आवाज उठानी पड़ती है और लोग पीछे से मानते हैं कि हां, उनकी बात ठीक थी। ऐसे पत्रकार पत्र-संचालन का उद्देश्य, फिर वह दैनिक हो, मासिक हो, या साप्ताहिक हो, 'लोक-रंजन' नहीं, 'लोक-कल्याण' मानते हैं और इसीलिए वे लोकरंजन या मनोरंजन को गौण स्थान देते हैं। लोकरंजकों से जनता शुरू में खुश भले ही हो, लोकरंजक कुछ काल के लिए लोक-प्रिय भी भले ही हों, वह सफल भी भले ही होता हुआ दिखाई दे, लाखों रुपये भी भले ही पैदा कर ले; परन्तु उससे सर्वसाधारण की सेवा ही होती है, कल्याण ही होता है, यह बात नहीं। तुलसी और सूर की लोक-प्रियता पर कोई सवाल उठा सकता है? क्या वे 'लोकरंजन' के अनुगामी थे? लोक-कल्याण किस बात मे है इसके जानने का आधार 'लोक-रुचि' नहीं, बल्कि लोक-शिक्षक की विद्या, बुद्धि, ज्ञान और अनुभव है। लोक-शिक्षक जितना ही अधिक त्यागी, संयमी, निःस्वार्थ, कष्ट-सहिष्णु, सदाचारी और प्रेम-मय होगा उतना ही अधिक वह पत्र-संचालन के योग्य होगा।

संसार में दो तरह के आदमी देखे जाते हैं। एक कल पर दृष्टि रखता है; दूसरा आज में मगन रहता है। एक ऊपर देखता है, आगे उंगली दिखाता है, दूसरा आस-पास देखता है। एक देने के लिए तैयार रहता है, छोड़ने में लेने से बढ़कर सुख देखता है; दूसरा रखने में और चलने में आनन्द पाता है। एक संयम में जीवन की सार्थकता मानता है, दूसरा स्वच्छन्दता

में। एक त्यागी है, दूसरा भोगी। ये दोनों एक दूसरे के सिरे पर रहने वाले लोग हैं। इनके बीच में एक तीसरा दल भी रहता है। उसे एक की उग्रता और दूसरे की शिथिलता, दोनों पसन्द नहीं। इधर त्याग की आग के पास जाने की भी हिम्मत उसे नहीं होती, उधर भोग के रोग से भी घबराता है। कल उसे बहुत दूर—इतना दूर कि शायद उसे पहुँचने की भी आशा न हो—दिखाई देता है और आज नीरस मालूम होता है। आगे उँगली उठाने में उसे खतरा जान पड़ता है और आस-पास देखते रहना निरर्थक। देने और देते रहने में उसे अपने दरिद्र हो जाने का डर रहता है और केवल रखने और चखने से उसे सन्तोष नहीं होता। यह जीवन को न संग्राम-भूमि बनाना चाहता है, न असहयोग का अखाड़ा और न फूलों की सेज। वह न इधर का होता है, न उधर का। वह आराम से चाहे रह सके, पर उन्नति ही करता रहेगा, यह नहीं कह सकते। वह सन्तुष्ट चाहे रहे, पर पुरुषार्थ भी दिखावेगा, यह निश्चय नहीं। बिना खतरे का सामना किये, बिना जान जोखिम में डाले, दुनिया में न कोई आदमी आगे बढ़ सकता है, न दूसरे को बढ़ा सकता है! परन्तु यह मध्य-दल तो अपने आस-पास हमेशा किलेबन्दी करता है, फूंक-फूंककर कदम रखता है, सम्हल-सम्हलकर चलता है। इसे वह विवेक समझता है। जो हो, 'लोक-रञ्जन' के अनुगामी अधिकांश में दूसरी और तीसरी श्रेणी में हुआ करते हैं। 'लोक-शिक्षक' पहली ही श्रेणी में अधिक होते हैं। दोनों में मुख्य भेद यही है कि एक का मुख्य ध्यान 'लोक-कल्याण' की ओर होता है और दूसरे का मुख्यतः 'लोक-रुचि' की ओर। सच्चा कलाविद् ही सच्चा शिक्षक हो सकता है और सच्चे शिक्षक होते हैं कला-मर्मज्ञ। यह सच है कि वे अपने आसन से उतरकर जनता के पास जाते हैं, उससे मिलते हैं और अपनी सहानुभूति जोड़ते हैं; पर उतरते हैं, उसे अपने आसन पर—ऊपर लाने के लिए, सहारा देने के लिए, उनपर अपना रंग जमाने के लिए, नाकर रह जाने के लिए नहीं, और उन्हीं के रंग में रँग जाने के लिए तो हरगिज नहीं।

जहां पत्रकार या शिक्षक 'लोक-रंजन' के फेर में पड़ा कि वह 'लोक-सेवक' न रहा, व्यवसायी हो गया।

५ : नेता की ज़िम्मेवारियाँ

नेता युगधर्म की प्रेरणा होता है। युगधर्म जनता की पीड़ा की पुकार है। वह मनुष्य नहीं है जिसके मन में उसे सुनकर हलचल न हो। हां, पीड़ा से व्याकुल होकर नेता को उसका इलाज जल्दी या क्रोध में आकर ऐसा न करना चाहिए कि जिससे जनता का जीवन अन्तिम लक्ष्य से इधर-उधर हो जाय। एक तरह की पीड़ा मिटने लगे तो दूसरी पीड़ा की नींव पड़ जाय। इसीलिए समाज में दूरदर्शी नेताओं की आवश्यकता होती है। नेता समाज को तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति होता है—पीड़ा का वैद्य होता है।

जीवन का मूल-भूत तत्त्व चाहे एक हो, किन्तु जीवन जगत् में आकर विविध हो गया है, वह एक से अनेक हुआ है और अनेक से एक होने की तरफ आ रहा है। यह दो तरह से होता है—विविध भावों के विकास के द्वारा अथवा भाव-विशेष को एकाग्र साधना के द्वारा। एक का उदाहरण भक्ति और दूसरे का योग हो सकता है। नेता के जीवन में भक्ति और योग का सम्मेलन होना चाहिए। व्यापकता और एकाग्रता दोनों ओर उसकी गति और विकास होना चाहिए।

एक वैद्य, योगी, योद्धा, सुधारक, किसी भी स्थिति में नेता की जिम्मेवारियां महान् हैं। वह यदि सचमुच अपनी जिम्मेवारियों को पूरा करना चाहता है, अपने गौरव की रक्षा करना चाहता है, अपने पद को सार्थक करना चाहता है तो उसे यह मानकर ही चलना चाहिए कि उसका जीवन सदा संकटों से घिरा हुआ है। यदि काम आसानी से हो जाय और संकट में न पड़ना पड़े तो उसे आनंद नहीं, आश्चर्य होना चाहिए और ईश्वर का एहसान मानना चाहिए*। निन्दा, कटूक्ति, आर्थिक कष्ट, गालियां, मार, जेल, अपमान और अन्त में मृत्यु—एवं मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी असफलता ये पुरस्कार अपनी सेवाओं का पाने के लिए

---

* यहां देशभक्तों के जीवन के सम्बन्ध में महाराष्ट्र में प्रचलित दो गान उपयोगी होंगे—

(१) जो लोक कल्याणा, साधावया जाय, येईं करी प्राण, त्या सौख्य कैचें ?
निन्दाजनीं त्रास, अपमान, उपहास, अर्थी विपर्यास, हें व्हावयाचें।
बहुकष्ट जीवास, दुष्टान्न उपवास, कारागृहींवास, हे भोग त्याचें॥

(२) देशभक्तां प्रासाद बन्दिशाळा। श्रृंगलेच्या गुंफिल्या पुष्प-माळा॥
चिता-सिंहासन शूळ राजदण्ड। मृत्यु वैभव दे अमरता उदण्ड॥

उसे सदा तैयार रहना चाहिए। यह समाज की अनुदारता पर टीका नहीं है; बल्कि नेता किन-किन कसौटियों पर प्रायः कसा जाता है उनका दिग्दर्शन है। समाज के पास नेता की सच्चाई की परीक्षा के यही साधन हैं। इनका सामना करते हुए भी नेता जब अपने उद्देश्य से पीछे नहीं हटता तब समाज उसकी बात मानता है। सच्चे आदमी को इतने कष्ट-सहन के बाद समाज अपनावे—यह है तो एक विचित्र और उलटी बात; पर समाज में झूठे, पाखंडी, स्वार्थ-साधु लोग भी होते हैं—उनके धोखे से बचने के लिए समाज के पास यही उपाय रह गये हैं। उनके अस्तित्व का दण्ड सच्चे आदमी को तब तक भुगते छुटकारा नहीं है जब तक समाज में झूठों, पाखंडियों और ठगों का जोर बना रहेगा।

दूसरे, जनता के स्वागत, सहयोग और अनुकरण पर से अपने कार्य की शुद्धता का अनुमान या निर्णय न करना चाहिए। जनता तो सदा अपने तात्कालिक लाभ को देखती है। आपके मूलतः अशुद्ध कार्य से भी उसका उस समय लाभ होता हुआ दीखेगा तो वह आपके पीछे दौड़ पड़ेगी, परन्तु इसी तरह जब उसका कु-फल भोगने का अवसर आवेगा तब वह आपको कहीं का न रहने देगी। संसार में आमतौर पर सब अच्छे के साथी होते हैं—बुरे के बहुत कम—और होने भी क्यों चाहिए? कार्य की शुद्धता जानने के लिए एक तो उसे अपने हृदय को देखना चाहिए और दूसरे यह देखना चाहिए कि कार्य का स्वरूप अनैतिक तो नहीं है। वह ऐसा तो नहीं है जो उसके ध्येय और निश्चित नीति तथा शर्तों के प्रतिकूल हो। मनुष्य कुटुम्ब, समाज और जगत् को धोखा दे सकता है; परन्तु अपने हृदय में छिपे सतत जाग्रत चौकीदार को धोखा नहीं दे सकता। मैं किसी के घर में चोरी करने के भाव से गया हूँ अथवा उसका कोई भला करने गया हूँ, इसे मेरा दिल जितना अच्छी तरह जान सकता है उतना और कोई नहीं। हां, कर्तव्य-मूढ़ता की बात दूसरी है। कभी-कभी मनुष्य की समझ में ठीक-ठीक नहीं आता कि इस समय मेरा क्या कर्तव्य है। कभी-कभी उसके निर्णय में भूल भी हो जाती है; पर वह तो क्षन्तव्य और सुधारणीय है। यदि नेता तनिक भी विचारशील है तो फौरन उसे अपनी गलती मालूम हो सकती है।

यदि स्वयं भूल न मालूम हो; पर दूसरा दिखा दे तो उसे सरल

और कृतज्ञ-हृदय से मान लेना चाहिए। भूल मालूम होने पर उसे न मानने, न सुधारने में खुद अपनी ही हानि है। अभिमान, मिथ्या बड़प्पन का भाव, कई मनुष्यों को भूल-स्वीकार करने से रोक देता है; परन्तु नेता को तो इसके लिए सदा तैयार रहना चाहिए। कभी-कभी ऐसे प्रसंग आजाते हैं कि भूल सुधारने के लिए मनुष्य तैयार हो जाता है; परन्तु उसे प्रकट होने देना नहीं चाहता। इसमें क्षणिक लाभ हो सकता है—परन्तु वृत्ति तो उसे तुरन्त स्वीकारने, प्रकट करने, और सुधारने अथवा जिसके प्रति भूल हुई है, या जिसको उससे हानि पहुँची हो उससे क्षमा चाहने की ही अच्छी है। क्षमा-याचना से केवल दूसरे को ही सन्तोष नहीं होता, हमारे हृदय को शुद्धता का ही इत्मी-नान नहीं होता; बल्कि हमारे मन को भी शिक्षा मिलती है। जहां तक अपने मन पर होनेवाले असर से ताल्लुक है क्षमा-याचना एक प्रकार का प्रायश्चित ही है। प्रायश्चित का वह भाव, जो दूसरे की हानि को अनु-भव करता है और इसलिए उस पर अपनी ओर से खेद और पश्चाताप प्रदर्शित करता है, क्षमा याचना कहलाता है। कभी-कभी स्थिति को सुलझाने के लिए भी मसलहतन् माफी मांग ली जाती है; परन्तु इससे दोनों के दिलों पर कोई अच्छा और स्थायी असर नहीं होता। न क्षमा मांगनेवाले का सुधार होता है, न क्षमा चाहनेवाले को सच्चा सन्तोष। उलटा उसके मिथ्याभिमान की वृद्धि होने का भय रहता है। कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता है जब मनुष्य भूल सुधारने के लिए तैयार हो जाता है; किन्तु क्षमा मांगना नहीं चाहता। उसमें वह अपनी मान-हानि समझता है। इसका सरल अर्थ यह है कि वह सिर्फ अपने को सन्तुष्ट कर लेना चाहता है, अपना लाभ कर लेना चाहता है; परन्तु दूसरे के दुःख, हानि की उसे उतनी परवा नहीं है। यह एक प्रकार की अहं-मन्यता ही है, यह अमानुषता भी है। अपने हाथ से किसी की हानि हो गई हो, किसी के दिल को चोट पहुंच गई हो, हमने समझ भी लिया कि हमने ठीक नहीं किया, फिर भी उसके प्रति हम इतने भी विनम्र न हों—यह अमानुषता नहीं तो क्या है? सच पूछिए तो इसमें हमारी अधिक हानि है—अधिक अपमान है—क्योंकि हर एक समझदार और ईमानदार आदमी हमसे मन में घृणा करने लगता है। अतएव नेता को यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि हृदय की सरलता और स्वच्छता से बढ़कर सफलता और विजय का अमोघ साधन संसार में नहीं है।

युक्तियों और तर्कों से आप मनुष्य को निरुत्तर कर सकते हैं; दिमागी चालाकी से आप साफ-पाक बेलौस दिख सकते हैं; परन्तु आप किसी के हृदय को नहीं जीत सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि दिमाग की अपेक्षा दिल में ही अन्तरात्मा ने अपना डेरा डाल रक्खा है। कई बार यह अनुभव होता है कि दिमाग साथ नहीं देता, समझा नहीं सकता; किन्तु दिल में बात जंच गई है। यदि हमने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया है कि बल आखिर सच्चाई में है, भला आखिर भलाई में है तो फिर दिमागी कतर-ब्योंत व्यर्थ है। सचाई और झुठाई छिप नहीं सकती।

नेता का एक सहकारी-वर्ग तो होता ही है। वही आगे चलकर एक दल बन जाता है। जब दल सुसंगठित होने लगता है तब नेता पर विशेष जिम्मेवारी आजाती है। जनता के हित के साथ उसे अब अपने दल के हित का भी खयाल रहने लगता है। फिर वह यह मानने लगता है कि मै अपने दल को बढ़ाकर और मजबूत रखकर ही जनता की सेवा अच्छी तरह कर सकता हूँ—इसलिए जनता के हित से भी अधिक चिन्ता दल की रखने लगता है। कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता है कि दल के हित और जनता के हित में विरोध दीखने लगता है। यदि जनता के हित पर ध्यान देता है तो दल से हाथ धो बैठना पड़ता है; यदि दल का हित देखना है तो जनता के हित की उपेक्षा करनी पड़ती है। ऐसी दशा मे सच्चे नेता का कर्तव्य है कि वह जनता के हित पर अड़ा रहे। दल जब कि जनता के ही हित के लिए बना है तब दल का ऐसा कोई स्वतन्त्र हित नहीं हो सकता जो जनता के हित का विरोधी हो। दल में यदि व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं हैं तो ऐसे विरोध की संभावना बहुत कम रहेगी। नेता के लिए यह परीक्षा का अवसर है। दल से उसे अपने को पृथक् करना पड़े, अथवा दल को तोड़ देना पड़े—तो उसे इसमें जरा भी हिचकिचाहट न होनी चाहिए। दल जनता के हित का साधन है और उसे सदा इसी मर्यादित स्थिति में रहना चाहिए।

समाज या देश में दूसरे दल भी हुआ ही करते हैं। वे भी उतने ही जनता के हित का दावा और कार्यक्रम रखते हैं। एक दल अपने को श्रेष्ठ और दूसरे को कनिष्ठ दिखाने की गलती न करे। जनता का हित जिस दल के द्वारा अधिकाधिक होगा उसे जनता अपनाती चली जायगी। सब जब जनता के सेवक हैं, इसलिए उनके परस्पर विरोधी बनने का सहसा

कोई कारण नहीं है। उनका मार्ग जुदा हो सकता है; परन्तु परस्पर विरोध करके, लड़कर और आपसमें तू-तू मैं-मैं करके अपना मार्ग अधिक सच्चा और हितकर साबित करने की अपेक्षा प्रत्येक जनता के हित को सिद्ध करने का अधिक यत्न करे। धन या संख्या का बल दल का वास्तविक बल नहीं होता; बल्कि सेवा की मात्रा होता है। जो दल वास्तविक सेवा करेगा उसका बल अपने-आप बढ़ेगा—लोग खुद आ-आकर उसमें शामिल होंगे। आज भारत में कांग्रेस दिन-दूनी बढ़ रही है और दूसरे दल पिछड़ रहे हैं। इसका रहस्य यही है। अतएव नेता को चाहिए कि दलबन्दियों की अनुदारता और एक-देशीयता से अपने को बचावे। देशभक्ति और सच्चाई का जितना श्रेय वह अपने दल को देता है उतना ही वह दूसरे दलों को भी देने के लिए तैयार रहे। उनके प्रति अधिक उदारता और सहिष्णुता का परिचय दे। अपने दल के साथ चाहे एक बार अन्याय होना मंजूर कर ले; परन्तु दूसरे दलवालों के साथ न होने दे। इस वृत्ति से अपने दल के संकुचित और एकांगी लोगों के असंतुष्ट होने का अन्देशा अवश्य है; परन्तु यह जोखिम उसे उठानी चाहिए, अन्यथा उसका दल कभी फैल न सकेगा। प्रतिकूल या भिन्न मत रखने-वालों को अपने मत की श्रेष्ठता आप नहीं जंचा सकते, यदि आप उनके प्रति सज्जनता, न्याय, सहिष्णुता और उदारता का व्यवहार नहीं रखते हैं। भिन्न या विरोधी मत होने के कारण हमारे हाथों उनके प्रति अन्याय हो जाना सहज है—इसलिए इस बात की बहुत आवश्यकता है कि हम इस विषय में बहुत जागरूक रहें। यदि हम सदैव सत्य पर दृष्टि रखेंगे, सत्य की रक्षा, सत्य के पालन से बढ़कर व्यक्तिगत या दल-गत लोभों और हितों को समझेंगे तो हम खतरे से बहुत आसानी से बच जायंगे। सत्य की साधना हमें कभी गलत रास्ते नहीं जाने देगी। हां, इसके लिए हमारे अन्दर काफी साहस, जोखिम उठाने का धीरज, बुरा, बेढा शर्क कर देनेवाला कहलाने की हिम्मत होनी चाहिए। ऐसे प्रसंग आ जाते हैं जब विरोधी की बात ठीक होती है, पर हमारे दल के लोग नहीं पसन्द करते कि उस औचित्य को स्वीकार किया जाय। ऐसी स्थिति में नेता यदि अपने दल की बात मानेगा तो विरोधियों को अपने नजदीक आने का अवसर खो देगा—क्योंकि उसकी न्यायपरायणता पर से उनका विश्वास उठने लगेगा। यदि अपने दल को खुश नहीं रखता है तो सारी जमीन ही पांव के नीचे से खिसकी जाती है। अपने दल में

से उसकी जगह बढ़ी जा रही है और विरोधी दल में पांव रखने की गुंजायश नहीं। वह 'न घर का न घाट का' रहने की स्थिति में अपने को पाता है। ऐसी दशा में एक-मात्र सत्याचरण, न्याय-निष्ठा ही उसकी रक्षिका हो सकती है। उसे यह विश्वास रखना चाहिए कि आखिर सत्य और न्याय को अनुभव करने की प्रवृत्ति सबमें होती है। आज यदि क्षणिक लाभ या संकुचित हित हमारे सत्य और न्याय के भावों को मलिन कर रहा है तो कल अवश्य दोनों दल के लोग उसे अनुभव करेंगे। यदि सार्वजनिक प्रतिष्ठा-भंग होने का गलत खयाल उन्हें गुमराह करके उनसे उसी समय उसे न कहलावे तो कम-से-कम दिल उनका गवाही जरूर देगा कि इसने सच्चाई का साथ दिया है और यह बहादुर आदमी है। जो सच्चाई की खातिर अपना दल, मान, बड़ाई छोड़ देने के लिए तैयार हो जाता है, विरोधी ही नहीं, सारा जगत् उसको माने बिना नहीं रह सकता। इसलिए नेता सदा यह देखे कि भिन्न या विरोधी मत रखनेवालों का दिल मेरे लिए क्या कहता है? वे सर्व-साधारण के सामने, अपने व्याख्यानों, लेखों और वक्तव्यों में उसके लिए क्या कहते हैं; इसकी अपेक्षा अपने मित्रों में, घर में तथा क्लबों में, खानगी बातचीत में मेरे लिए क्या राय रखते हैं यह जानना अधिक सत्य के निकट पहुंचावेगा। यदि मैं सच्चा हूं, यदि मैं न्याय-प्रिय और सत्पुरुष हूं तो दूसरे लोग मुझे और क्या कैसे समझेंगे? हां, उन्हें मुझे पहचानने में देर चाहे लगे, पर अन्त में उन्हें मेरे इन गुणों की कद्र करनी ही पड़ेगी। सत्य और न्याय की खातिर की गई मेरी साधना, मेरी तपस्या उन्हें सत्य की ओर लाये बिना न रहेगी।

अन्त में नेता को अपनी भूलों, गलतियों के प्रति बहुत कठोर परन्तु साथियों और सहयोगियों के प्रति उदार होना चाहिए। अपने प्रति कठोरता उन्हें अपने-आप ग़ाफ़िल न रहने की प्रेरणा करेगी और उनके प्रति उदारता उन्हें अपने हृदय-शोधन में लगावेगी—नेता के प्रति स्नेह बढ़ावेगी। पर अर्थ यह नहीं है कि उनकी गलतियां उन्हें बताई न जायँ। भूल भयंकर भी हो, पर इसका अच्छा असर तभी होता है जब वह मधुरता, आत्मीय भाव और सहृदयता के साथ बताई गई हो। बिगाड़ हो जाने पर बदले में साथी को हानि पहुंचाना किसी भी दशा में नेता का कर्तव्य नहीं है। भूल होना मनुष्य के लिए सहज बात है; बल्कि भूल के दुष्परिणाम से अपने साथियों और मित्रों को बचाने के लिए

आवश्यक हो तो नेता को खुद संकट में पड़ जाना चाहिए।

नेता को अपने व्यक्तिगत और सामाजिक आचार में भेद को स्थान न देना चाहिए। साधारणतया लोग आचार के दो भेद कर डालते हैं—एक, व्यक्तिगत आचार और दूसरा सामाजिक आचार। वे समझते हैं कि मनुष्य का सामाजिक आचार शिष्टता, सभ्यता और शुद्धतापूर्ण हो तो बस! सामाजिक बातों में व्यक्तिगत आचार पर ध्यान देने की जरूरत नहीं। जैसे यदि कोई आदमी अपने घर पर गांजा या शराब पीता हो, या चुपके-चुपके व्यभिचार करता हो, पर यदि वह खुले-आम ऐसा न करता हो, समाज मे उसका प्रचार या प्रतिपादन न करता हो तो इसे वे दोष न मानेंगे। यदि मानेंगे तो क्षम्य मानेंगे। मैं इस मत के खिलाफ हूं। मेरी राय में यह भ्रम-पूर्ण ही नहीं, सदोष ही नहीं, महापाप है। मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवन से जुदा नहीं हो सकता। व्यक्तिगत जीवन का असर सामाजिक जीवन पर पड़े बिना नहीं रह सकता। जो मनुष्य व्यक्तिगत जीवन को शुद्ध नहीं रख सकता वह सामाजिक जीवन को क्या शुद्ध रख सकेगा? जो खुद अपने, एक आदमी के आचार पर कब्जा नहीं रख सकता, वह सारे समाज के आचार पर कैसे रख सकेगा? मनुष्य खुद जैसा होता है वैसा ही वह औरों को बनाता है, चाहे जान में, चाहे अनजान में। और व्यवहार में भी हम देखते हैं कि समाज पर उसी का सिक्का जमता है जो सदाचारी होता है, जिसका व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार का आचार शुद्ध होता है। एक दृष्टि से व्यक्तिगत जीवन उसी मनुष्य के जीवन को कह सकते हैं जिसने समाज से और कुटुंब से अपना सब तरह का सम्बन्ध तोड़ लिया है, जो अकेला किसी जंगल में या पहाड़ की गुफा में जाकर रहता हो और खाने, पीने, पहनने तक के लिए किसी मनुष्य-प्राणी पर आधार न रखता हो, शिक्षा तक न ग्रहण करता हो; परन्तु जिस मनुष्य ने इतना भारी त्याग और संयम कर लिया हो उसका जीवन सच पूछिये तो व्यक्तिगत न रहा, सामाजिक से भी बढ़कर सार्वभौमिक हो गया। उसके चरित्र का असर सारे भूमण्डल पर हो सकता है, और होता है। इस दृष्टि से देखें तो मनुष्य की कोई भी ऐसी अवस्था नहीं दिखाई दे सकती जिसे हम 'व्यक्तिगत' कह सकें। इसलिए कहा जाता है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सदाचार से जहां तक सम्बन्ध है, सेवा से जहां तक सम्बन्ध है, उसके जीवन या आचार में व्यक्तिगत और सामाजिक ये भेद हो ही नहीं सकते। यदि हो भी सकें तो व्यक्तिगत आचार की

सदोषता क्षम्य नहीं मानी जा सकती, न मानी जानी चाहिए। इसी भ्रमपूर्ण और गलत भावना का यह परिणाम हम देखते हैं कि आज देश-सेवा के क्षेत्र में कितने ही ऐसे लोग मिलते हैं, और मिलेंगे जिन्हें हम सदाचारी नहीं कह सकते, पर जो बड़े देश-सेवक माने जाते हैं और जिनका जीवन समाज के सामने गलत आदर्श उपस्थित कर रहा है और समाज को गलत राह दिखा रहा है। हां, मैं यह बात मानता हूं कि समाज को यह उचित है कि सेवक के दुर्गुणों पर ध्यान न दे, दोषों की उपेक्षा करता रहे। दुराचार से अपने को बचाता रहे; पर समाज का यह सौजन्य, यह उदारता सेवक के आत्म-संतोष का कारण न होनी चाहिए। इससे तो उलटे उसके मन में अधिक शर्म, अधिक ग्लानि उत्पन्न होनी चाहिए। उसे इस बात पर खुशी न होनी चाहिए, फूलना न चाहिए, फख्र न होना चाहिए कि देखो, मैं ऐसा होते हुए भी समाज का प्रीति-पात्र हो रहा हूं; बल्कि इस खयाल से उसकी आंखों से अनुताप के आंसू निकलने चाहिएं कि समाज कितना सहिष्णु है, कितना उदार है, कितना गुण-ग्राहक है कि मुझ-जैसे पतित और नराधम को भी इतने आदर की दृष्टि से देखता है। तभी उसके कार्यों को देश-सेवा की श्रेणी में स्थान मिलने की सम्भावना हो सकती है। तभी वह समाज और राष्ट्र को उसके लक्ष्य तक पहुंचा सकता है।

: ८ :

भारत स्वतंत्रता की ओर

१ : क्रान्ति-युग

अब भारत सही माने में स्वतन्त्रता की ओर चल पड़ा है। वह स्वतन्त्रता की देहलीज तक पहुँच गया है। हमारी राष्ट्रीय सरकार बन चुकी है। तो भी चारों ओर क्रान्ति अपनी स्वर्ण-रेखाएँ फैलाती आ रही है। यह स्पष्ट दीख रहा है कि अन्दर-ही-अन्दर घोर मंथन हो रहा है और एक नई सृष्टि, नई रचना तैयार हो रही है। आज चाहे वह सबको सोलह कलाओं में न दिखाई दे, पर शीघ्र ही लोग उसे 'वस्तु-स्थिति' के रूप में देखने लगेंगे। यह मन्थन, यह उथल-पुथल इतने वेग के साथ हो रहा है कि दुनिया की कोई शक्ति उसे रोक नहीं सकती। विरोधक शक्तियां या तो हारकर थक बैठेंगी या अपने को उसके अनुकूल बना-लेंगी। यह क्रान्ति हमारे मानसिक और सामाजिक जगत् के क्षोभ, शोध और जिज्ञासा का परिणाम है।

क्रान्ति जीवन की विशेष अवस्था है। जीवन-धारा जब तक बे-रोक बहती और स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ती चली जाती है तब तक उसे प्रगति कहते हैं। जब अज्ञान, अन्धता, दुर्बलता, विलासिता और शोषण आदि के कारण उस प्रवाह का रास्ता रुक जाता है तब समाज का पतन समझना चाहिए और जब जीवन का भीतरी चैतन्य इन समस्त कठिनाइयों, रुकावटों को सहन करते-करते अधीर और उतावला होकर फूट निकलता है तब उसे क्रान्ति कहते हैं। पतन की अन्तिम और उत्थान की आदिम अवस्था इस संक्रमणावस्था का नाम है क्रान्ति। समाज जब अपनी बुराइयों और असमताओं के द्वारा प्रकृति के सरल-स्वच्छ पथ को कँटीला-कँकरीला और गंदा बना देता है, जीवन के लिए असह्य बना देता है तब ईश्वर जिस सुगन्धित हवा के झोंके और तूफान

को भेजता है, वह क्रान्ति है। ज्वर शरीर के अंदर छिपे विकार को सूचित करता है और साथ ही वह आरोग्य की क्रिया भी है। इसी प्रकार क्रान्ति जहां समाज के दोषों की परिचायिका है वहाँ वह उन्हें धोकर बहा ले जाने वाली और जीवन को स्वच्छ, सुन्दर, सतेज बनाने वाली जबर्दस्त पतितोद्धारिणी गंगा भी है। नासमझ लोग ज्वर को देखकर घबरा जाते हैं, भयभीत हो उठते हैं; उसी तरह क्रान्ति की मूर्ति देखकर भी उसका महत्त्व और सौंदर्य न समझने वाले भौंचक हो जाते हैं। क्रान्ति हेय नहीं, स्वागतीय वस्तु है।

भारत की आत्मा इस समय क्रान्तिशील है। सारा भूमण्डल मुझे तो चक्कर खाता हुआ नजर आ । राजनैतिक जीवन में उसने साम्राज्यवाद की जड़ खोखली कर दी है। राजों-महाराजाओं की अपरिमित सत्ता अब नाम-मात्र को रह गई है। इंग्लैंड, जर्मनी और जापान आदि देशों के राजा अब प्रजा के प्रभु नहीं रह गये, प्रजा के सेवक बन गये हैं और इसी रूप में, इसी स्वाभाविक रूप में, वे राजा बने रह सकते हैं। हमारे देश के राजों-महाराजाओं के भी पैर क्रान्ति की इस थपेड़ में उखड़ रहे हैं—जो दूरदर्शी, होश में हैं, वे इसे देख और अनुभव कर रहे हैं जो खुर्राटे भर रहे हैं, वे क्षुब्ध समुद्र की रुद्र तरंगों की उछाल पर अपने को अगा हुआ पावेंगे। प्रजा भेड़ और राजा गड़रिया, यह हालत अब नहीं रह सकती। ये विचार अब जंगली से मालूम होने लगे हैं। अब तो प्रजा-जनता अपना व्यवस्थापक स्वयं पसन्द करेगी किसी शासन का जुआ अपने कन्धे पर न रहने देगी। एकतंत्र की जगह प्रजातंत्र का दौर-दौरा होगा। बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित करने की अभिलाषा, छोटे राष्ट्रों और देशों को जीतकर, लूटकर, उन पर प्रलय तक अपना आधिपत्य जमाने की महत्वाकांक्षा अब अनुचित और आसुरी समझी जाने लगी है और साम्राज्यवादी अब जमतीतल पर नहीं खड़े रह सकते। मुट्ठी-भर लोगों के अमन-चैन और ऐशो-आराम के लिए जनता के सुख पर ध्यान न देने की प्रवृत्ति की उम्र अब अधिक दिखाई नहीं देती, अब तो बहुजन-हित के लिए थोड़े लोगों को अपनी सत्ता और ऐश्वर्य के त्याग करने का जमाना नजदीक आ रहा है।

सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में मिथ्या शास्त्रवाद का गला घोंटने में वह क्रान्ति तत्पर दिखाई देती है। अब धन, बल या सत्ता के जोर पर समाज में कोई कसी भले आदमी को तंग और बरबाद न कर

सकेगा। धन, बल और सत्ता का स्थान अब न्याय, नीति और प्रेम को मिल रहा है। धनी गरीबों के प्रति, पूँजीपति मजदूरों के प्रति, शासक प्रजा जन के प्रति अपने शुद्ध कर्तव्यों में दिन-दिन जागरूक रहने लगेंगे। संसार में अब पूँजीवाद, सेनावाद और सत्तावाद का आदर कम होता जा रहा है और समाजवाद, जनतावाद; और शांतिवाद की आवाज ऊँची उठ रही है। यूरोप में कम्यूनिज्म, सोशलिज्म और भारत में गांधी जी इसके सबूत हैं। ऐसा दिखाई पड़ता है कि अब धनवानों और सत्तावानों पुरोहितों और पोथी-पण्डितों, धर्म-गुरुओं और मठाधीशों के ग्रह नीच के आ रहे हैं और दलित, पीड़ित, पतित, निर्बल, किसान, मजदूर, अछूत और स्त्रियों के गृह उच्च के हो रहे हैं। महज़ विद्या, बुद्धि, धन, सत्ता या पाखण्ड के बल समाज में आदर-पात्र बननेवालों का युग जा रहा है और सेवाशील निःस्वार्थ सच्चे लोगों का युग आ रहा है। अब समाज में केवल इसीलिए कोई बात नहीं चलने पायगी कि किसी ने ऐसा कहा है, अथवा कोई ऐसा लिख गया है बल्कि वही बात मान्य होगी, जिसे लोग देश और समाज के लिए अच्छा और उपयोगी समझेंगे। अनेक देवी-देवताओं की पूजा उठकर एक ईश्वर की आराधना होगी। वेद, कुरान, इंजील, स्मृति, पुराण आदि में से वही बातें कायम रहेंगी जो बुद्धि और नीति की कसौटी पर सोटंच ही साबित होगी। मुझे तो ऐसा भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि भारत की वर्ण-व्यवस्था और विवाह-कल्पना को भी एक बार गहरा धक्का पहुंचेगा। अब जन्म के कारण कोई बड़ा या छोटा ऊंचा या नीचा नहीं माना जायगा। केवल विवाह-संस्कार हो जाने के बल पर अब पति-पत्नी को अपनी मनो-वृत्तियों की दासी न बना सकेगा, बल्कि जीवन के मंच पर पति-पत्नी एक ही आसन पर बैठेंगे। भोग-विलास या कौटुम्बिक सुविधा विवाह के हेतु और आधार न रहेगा; बल्कि परस्पर प्रेम-स्नेह और सह-धर्म होगा। बाहरी बन्धन शिथिल होंगे, और आंतरिक एकता बढ़ेगी। बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह के पैर लड़खड़ा रहे हैं और विधवा-विवाह जोर पर है। खान-पान और ब्याह-शादी में जांत-पांत की दीवारें टूट रही हैं और हिन्दू-मुसलमान और ईसाई संस्कृति के संयोग से भारत में संशो-धित संस्कृति भीतर-ही-भीतर निर्माण हो रही है। अब समाज में कोई सिंहासन पर और कोई खाली फर्श पर न बैठने पायगा, बल्कि सब एक जाज़म बिछाकर साथ बैठेंगे।

आर्थिक संसार में भी क्रान्ति के बादल उमड़ रहे हैं। व्यापार और उद्योग दूसरों को चूसने के लिए नहीं, बल्कि राष्ट्र और मानव-जाति के हित के लिए होना चाहिए—यह भाव दृढ़ होता जायगा और धन एक जगह इकट्ठा न होकर लोगों में बंटने लगेगा। बुद्धि-बल पर अथवा ज्ञान को बेचकर धन कमाना श्रेष्ठ न समझा जायगा, बल्कि मेहनत-मजूरी करके अपने पसीने की रोटी खाना धर्म समझा जायगा। अब भिक्षा-पात्र नहीं चर्खा या हल ब्राह्मणों और बेकारों के हाथ में दिखाई देगा।

साहित्य काव्य और कला भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं हैं। इनकी मण्डली में भी क्रान्ति ने उपद्रव मचाना शुरू कर दिया है। भारत में साहित्य-सेवा अब मनोरंजन की, आमोद-प्रमोद की या पेट पालने की वस्तु न रहेगी बल्कि देश-सेवा जन-सेवा के लिए होगी। कोरे ग्रन्थ-कीटक निरे काव्य-शास्त्रज्ञ अब समाज में न ठहर सकेंगे, अब तो उसी की कवितायें गाई जायेंगी उसी के चित्र मीठी चितवन से देखे जायंगे, जो सच्ची स्वाधीनता के विरह में मतवाला होकर रोयेगा चीखेगा, जो अपनी वियोग-व्यथा की आग से बच्चे-बच्चे को विकल कर देगा और जो अपनी कूंची की एक-एक रेखा में बिजली डालेगा। काव्य और कला क्या है? हृदय की गूढ़तम अव्यक्त अस्फुट वेदना का उद्‌गार। मानव-हृदय जब आन्दोलित, क्षुब्ध और विकल होकर पागल हो उठता है, इस पागलपन में वह जो कुछ बकता है या ऊंची से टेढ़ी-मेढ़ी लकीर खींच देता है वही काव्य और कला है। इस पागलपन में वह अद्‌भुत बातें कर डालता है और करा लेता है। यह जीवन-शक्ति जब काव्य-कला में कम पड़ जाती है तब समाज की तृप्ति उससे नहीं होती। जब समाज उसकी निष्प्राणता से ऊब उठता है तब काव्य-कला की अमर आत्मा नव-नव रूपों में प्रकट और विकसित होती है—वही अन्तरात्मा नवीन कलेवरों में प्रस्फुटित होती है। हिन्दी के वर्तमान काव्य-साहित्य में आज इसी क्रांति के दर्शन हम कर रहे हैं। अब कवि नवीन भावावेश में, नई भाषा में, नई धुन में गाते हैं और नवीन छन्द बन जाते हैं, नवीन व्यंजना दर्शन देती है नवीन कल्पनायें सामने आती हैं। नये भाषा-प्रयोग जन्म पाते हैं। छायावाद इसी क्रान्ति का परिणाम है। सविकार प्रेम को, शृङ्गार रस को आत्मिक और दैवी रूप देने की चेष्टा इसी क्रान्ति की प्रवृत्ति है।

इस प्रकार चारों ओर क्रांति-ही-क्रांति के परमाणु फैल रहे हैं हम चाहें या न चाहें हमें अच्छी लगे या बुरी, यह सर्वतोमुखी क्रांति अब टल नहीं सकती। नये विधाता नये ब्रह्माण्ड की रचना कर रहे हैं। पुराना ईश्वर भी अपने पार्षदों और गणों सहित नवीन रूप में हमारे सामने आ रहा है। एक-एक अणु नये जीवन और नये भविष्य की रचना में लगा हुआ है। ओ प्राचीन, तू जीर्ण-शीर्ण कलेवर के मोह को एकबारगी छोड़ दे। तू उठ, काया पलटकर और अपने नवीन नेत्रों से अपने नवीन तेजस्वी सुन्दर रूप को निहार कर खिल उठ। भारत इस क्रांति के प्रकाश में तू अपना रूप देख तो।

२ : एक निगाह

इस क्रांति के प्रकाश में पहले हम अपने स्वतंत्रता आंदोलन पर एक निगाह डाल लें। पूर्ण स्वाधीनता, और उसके अटल साधन सत्य और अहिंसा—यह एक ऐसी कसौटी और कुंजी हमारे हाथ लग गई है, जिससे हम अपने वर्तमान उद्योग व भावी रूप को देख व जांच सकेंगे। और उसकी गुत्थियां सुलझा सकेंगे।

अहिंसात्मक और सत्य-प्रधान होने के कारण हमारे स्वतन्त्रता-आंदोलन का निश्चित और दूरगामी परिणाम हुआ है भारतीय स्वतन्त्रता। हिन्दुस्तान दुनिया का पांचवां हिस्सा है। महान् प्राचीनता, उच्च संस्कृति, दिव्य तत्त्वज्ञान, अनेक महापुरुष, विविध प्रांत, प्राकृतिक देन, आदि विशेषताओं में यह संसार के किसी भी हिस्से से महान् है। एक गुलामी की जंजीर टूटते ही यह विशाल और प्राचीन देश संसार को भव्य और दिव्य दीखने लगा है। १८ करोड़ लोगों के रूस ने अपनी क्रांति के द्वारा सारे संसार में एक हलचल मचा दी है। फिर वह क्रांति ऐसे साधन—हिंसा-कांड—के बल पर हुई है, जिसका नैतिक महत्त्व भारतीय आन्दोलन के वर्तमान साधन—अहिंसा—से सारे मनुष्य-समाज की दृष्टि में कम समझा जाता है। आमतौर पर कोई यह नहीं कहता कि अहिंसा से हिंसा श्रेष्ठ है। सिर्फ इतना ही कहा जाता है कि कभी-कभी हिंसा से अच्छी काम बन जाता है और दण्ड तथा युद्ध की आवश्यकता जबतक रहेगी तबतक हिंसा-बल से काम लेना पड़ेगा। अर्थात् जो लोग हिंसा-बल के हामी हैं वे भी उसे एक अनिवार्य अल्पकालीन आपद्धर्म-मात्र मानते हैं। ऐसी दशा में भारतीय आंदोलन का संसारव्यापी

प्रभाव स्पष्ट और निश्चित है। भिन्नता और विविधताओं से भरे हुए इतने बड़े देश में यदि अहिंसा-बल से संसार के सबसे बड़े साम्राज्य के छक्के छूट गये तो एक बार सारा संसार चक्कर खाने लगेगा और चारों ओर उथल-पुथल मचे बिना न रहेगी। हिंसा-बल का थोथापन तो आज भी लोग समझने लगे हैं; किन्तु अहिंसा के सक्रिय बल पर उनका असीम विश्वास बढ़ जायगा। फलतः हिंसा-बल पर अवलम्बित रहनेवाले राष्ट्रों, समाजों और समुदायों को अहिंसा-बल पर आधार रखना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में शोषण का स्थान उन्हें परस्पर के सहयोग को देना पड़ेगा, या यों कहें कि वर्तमान प्रजा-सत्ताओं की जगह विश्व-कुटुम्ब की निकटवर्ती समाज-व्यवस्था का जन्म या अधिकार होगा।

भारतीय आन्दोलन अब सफलता को पहुँच गया है। इसके बाद दस-पांच साल शासन-संगठन और भीतरी सुधारों में लग जायंगे। तबतक और देशों में इस आंदोलन के नैतिक प्रभावों से जो-कुछ परिवर्तन और सुधार होंगे वे होते रहेंगे। फिर भारतवर्ष को दूसरे देशों में अपना सन्देश पहुँचाने की अच्छी फुरसत मिलेगी। भारत का संदेश संसार को क्या होगा? भारत का जीवन-कार्य क्या होगा? भारत ने समय-समय पर संसार को नये-नये संदेश दिये हैं—कृष्ण, बुद्ध, महावीर के सन्देश दुनिया में पहुँचे हैं—अब गांधी एक आगे का सन्देश सुनाने आया है। रूस के महान् लेनिन ने एक देन संसार को दी है। उसने शासन-सम्बन्धी एक आदर्श को व्यावहारिक रूप दिया है। रूस की वर्तमान सोवियत्-शासन-प्रणाली अबतक की तमाम प्रणालियों से नवीन और चकित करनेवाली है। उसके द्वारा कहते हैं, वहां की जनता को अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता मिली है। किन्तु अभी, वह भी, स्वतंत्रता के वास्तविक आदर्श से दूर है। वर्तमान महायुद्ध ने रूस की रीति-नीति के बारे में लोगों को शंकित भी कर दिया है। अतः अब समय आरहा है कि भारतवर्ष संसार को उसके आगे की सीढ़ी पर ले जाय। ऐसा दीखता है कि गांधी, अपने सत्य और अहिंसा के प्रकाश के द्वारा, एक नवीन समाज-व्यवस्था का दर्शन संसार को करावेगा। मेरी समझ में वह व्यवस्था हमें पूर्णस्वतंत्रता के निकट शीघ्र ले जानेवाली होगी। मेरे अन्दाज़ से वह क्या और कैसी होगी, इसका वर्णन आगे किया जायगा। यहां तो अभी हमें अपने आंदोलन के सफल होने की शर्तों और अवस्थाओं पर विचार कर लेना है।

यह सफलता दो बातों पर सबसे अधिक अवलम्बित है—एक अहिंसात्मक वातावरण का कायम रहना; दूसरे, लोगों में प्रत्येक वर्ग और समुदाय में परस्पर सहयोग का भाव बढ़ना। यदि हमने पहली बात को खूब समझ लिया है और मजबूती से पकड़ लिया है, तो दूसरी बात के सधने में अधिक विलम्ब और कष्ट न होगा। अहिंसा के महत्त्व और उपयोग को देखने के लिए तो अबतक के उसके बल और फल के दर्शन ही काफी हैं। परस्पर सहयोग बढ़ाने के लिए भिन्न-भिन्न समुदायों के हितों और स्वार्थों पर ध्यान रखने की आवश्यकता होगी।

किन्तु इसमें दो बड़े विघ्न हैं—(१) मुस्लिम लोग का जहरीला प्रचार और (२) देशी-नरेशों का प्रश्न। पाकिस्तान की मांग यद्यपि बेतुकी थी तो भी उसे मानकर उसे शान्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है। उससे जो नये-नये प्रश्न उपस्थित हुए हैं उन्हें भी हल किया जा रहा है।

इधर देशी नरेशों का रुख भी बदल रहा है। अब वे भारतीय राज्य के अंग होते जा रहे हैं और प्रजा को भी स्वशासन के अधिकार देने लगे हैं।

एक और विघ्न रह गया है। वह है खुद देश-भक्त कहे जाने वालों की तरफ से। वह है अहिंसा-प्रयोग के साथ-साथ यत्र-तत्र हिंसा-प्रयोग। पाकिस्तान बनने के साथ ही जो भयंकर मारकाट पाकिस्तान व हिन्द में हुई है उसने महात्मा जी जैसों को भी अहिंसा के बारे म बहुत चिन्तित कर दिया है। साथ ही साम्यवादी, अग्रगामी, समाजवादी आदि दलों का कदम कांग्रेस के साथ नहीं पड़ रहा है। यदि हिंसा के बल पर सुसंगठित और सफल युद्ध करने की स्थिति में भारत होता तो शायद उसे अहिंसा-बल को अजमाने की इच्छा ही न पैदा होती; पर अब जब कि इस बल से देश में इतनी जागृति, निर्भीकता, बल और संगठन का परिचय मिल गया है तब भी सेनापतियों के बार-बार मना करने पर भी हिंसात्मक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना अवश्य आश्चर्य और दुःख में डालता है। इसमें एक तो कम्यूनिस्टों—साम्यवादियों—ने तो स्पष्ट ही इस समय बहुत आपत्तिजनक रुख अख्त्यार कर रक्खा है दूसरे हिन्दुत्व या हिन्दू राज के नारे ने भी हिंसा-काण्डों को बढ़ावा दे रक्खा है। इन विघ्नकारी प्रवृत्तियों से हमारी आजादी के फिर से खतरे में पड़ जाने की आशंका हो सकती है और इसका बुरा असर हमारी भावी

सरकार के स्वरूप पर भी पड़ सकता है।

फिर भी हमारी सरकार ने इन उपद्रवी शक्तियों का मुकाबला बड़ी दृढ़ता व कुशलता से किया है और हम कह सकते हैं कि एक अर्थ में भारतीय आन्दोलन अपनी सफलता के बहुत निकट पहुँच गया है।

३ : भारतीय देशभक्ति

किन्तु कितने ही लोग यह मानते हैं कि राष्ट्रीयता के बिना भारत स्वाधीन नहीं हो सकता। दूसरे लोग कहते हैं कि संकुचित राष्ट्रीयता या देशभक्ति वास्तविक स्वतंत्रता की विरोधक है। अतएव हमें देखना चाहिए कि भारतीय देशभक्ति का स्वरूप क्या है?

मनुष्य-समाज जब अपने को भौगोलिक सीमाओं में बांध लेता है तब वह देश कहलाता है। इससे अपने-आप यह सिद्ध होता है कि देश मनुष्य-समाज से भिन्न या देश-हित मानव-समाज के हित से विपरीत वस्तु नहीं है। मानव-समाज विशाल और बृहत् है। अब से पहले उसके पास आवागमन के इतने द्रुत और सुलभ साधन भी नहीं थे। इससे वह भिन्न-भिन्न भू-भागों में बँट गया। वही उनका देश कहलाया। अपने-अपने निवास-स्थानों की जल-वायु, परिस्थिति आदि कारणों से उनके आकार-प्रकार, रूप-रंग और स्वभाव में भी भेद हो गया। उनके हित-सम्बन्ध भी भिन्न और कई बातों में परस्पर-विरोधी हो गये। तब उनकी रक्षाशीलता ने उनमें देशाभिमान उत्पन्न किया। जिनके हित-सम्बन्ध एक थे वे एक-राष्ट्र कहलाये। जिनमें रक्त और रक्त-जात हितों और सम्बन्धों की एकता थी वे एक जाति बन गये। एक देश में कई जातियां हो गईं। संकुचित स्वार्थ ने उनमें भी कलह और संघर्ष पैदा किया। इससे जातिगत भावों का उदय हुआ। नजदीकी स्वार्थ पर प्रधान दृष्टि रहने के कारण वंशाभिमान और आत्मभिमान की सृष्टि हुई। इन कई क्षुद्र अभिमानों का संघर्ष जगत् का इतिहास है। सौभाग्य से अब संसार क्षुद्रता और संकुचितता से ऊपर उठ रहा है। जातिगत भावों से उसे अब घृणा हो गई है। राष्ट्रीय भाव अब उसे अपने हृदय के नजदीक मालूम होने लगे हैं। परन्तु राष्ट्रीय भावों

में भी अभी संकुचितता और क्षुद्रता भरी हुई है। एक देश या एक राष्ट्र क्यों अभी दूसरे पर चढ़ाई करने की, दूसरे से युद्ध करने की आयोजना करता जा रहा है ? क्यों दूसरे को गुलाम बनाये रखने की प्रवृत्ति रख रहा है ? क्यों आत्म-दृष्टि से वह दूसरे को नहीं देख रहा है ? क्यों वह अपने हित को उसके हित से भिन्न मान रहा है ? क्या यह संकुचितता और क्षुद्रता नहीं है ? आवागमन और परिचय के इतने सुलभ साधन हो जाने के बाद तो यह क्षुद्रता मिट जानी चाहिए न ? सारी मानव-जाति को एकता और प्रेम-सूत्र में बांधने का प्रयत्न होना चाहिए न ? इस भावना से कि हम सब बिछुड़े हुए भाई मिल गये, हमारा हृदय हर्ष से उछलना चाहिए न ? पर क्या एक अंग्रेज को देखकर एक हिन्दुस्तानी के मन में ऐसा भ्रातृ-प्रेम उमड़ पड़ता है ? एक चीनी को देखकर एक अंग्रेज बन्धु-भाव से गले मिलता है ? एक जर्मन तुर्क या इटालियन को उसी प्रेम की निगाह से देखता है, जिससे वह जर्मन को देखता है ? नहीं। क्यों ? इसीलिए कि अभी हमने अपने हित-सम्बन्धों को भौगोलिक सीमाओं में कैद कर रक्खा है। जमाना आयगा, और बंधन टूटेंगे। हमें उस जमाने को जल्दी लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

भारतवर्ष इसमें सबसे अधिक सहायक हो सकता है, क्योंकि उसने विश्व-बन्धुत्व का सच्चा मार्ग खोज निकाला है। और राष्ट्र दूसरे के दोहन पर जीवित रहना चाहते हैं और इसलिए एक दूसरे के शत्रु-से बने हुए हैं। भारतवर्ष ने दोहन के अन्त कर देने का निश्चय कर लिया है। वह न अपने को लूटने देना चाहता है, न खुद लूटने का इरादा रखता है। उसने अहिंसा को पा लिया है, जो उसे लूटने और लूटने देने से मना करती है। ऐसी निर्भयता और निःशंकता का संदेश आजतक किसी देश ने दूसरे देश को नहीं दिया है। इसलिए भारत की देश-भक्ति और देशों की देश-भक्ति से भिन्न है। रूस ने अलबत्ता देश-भक्ति से आगे कदम उठाया है, पर जबतक वह अहिंसा को राष्ट्र-धर्म नहीं बना लेता है तबतक उसकी साधना अधूरी ही रहेगी—तबतक वह दूसरे देशों के लिए भय की वस्तु बना रहेगा। खुद रूसवासियों को भी वह निर्भयता और निःशंकता का जीवन प्रदान न कर सकेगा। भय के शस्त्रों का अवलम्बन करके निर्भयता का आश्वासन देना अपने-आपको धोखा देना है। अस्तु। पर भारत जबतक दूसरे देशों की

दृष्टि में खुद एक-देश या एक-राष्ट्र नहीं है, स्वतंत्र समाज नहीं है, तब-तक मानव-हित या विश्व-बन्धुत्व की बात उसके मुंह से 'छोटे मुंह बड़ी बात' हो सकती है। परन्तु यह निर्विवाद है कि उसकी देशभक्ति मानव-हित के विपरीत नहीं हो सकती। उसने समझ लिया है कि देश-हित सीमित मानव-हित है। अहिंसा उसे दूसरे राष्ट्र, देश, या जाति के प्रति घृणा-भाव रखने, द्वेष भाव का प्रचार करने से रोकती है। इसलिए स्वतंत्र होते ही वह जितनी जल्दी मानवता से अपने हृदय को मिला सकेगा उतना शायद ही आजतक कोई राष्ट्र मिला सका होगा।

मानवता के निकट पहुंचने के लिए सबसे पहले हमें जातिगत भावों और स्वार्थों को छोड़ना होगा, जाति और राष्ट्र के मुकाबले में राष्ट्र को तरजीह देनी होगी। जाति का नुकसान स्वीकार करना होगा, पर राष्ट्र का नहीं। इसका यह अर्थ हुआ कि दूसरी जातियों के सामुदायिक हित के आगे अपने जातिगत हित को गौण मानना होगा, अर्थात् दूसरे को बढ़ाने के लिए अपने को घटाना होगा और समय पड़ने पर मिटा भी देना होगा। स्वार्थ-त्याग की शुरूआत हमें पहले अपनी जाति से ही करनी होगी। हिन्दुओं को मुसलमानों, पारसियों और ईसाइयों के हित के लिए अपने हितों का त्याग करना होगा। यह उनकी कमजोरी नही बड़प्पन होगा, औदार्य और बन्धु-भाव होगा। इसी प्रकार विश्व-बन्धुत्व के सामने राष्ट्र-भाव को झुकना होगा। उदार घाटे में नहीं रहता, कंजूस ही रहता है। उदारता के मानी फजूलखर्ची नहीं है। फजूलखर्ची में विवेकहीनता होती है। उदारता में हृदय का ऊंचापन होता है, शराफत होती है।

भारत अपनी उच्च-हृदयता के लिए इतिहास-प्रसिद्ध है। यह सच है कि इसकी गफलत से ही, जिसे इसने उदारता मान लिया है, यह अंग्रेजों की गुलामी में बुरी तरह जकड़ गया था; किन्तु यह भी उतना ही सच है कि अपनी गुलामी की बेड़ियों को तोड़ने का अनुपम मार्ग—अहिंसा—भी इसे अपनी उदारता, उच्च हृदयता ने ही दिया है। मुझे तो विश्वास है कि भारतवर्ष की इस गुलामी ने संसार को मुक्ति का सीधा और सरल मार्ग दिखाया है। भारतवर्ष गुलाम हुआ अपनी सरलता के कारण। दूसरे देश स्वतंत्र हैं अपनी स्वार्थ-वृत्ति के बल पर। हम भी आज भारत के स्वार्थ-भाव को, देश-भक्ति को, जगा रहे हैं; किन्तु हमें यह चिंता है कि वह विश्व-बन्धुत्व का विरोधी न होने पावे। हमारी

अहिंसा इसकी जबरदस्त गारण्टी है। जगत् के दूसरे राष्ट्र भी जब इसे अपने जीवन में अपना लेंगे तब वे सच्चे स्वतंत्र होंगे। भारत गुलाम था, पर मुक्ति का पथ उसके हाथ लग गया है। दूसरे देश यों अपने हित में स्वतंत्र हैं; समष्टि की दृष्टि से स्वतंत्रता के पथ से दूर हैं। जिस दिन भारत अहिंसा के द्वारा स्वतंत्र बना रहेगा उस दिन दूसरे राष्ट्र अनुभव करेंगे कि अभी उन्हें वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है। उस समय वे फिर भारत का पदानुसरण करेंगे। आज उनका शरीर स्वतन्त्र है; पर आत्मा कुण्ठित है, वह प्रसन्न नहीं है और भीतर-ही-भीतर झुंझला रही है। भारत का शरीर अभी जकड़ा हुआ है; पर अन्तःकरण दिन-दिन प्रसन्न होता जा रहा है, खिलता जा रहा है। इसका क्या कारण है? मनोविज्ञान के ज्ञाता तुरन्त कह देंगे, उसे अपनी मुक्ति और उसके द्वारा जगत् की सेवा का विश्वास हो गया है। उसके हाथ एक ऐसी अनमोल बूटी लग गई है, जो केवल उसी को नहीं बल्कि सारे संसार को विश्व-बन्धुत्व के राज-मार्ग पर लाकर खड़ा कर देगी। वह है अहिंसा। यह सच है कि भारत ने अभी उसकी मोटी-मोटी करामात को ही देखा है—मानसिक जगत् में वह कितना सुख-प्रद परिवर्तन कर रही है, इस पर जिनकी दृष्टि है वे भविष्य को अधिक दूर तक देख सकते हैं। परमात्मा उस उज्ज्वल भविष्य को जल्द ही वर्तमान का जामा पहनावे।

४ : हमारा सामाजिक आदर्श

कई लोगों का मत है कि भारत के लिए कोरी राजनैतिक स्वाधीनता काफी नहीं है। जब तक हमारा सामाजिक आदर्श ही नहीं बदला जायगा तब तक न भारत का भला हो सकता है, न दुनिया का। इस अर्थ में आज दुनिया की और भारत की एक समस्या है। कुछ काल पहले तक यह माना जाता रहा था कि एक राजा हो और वह प्रजा का हित करता रहे। समय पाकर यह राजा प्रजा का भला करने के बजाय आप ही उसका प्रभु और कर्ता-धर्ता बन गया और अपने स्वेच्छाचारों की पूर्ति के लिए प्रजा पर मनमाना ज़ोरो-ज़ुल्म करने लगा। तब लोगों ने देखा कि यह गलती हुई—कुछ नहीं; राजा को छोड़के, अब से प्रजा का चुना हुआ प्रतिनिधि-मण्डल और अध्यक्ष प्रजा का हित-साधन करे। अब इसका भी फल कई जगह यह हो रहा है कि धनी और प्रभाव-

शाली लोग सांठ-गांठ लगाकर प्रतिनिधि-मण्डल में पहुँच जाते हैं और एक राजा के बजाय बीसों राजा, प्रजा के प्रतिनिधि के नाते, प्रजा के हित के नाम पर, अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं और उनपर प्रजा को कुरबान करते हुए भी नहीं हिचकते। पिछले युद्धों में यही अनुभव हुआ। तब लोगों के विचारों ने पलटा खाया। अब आम पुकार उठ रही है कि धनी और प्रभुताशाली लोगों के हाथों में शासन की बागडोर न होनी चाहिए, सर्व साधारण और जनता के हाथों में होनी चाहिए। इस विचार के लोग, थोड़े-थोड़े विचार-भेद के साथ, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट कहे जाते हैं। वे कहते हैं कि केवल राज-काज में नहीं बल्कि सारे सामाजिक जीवन में सबको अपनी उन्नति और सुख के समान साधन और सुविधाएं मिलनी चाहिएं, फिर वह राजा हो या रंक, धनी हो या किसान, पढ़ा हो या अपढ़, स्त्री हो या पुरुष। यह कोई राजनैतिक ही नहीं एक भारी सामाजिक क्रांति का चिह्न है। कांग्रेस का देश को यही सन्देश है कि तुम्हारा काम खाली राजनैतिक सत्ता ले लेने से नहीं चलेगा, बल्कि ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए जिससे वह सत्ता मुट्ठी-भर प्रभावशाली लोगों के हाथों में न रहे, जनता के हाथों में रहे। फिर केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि जीवन के सभी विभागों में समता और समानता का दौर-दौरा होना चाहिए। इसी दिशा में यदि दूर तक विचार करें तो हमें इस नतीजे पर पहुंचना पड़ता है कि जबतक सरकार अर्थात् सत्ता रखनेवाली कोई भी, किसी भी प्रकार की संस्था, समाज में रहेगी तब तक सबको समान साधन और समान सुविधा नहीं मिल सकती—आत्म-विकास की पूरी स्वाधीनता किसी को नहीं मिल सकती। यह तो तभी हो सकता है जब समाज में सब लोग ऐसे बन जायं और इस तरह परस्पर व्यवहार करने लगें जिससे किसी बाहरी सत्ता की आवश्यकता उनकी रक्षा, शिक्षा और न्याय आदि के लिए न रहे। पर सारे समाज की ऐसी दशा भी उसी अवस्था में हो सकती है जब लोग खुद ब खुद उन तमाम नियमों और कानूनों को मानने लगें जिन्हें सरकार अपनी हुकूमत के अर्थात् दण्ड-भय के बल पर मनवाती है। यहाँ आकर हम देख सकते हैं कि मनुष्य के सामाजिक और राजनैतिक जीवन में भी संयम का कितना महत्त्व है। इस विषय पर बहुत दूर तक बारीकी के साथ जिन-जिन विचारकों ने विचार किया है उनका यही कहना है कि समाज में किसी सरकार का रहना समाज की बेबसी का सबूत है, समाज के लिए

एक तरह से शर्म की बात है। थोरो, टालस्टाय, क्रोपाटकिन, लेनिन और गांधी—ऐसे विचारकों की श्रेणी में आते हैं। सामाजिक आदर्श से जहां तक संबंध है यदि मैं गलती नहीं करता हूं तो, सभी प्रायः एक-मत हैं; पर आगे चलकर आदर्श को पहुँचने के साधन या मार्ग में मत-भेद हो जाता है। लेनिन का कहना था कि भाई जबतक मौजूदा सत्ता को जबर्दस्ती तोड़-फोड़कर बागडोर अपने हाथ में नहीं ले ली जाती, अपने आदर्श के अनुसार शासन-व्यवस्था बनाने की पूरी सुविधा सब तरह नहीं प्राप्त कर ली जाती तबतक अपने मनोवांछित सामाजिक आदर्श को पहुँचना असंभव है। अतएव इस संक्रमण-काल—बीच के समय—में तो हमें हर उपाय से सत्ता अपने पास रखनी ही चाहिए। मुसोलिनी और हिटलर भी इसी भाव से प्रेरित होकर इटली और जर्मनी में सर्व-सत्ताधीश बन गये थे। पर टालस्टाय और गांधी कहते हैं कि यह तो तुम उल्टे रास्ते चल पड़े। तुम उस सामाजिक आदर्श को तब तक नहीं पहुँच सकते जबतक खास किस्म के गुणों की वृद्धि और दोषों की कमी समाज में न कर दो। इसके लिए दो शर्तें लाजिमी हैं—(१) सामाजिक नियमों का उल्लंघन कोई न करे—सब खुद ब खुद राजी-खुशी उनका पालन करें (२) किसी के उल्लंघन करने पर दूसरा उसका बदला लेना न चाहे, उसे क्षमा कर दे। इन्हीं दो शर्तों का नाम है संयम और शान्ति। इसे एक ही शब्द में कहना चाहें तो 'अहिंसा' कह सकते हैं। उनका कहना है कि जबतक अहिंसा को अपना पहला और अन्तिम पाठ नहीं बना लेते तबतक तुम चक्कर में हो—गोते खाते रहोगे। सर्व-साधारण अर्थात् जनता संयम और क्षमा अथवा अहिंसा का अवलंबन तभी कर सकती है जब तुम समाज के बड़े, नेता कहानेवाले अपने जीवन में उसे प्रधान पद दो। पर तुम तो मार-काट और हत्याकांड मचाकर उसे मार-काट और हत्याकांड का ही रास्ता बताते हो और कहते हो कि इसके बिना काम नहीं चलेगा तो फिर लोगों में संयम और क्षमा कैसे आयगी और जबतक ये गुण न आयंगे तबतक तुम अपने सामाजिक आदर्श को कैसे पा सकोगे? तुम तो बबूल का बीज बोकर उससे आम के फल की आशा रखते हो। मैं स्वयं इसी दूसरे मत का कायल और अनुयायी हूँ; क्योंकि इसमें विचार की सुलझाहट मालूम होती है।

५ : सर्वोदय और साम्यवाद

मानव-समाज से जिस अशान्ति को हम हटाना चाहते हैं उसका मूल कारण है विषमता। उसके दो उपाय पेश किये जाते हैं, एक 'साम्यवाद' दूसरा 'सर्वोदय'। 'साम्यवाद' अथवा कम्युनिज्म को वैज्ञानिक और शास्त्रीय रूप कार्लमार्क्स ने दिया। उसका आदर्श है वर्गहीन समाज की स्थापना करना। 'सर्वोदय' शब्द के जन्मदाता और उसके प्रचारक हैं गांधी जी। उसका अर्थ है सबकी उन्नति, सबका समान हित। वर्ग हीन समाज की कल्पना के मूल में समता का सिद्धांत काम कर रहा है। एक-दूसरे की प्रतिस्पर्धा करने वाले एक-दूसरे का शोषण करने वाले वर्ग समाज में न रहें बल्कि सब लोगों का एक ही वर्ग हो और वह हो मानव वर्ग। संपत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व रहने से परस्पर प्रतिस्पर्धा और शोषण की वृत्ति जागती और बढ़ती है इसलिए समाज में से सम्पत्ति पर से अर्थात् उत्पत्ति के साधनों पर से, व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा हटा दी जाय यह साम्यवादियों का मुख्य आग्रह है। ऐसा समाज कैसे बने ? इसका उत्तर हमें साम्यवादी देते हैं कि पहले जिस तरह हो सके राजनैतिक सत्ता प्राप्त की जाय। श्रमजीवियों की डिक्टेटरशिप कायम करके फिर उसके बल पर आदर्श समाज का निर्माण किया जाय। वे मानते हैं कि राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए हमें हिंसात्मक बल से काम लिये बिना कोई चारा ही नहीं है।

'सर्वोदय' के आदर्श में भी मूल भावना यह है कि समाज से विषमता, शोषण का अन्त हो। हां, उसकी विधि में भेद है। गांधीजी का यह दृढ़ विश्वास है कि यदि हमें समाज से हर प्रकार के शोषण को जड़-मूल से मिटाना है तो हमें व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अहिंसा को सर्वप्रथम और सर्वोच्च स्थान देना पड़ेगा। हिंसा के मानी हैं दूसरे को दबाकर उसे कोई काम करने के लिए मजबूर कर देना। अहिंसा का मतलब है दूसरे के हृदय को अपनी सद्भावना और प्रेम से आवश्यकतानुसार स्वयं कष्ट सहकर जीतना, अपने अनुकूल बना लेना। शोषण में भी हिंसा का ही भाव है। बिना किसी-न-किसी प्रकार की हिंसा का आश्रय लिये कोई किसी का शोषण नहीं कर सकता। शोषण का अर्थ है न्याय और धर्म-पूर्वक जिस वस्तु को पाने का मुझे अधिकार नहीं है, उसे छल-बल और कौशल से अपने अधिकार में ले

आता। सीधे रास्ते खुले तौर पर जो चीज मुझे नहीं मिल रही है उसके लिए मुझे कुछ टेढ़ा, कुछ गुप्त या अप्रत्यक्ष मार्ग का अवलंबन करना पड़ता है, वह शोषण है और उसमें हिंसा ही है। इसलिए गांधीजी का कहना बिलकुल सही है कि यदि शोषण को मिटाना है तो पहले हिंसा को मिटाओ, अर्थात् किसी भी रूप में, सूक्ष्म रूप में भी हिंसा को आश्रय मत दो। गांधीजी की यह राय बहुत सही है। साम्यवादियों की तरह यह भी जरूरी नहीं कि आदर्श समाज की रचना के लिए राजनैतिक सत्ता पहले जरूरी है, क्योंकि राजनैतिक सत्ता के मूल में भी कुछ तो हिंसा रही ही है। फिर बिना राजनैतिक दबाव के जो राष्ट्र-निर्माण या रचनात्मक काम होगा वह अधिक शुद्ध और स्थायी होगा। उनका राजनैतिक आदर्श राम-राज्य है जिसे उन्होंने भलमनसी और न्याय का राज्य कहा है। वे ऊपर से लादी गई डिक्टेटरशिप को नहीं पसंद करते। उससे जनता का स्वतन्त्र विकास न होगा। इसलिए उनकी कल्पना के राज्य-संचालकों की योग्यता की कसौटी उनकी सेवा, त्याग, तप के द्वारा प्राप्त जनता का हार्दिक प्रेम और आदर होगा। वे अंदर से विकास करने के हामी हैं। यही विकास का असली मार्ग है और यह अहिंसा के ही द्वारा साध्य हो सकता है।

साम्यवादियों का यह कहना है कि पहले संगठित हिंसा द्वारा राजनैतिक सत्ता प्राप्त कर लें, पीछे उसके द्वारा हिंसावृत्ति को मिटा दिया जायगा, समझ में नहीं आता। ज़रा कल्पना कीजिए कि किसी हिंसा-बल से सुरक्षित राज्य-सत्ता को हाथ में लेने के लिए उससे बढ़कर हिंसा-बल प्राप्त करना और उसे सुसंगठित करना होगा। फिर दूसरे आस-पास के राष्ट्रों के आक्रमण से बचने के लिए उस सुसंगठित हिंसा-बल को कायम भी रखना होगा। अहिंसा के द्वारा समाज और राष्ट्र की रक्षा कर सकने पर विश्वास न होने के कारण न तो हम ही हिंसा-बल को छोड़ सकेंगे या कम कर सकेंगे, और न आस-पास के राष्ट्रों पर ही ऐसा असर डाल सकेंगे। जिसका फल यह होगा कि हम कभी भी या दीर्घ काल तक, हिंसा-बल के आश्रय से अपना छुटकारा न कर सकेंगे। फिर हमारे हिंसा-कार्यों की प्रतिक्रिया रूप जो प्रतिहिंसा हमारे विरोधियों और हमसे हताहत हुए लोगों के हमदर्दियों में जाग्रत होगी, वह हमें कभी हिंसा-बल से मुक्त न होने देगी। हिंसा-बल से मुक्त होने की तरफ हम उसी अवस्था में बढ़ सकते हैं, जब हम सचमुच हिंसा और अहिंसा-पद्धतियों

के गुण-दोष का परीक्षण और तुलना करके इस निश्चय पर पहुंच जायं कि सचमुच हिंसा-बल हेय और त्याज्य है और अहिंसा-बल श्रेय और अभिनन्दनीय। मेरी समझ में थोड़ी भी बुद्धि रखने वाला आदमी इसका निर्णय आसानी से कर सकेगा।

हिंसा से अहिंसा श्रेष्ठ है, हिंसा से अहिंसा की नैतिक योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी है, इसे तो हर कोई स्वीकार कर लेगा। परन्तु जो बात किसी को दुविधा में डाल देती है, वह यह शंका है कि क्या अहिंसा हिंसा से ज्यादा कार्य-साधक, सहज-साध्य और व्यवहार-योग्य भी है। जो-जो काम आज मनुष्य हिंसा-बल से निकाल लेता है वे सभी क्या अहिंसा-बल से निकाले जा सकते हैं। गांधीजी का उत्तर है कि यदि नहीं निकाला जा सकता है तो अहिंसा किसी काम की चीज नहीं है। उनकी यह दृढ़ श्रद्धा है कि अवश्य निकाले जा सकते हैं।

इतना ही नहीं, बल्कि हिंसा को बनिस्बत ज्यादा अच्छी तरह से और थोड़े समय के अन्दर। हां, यह सही है कि शुरू में अहिंसावाद उतनी तेजी से सफल होता हुआ नहीं दिखाई देता, जितना कि हिंसा-वाद। परन्तु जहां एक बार अहिंसा की विजय शुरू हुई कि उसमें तब तक पराजय का काम नहीं जब तक कि हम अहिंसा के पथ पर सचाई के साथ डटे हुए हैं। यह सच है कि अहिंसात्मक प्रतिकार या संग्राम का विधि-विधान अभी इतना व्यापक और तफसीलवार नहीं बन पाया है। जितना कि बरसों के अभ्यास के कारण हिंसात्मक युद्ध का शास्त्र बन चुका है। परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि कम-से-कम भारतवर्ष में एक बहुत बड़ा दल ऐसे लोगों का बन गया है, जिनकी बुद्धि को यह विश्वास हो चुका है कि हिंसा की तरह अहिंसात्मक प्रतिरोध भी सफल हो सकता है। जैसे-जैसे प्रसंगानुसार हम अहिंसात्मक बात का प्रयोग और अभ्यास करते जायंगे वैसे-वैसे उसका शास्त्र भी अपने-आप तैयार होता चला जायगा। हम इस पर जितना ही विचार और मनन करेंगे, हमें इसमें एक दिव्य भविष्य की झलक दिखाई पड़ेगी। यदि हमारी बुद्धि ने सचमुच अहिंसा की श्रेष्ठता और उपयोगिता को ग्रहण कर लिया है तो हमें उसके प्रयोग से नित-नूतन आश्चर्यों का अनुभव हुए बिना न रहेगा। जैसे-जैसे वह अनुभव होगा वैसे-वैसे हमारी श्रद्धा और भी दृढ़ होती जायगी। अहिंसा की साधना केवल कवायद से नहीं हो सकती। चित्त-वृत्ति को ही निर्मल निःस्वार्थ निरभिमान राग-द्वेष से

हीन बनाने की जरूरत है। इसी में से अमोघ बल उत्पन्न होता है और उसके प्रयोग के पथ पर भी प्रकाश पड़ता जाता है। गांधीजी किसी किताब को पढ़कर हमें अहिंसात्मक संग्राम का मार्ग-दर्शन नहीं कराते हैं। अपने चित्त को उन्होंने अहिंसामय बना लिया है। इसलिए उन्हें फ़ौरन ही उसका सरल मार्ग सूझ जाता है। हम भी तभी गांधीजी के सच्चे अनुयायी कहला सकते हैं, जब खुद अहिंसा के इस दिव्य प्रदेश में पहुँचकर उसकी करामात से जनता को परिचित और प्रभावित करें। ऐसे प्रयोग से ही अहिंसा-शास्त्र का निर्माण होगा।

हिंसात्मक और अहिंसात्मक बलों पर भरोसा रखने वाले लोगों की मान्यता में एक बड़ा भेद दिखाई पड़ता है। एक को मनुष्य प्रकृति की मूलभूत सत्-प्रवृत्ति पर विश्वास है तो दूसरे को उसमें अविश्वास या शंका है। जिसको विश्वास है वह तो निराश और हतोत्साह होने के अवसर पर भी अपने अन्तस्थ प्रेम पर अटूट भरोसा रखकर प्रयोग करता चला और अन्त में देखेगा कि सामने वाले का हृदय बदल गया है। क्योंकि उसका झगड़ा व्यक्ति से नहीं व्यक्ति के अवगुणों से और कुप्रवृत्तियों से है। इसलिए वह समूचे व्यक्ति का नाश नहीं चाहता; क्योंकि ऐसा करना उस व्यक्ति के गुणों और शक्तियों का भी नाश करना है, जोकि समाज की एक बड़ी हानि और एक जबरदस्त हिंसा है। इसके विपरीत जो व्यक्ति यह मानता है कि मनुष्य प्रधानतः स्वार्थी है, दबकर ही वह किसी अच्छे काम में प्रवृत्त होता है वह अहिंसा की महत्ता को सहसा नहीं समझ सकता और उसकी उपयोगिता को भी अनुभव नहीं कर सकता। कम्युनिस्ट और गांधीवादी के विश्वासों में जो बड़ा अन्तर मालूम होता है वह यही कि गांधीवादी मनुष्य प्रकृति की मूलभूत सत्-प्रवृत्ति को मानता है और कम्युनिस्ट इस विषय में अविश्वासशील या शंकाशील है।

इसका कारण मुझे यह मालूम होता है कि जहां कम्युनिस्टों का अनुभव और अवलोकन सीमित और एकदेशीय है, वहां गांधीवाद की जड़ में एक बड़ा आध्यात्मिक तत्त्व हजारों वर्षों की साधना, अनुभव और अवलोकन भरा हुआ है। यह सही है कि सामाजिक और राष्ट्रीय पैमाने पर अहिंसा को एक बल और अस्त्र के रूप में संगठित करके उसके प्रयोग करने का उपक्रम संसार के इतिहासों में गांधीजी ने ही पहली बार किया है। परन्तु इसकी अप्रत्याशित सफलता ने भी दुनिया

को यह दिखा दिया है कि अहिंसा राष्ट्र के आन्तरिक और बाहरी झगड़ों को निबटाने में हिंसा का स्थान जरूर ले सकती है। अहिंसा की विजय का आधार मनुष्य की चित्त-शक्ति में है, जहां कि हिंसा-बल का आधार शरीर है। ज्यों-ज्यों हम चित्त-शक्ति के साम्राज्य में प्रवेश करते जायंगे त्यों-त्यों हमें अहिंसा के चमत्कार और बल का अनुभव होता जायगा। जरूरत इस बात की है कि हम चित्त-प्रदेश में शोध-प्रयोग करें। यदि कम्युनिस्टों या सोशलिस्टों की समझ में अहिंसा की निरपवाद उपयोगिता बैठ जाय तो फिर 'सर्वोदय' और 'साम्यवाद' की कल्पना में कोई कहने लायक अन्तर नहीं रह जायगा, बल्कि 'साम्यवाद' या 'वर्गहीन समाज' की जगह 'सर्वोदय' शब्द अधिक सार्थक और भावात्मक दिखाई देगा।

६ : समाज-व्यवस्था के आधार

सामाजिक आदर्श को समझ लेने के बाद अब हम भावी समाज-व्यवस्था के आधार खोज लें तो अच्छा रहेगा।

मनुष्य सृष्टि में यों एकाकी उत्पन्न हुआ है, परन्तु गोल बनाकर रहना उसकी प्रकृति मालूम होती है। पशुओं में भी, जिनका जीवन मनुष्य से अधिक प्राकृतिक है, यह प्रवृत्ति पाई जाती है, कुछ तो अपनी प्रकृति से व कुछ प्राकृतिक अवस्थाओं से मनुष्य व्यक्ति से जाति, समूह में परिणत और कुटुम्ब में विकसित हुआ। उसकी उन्नति या विकास का इतिहास देखने से पता चलता है कि व्यक्ति ने अबतक जो कुछ प्रगति की है वह गोल, जाति, कुटुम्ब समाज में ही, इनमें रह कर ही, इसके लिए जीवन का श्रेष्ठतर भाग लगा करके ही। उसमें जिन गुणों और शक्तियों का विकास हुआ है वह हरगिज न हुआ होता यदि वह अबतक एकाकी ही रहा होता। और तो ठीक वह अकेला रहकर जिन्दा भी रह पाया होता कि नहीं, इसमें भी सन्देह है। इस तरह व्यक्ति और समूह या समाज इस प्रकार परस्पर आश्रित, परस्पर सहायक तथा पूरक हो गये हैं कि एक के बिना दूसरे की स्थिति की पुष्टि व प्रगति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। फिर भी ऐसे अवसर आ ही जाते हैं जब यह विवेक और निर्णय करना पड़ता है कि दोनों में से कौन बड़ा है, किसे प्रधानता दी जाय। इसमें निश्चय ही व्यक्ति को श्रेष्ठ मानना पड़ेगा; क्योंकि प्रकृति ने व्यक्ति को उपजाया है, समाज को नहीं।

समाज पीछे से मनुष्य ने अपने लिए, भले ही प्राकृतिक अवस्थाओं व स्फूर्तियों से प्रेरित होकर ही सही, बनाया है। चूंकि उसने अबतक अपनी सारी उन्नति समाज में और समाज द्वारा ही की है, अतः वह उसे छोड़ नहीं सकता, परन्तु केन्द्र में व्यक्ति ही रहेगा समाज उसकी परिधि है व रहेगा। व्यक्ति की उन्नति समाज का ध्येय है व समाज-हित व्यक्ति का कर्तव्य है। पूर्ण रूप से सामाजिक बन जाना, समाज की आत्माएँ अपनी आत्मा में मिला देना व्यक्ति की उन्नति की चरम सीमा है। व्यक्ति को इस दरजे तक अपनी उन्नति करने की अनुकूलता और सुविधा देना व उसे इस योग्य बनाना समाज के निर्माण का उद्देश्य है। जब व्यक्ति, कुटुम्ब, समूह, जाति या समाज बनाता है तब वह अपनी स्वाधीनता और सुख एक अंश तक कम करके ही ऐसा करता व कर सकता है। चूंकि इस त्याग में वह भारी लाभ व हित समझता है इसे वह स्वेच्छा से व खुशी-खुशी कर सकता है और इसे त्याग न कहकर कर्तव्य कहता है। जैसे-जैसे सामाजिक हित की सीमा बढ़ती जाती है वैसे-ही-वैसे इस सुख-स्वतन्त्रता के त्याग की मात्रा भी बढ़ती जाती है। यह त्याग किसी-न-किसी सामाजिक व्यवस्था नियम के रूप में करना पड़ता है। और चूंकि यह स्वेच्छा से होता है उसे बन्धन नहीं मालूम होता। मनुष्यों की इस त्यागशीलता या कर्तव्य-भावना पर ही समाज की स्थिति व उन्नति निर्भर करती है। यदि मनुष्य व्यक्तिगत लाभालाभ पर ही सदैव दृष्टि रक्खे तो समाज एक दिन न चल सके, फलतः किसी दिन व्यक्ति भी एक क्षण नहीं टिक सकेगा।

चूंकि व्यक्ति व समाज इतना परस्पर सम्बद्ध, गुंथा हुआ है कि हमें ऐसी ही व्यवस्था व योजना करनी होगी जिससे न समाज के कारण व्यक्ति की उन्नति रुके, न व्यक्ति के कारण समाज की सुरक्षितता व व्यवस्था में बाधा पड़े। दोनों परस्पर सहायक व सखा बनकर ही रहें, विघातक व विनाशक न बनने पायं। वे कौन-से नियम व सिद्धान्त हैं जिनके अवलम्बन से यह कार्य भली-भांति सिद्ध हो सके?

इसके लिए पहले हमें मनुष्य के त्याग व भोग की सीमा निश्चित करनी होगी; क्योंकि यदि भोग की ओर ध्यान न दिया जायगा तो वह सुख या तृप्ति अनुभव न करेगा, अतः हो सकता है कि उसके जीवन का एक महान् आकर्षण लुप्त हो जाय जिससे उसे जीवन में कोई रस न मालूम हो पावे। इधर त्याग पर ओर न दिया जायगा तो समाज की स्थिति

व प्रगति अटक जायगी, समाज की जड़ ही सूख जायगी। व्यक्तियों की स्वेच्छा से किये त्यागरूपी मधुर जीवन-रस से ही समाज लहलहाता है। इसके लिए हम यह सामान्य नियम स्थिर कर सकते हैं कि मनुष्य उतने भोग भोगे जितने समाज के हित में बाधा न पहुंचाते हों व समाज मनुष्य से उतना त्याग चाहे जितना उसकी रक्षा, स्थिति, व्यवस्था, सुदृढ़ता के लिए परम आवश्यक हों, और जो व्यक्ति मुख्यतः खुशी-खुशी देना चाहे। इसमें दबाव व जबरदस्ती से जितना कम काम लिया जायगा उतना ही समाज-जीवन अधिक सरल, सुखद और संतोषप्रद होगा। व्यक्ति समाज को अधिक देकर उससे कम लेने की प्रवृत्ति रक्खेगा व बढ़ावेगा तो समाज उसके बदले में उसे अधिक भोग की सुविधा देने की ओर प्रवृत्त होगा, फिर भी व्यक्ति उससे लाभ नहीं उठावेगा; क्योंकि उसने किसी लालच से त्याग नहीं किया है, बल्कि कर्तव्य की व शुभ तथा श्रेय की भावना से ही किया है। इसी तरह समाज यदि व्यक्ति को अधिक चूसने की प्रवृत्ति रखने लगेगा तो व्यक्ति उसके प्रति विद्रोह करने के लिए मजबूर व तैयार हो जायगा; क्योंकि उसने समाज अपने चूसे जाने के लिए नहीं बनाया है। अपनी स्थिति व उन्नति के अनुकूल समाज का रूप बनाना, स्थिर करना, बदल देना उसके अधिकार की बात है। अतः एक तो इस नियम के पालने में सचाई व हार्दिकता होना जरूरी है व दूसरे किसी प्रकार के दबाव, जबरदस्ती, बलात्कार को प्रोत्साहन न मिलना चाहिए। इन दो सुदृढ़ सिद्धान्तों पर इसकी नींव मजे में डाली जा सकती है।

इस नियम से व्यक्ति व समाज का परस्पर सम्बन्ध तो नियमित हो गया, परन्तु अभीतक व्यवहार में सुगमता न पैदा हुई। मनुष्य किस अनुपात से समाज से ले और किस अनुपात से उसे दे? दूसरे शब्दों में कितना श्रम या कर्म वह करे व कितना सुख या भोग वह भोगे व समाज के संचालन में उसका क्या व कैसा हिस्सा रहे? इसका निर्णय हमें व्यक्ति की इच्छा, शक्ति व योग्यता के आधार पर करना होगा; क्योंकि भोग का सम्बन्ध उसकी इच्छा या अभिलाषा से है। श्रम या कर्म उसकी शक्ति पर व समाज की व्यवस्था तथा संचालन में उसका योग-दान, उसकी योग्यता पर अवलम्बित रहता है। भोग हमें अनावश्यक रूप से रोकना नहीं है। शक्ति पर इतना ज्यादा ज़ोर पड़ने देना कि मनुष्य थक जाय, मुनासिब, वांछनीय और हितकर नहीं है, और

अयोग्य के हाथ में समाज की व्यवस्था व सञ्चालन देना समाज को अस्त-व्यस्त कर देना है। अतः भोग अर्थात् सुख-साधन की व श्रम या कर्म-शक्ति की तथा योग्यता व सभ्यता के माप की कम-से-कम व अधिक-से-अधिक सीमा बना देना उचित होगा। कम-से-कम भोग की हमें गारण्टी व अधिक-से-अधिक जो तय कर दिया जाय उसकी सुविधा करनी होगी। कम-से-कम श्रम या कर्म अवश्य किया जाय, इस पर जोर देना होगा व अधिक-से-अधिक के लिए प्रोत्साहन व कद्रदानी की व्यवस्था करनी होगी। इसी तरह कम-से-कम योग्यता अनिवार्य रूप से चाही जायगी व अधिक-से-अधिक का सत्कार किया जायगा व ऐसी योगता प्राप्त करने-कराने की सुविधा देनी व करनी होगी।

जीवन विकास के पथ पर भली-भांति बिना विघ्न-बाधा के चल सके, यह भोग की न्यूनतम सीमा हुई, व जीवन सुखी सन्तुष्ट व तेजस्वी हो यह अधिकतम सीमा हुई। कम-से-कम ६ घण्टा (शारीरिक या मानसिक) श्रम न्यूनतम, व ८ घण्टा श्रम अधिकतम सीमा रखना अनुचित न होगा। इसी तरह श्रम, साक्षरता, सुस्वास्थ्य योग्यता की कम-से-कम नाप रहनी चाहिए। इनकी अधिक-से-अधिक मर्यादा ठहराना असाध्य मालूम होता है। शक्ति-भर काम, आवश्यकतानुसार भोग व श्रमशील का समाज-व्यवस्था में दखल यह मजे का सूत्र बन सकता है। शक्ति या सामर्थ्य मनुष्य में स्वभावतः ही अलग-अलग दर्जे का होता है; परन्तु भोग की इच्छा सबमें प्रायः एक-सी होती है। अतः सत्ता व भोग का बटवारा समानता की भूमिका पर व काम या श्रम का बटवारा शक्ति की नींव पर करना उचित होगा। इसका यह अर्थ हुआ कि भोग व सत्ता का सबको समान अधिकार हो, समान सुविधा हो व काम उनकी शक्ति व सामर्थ्य के अनुसार ले लिया जाय। यह बहुत स्वाभाविक व्यवस्था बन सकती है।

७ : भारत का सन्देश

तो अब सवाल यह है कि भारत कब ऐसी व्यवस्था बनाने में सफल होगा ? कब यह दुनिया में इसे फैलाने के लिए तैयार होगा ? यह बहुत कुछ इस बात पर अवलंबित है कि भारत की शासन-सत्ता किनके हाथों में होगी। अभी तो महात्माजी, पं० नेहरू, सरदार पटेल, डा० राजेन्द्रप्रसाद [illegible] सरकार के विधाता हैं। इनमें पं० जवाहरलाल

समाजवाद का आदर्श रखने वाले और महात्माजी उनसे एक कदम आगे, अपरिग्रह के पुजारी हैं। ऐसी दशा में यह बेखटके कहा जा सकता है कि हमारी सरकार में सर्वसाधारण की ही आवाज प्रबल रहेगी, धन-बल और शस्त्र-बल की नहीं। धन-बल या पूंजीवाद भारत में है भी नहीं। धनियों के द्वारा एक किस्म का सर्व-साधारण का शोषण जरूर होता है, धनी खुद अपने को धन-बल पर बड़ा ज़रूर मानते हैं। दूसरे भी धन-बल के कारण धनियों से दबते हैं, पर फिर भी पूंजीवाद भारत में नहीं है। पूंजीवाद के मानी हैं संगठित धन-बल और उसका वहां की सरकार पर अमित प्रभाव, जिसका फल हो धनियों का दिन-दिन धनी बनते जाना और गरीबों का दिन-दिन गरीब बनते जाना। यह हालत भारत में नहीं है। फिर यहां के व्यापारी या धनी अथवा जमींदार स्वराज्य-संग्राम में भी योग देने लगे हैं और सरकार की स्थापना के समय उन्होंने अपनी महत्ता या प्रभाव जमाने का प्रयत्न नहीं किया। यदि करते भी तो वे तभी सफल होने की आशा रख सकते थे, जब कोई बाहरी स्वतन्त्र पूंजीवादी राष्ट्र उनकी पीठ पर होता। ब्रिटिश साम्राज्य को शिकस्त देने के बाद शायद ही कोई राष्ट्र इनकी सहायता करने के लिए तैयार होगा; दूसरे यहां के व्यापारी या धनी इतने मूर्ख और देशद्रोही नहीं हैं, जो ऐसे समय दूसरे राष्ट्रवालों से मिलकर जयचन्द का काम करें। इसलिए मुझे तो यह आशंका बिलकुल नहीं है कि स्वराज्य-सरकार में पूंजीवादियों की प्रबलता होगी और सर्व-साधारण जनता को फिर अपनी पहुंच करने के लिए दूसरी लड़ाई लड़नी होगी, या जन-क्रान्ति करनी होगी और यदि करनी पड़ी भी तो जिस शक्ति ने सुसंगठित साम्राज्य को ढीला कर दिया, वह क्या मुट्ठी-भर पूंजी-पतियों के कोलाहल या प्रभाव से दब जायगी?

शस्त्र-बल या सेना-बल यों तो किसी के पास भारत में रहा नहीं है, हां देशी नरेशों के पास थोड़ी-सी सेना है। वे शस्त्र-बल के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। लेकिन इसके बल पर वे भारतीय सरकार का अंग बनने में सफल नहीं हो सकते। हां, वे अपनी जान अलबत्ता बचा लेना चाहते हैं। सो यह अधिकांश में अवलम्बित है उनके हिन्द-सरकार-सम्बन्धी रुख पर। यदि उनका व्यवहार सहानुभूति-पूर्ण रहा, तो उनकी सुरक्षा का खयाल लोगों को स्वाभाविक तौर पर

रहेगा ही। यदि उन्होंने इस समय बेरुखापन दिखाया तो उस समय वे अपने लिए सहानुभूति पाने की आशा कैसे रख सकते हैं ? इसके अलावा देशी नरेशों की संख्या बहुत है और उनमें इस बात पर एका होना मुश्किल है कि भारत में जनता की और जनता के नेताओं की इच्छा के खिलाफ अपना राज्य जमा लिया जाय। शुरूआत में एका हो भी जाय तो अखीर में बटवारे के या बड़ा राजा चुनने के समय आपस में झगड़ा हुए बिना न रहेगा। और ऐसे देशभक्त राजा भी हैं, जो अभी से ऐसी किसी कु-योजना का हृदय से विरोध करते हैं और करेंगे।

इससे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि जो सरकार हमारी बनी है, वह जनता की बनाई हुई है और उसी का बोलबाला उसमें है। और जब कि घोर युद्ध और क्रान्ति के दिनों में सत्य-प्रधान और अहिंसात्मक साधनों से सफलता मिली है तब सरकार और समाज की बुनियाद इन्हीं पर पड़नी स्वाभाविक है। और जिसके मूला-धार सत्य और अहिंसा हैं, वह निःसन्देह पूर्ण स्वतन्त्रता की इमारत होगी। भले ही शिखर तक पहुँचने में काफी समय लगे; पर उसकी बुनियाद और खम्भे उसी को लक्ष्य करके खड़े किये जायंगे। इस तरह सच्ची और पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर शीघ्र ले जानेवाली सरकार और ऐसी ही समाज की रचना का नमूना, यह संसार को भारत की नजदीकी देन है—दूसरे शब्दों में पूर्ण स्वतन्त्रता और उसके दो बड़े पाये सत्य और अहिंसा के बल पर खड़े समाज का प्रत्यक्ष ढांचा, यह भारत का सन्देश संसार के लिए है। यह रूस के सन्देश से बढ़कर है।

८ : रूसी और भारतीय सन्देश

अब हम रूसी और भारतीय सन्देश की जरा तुलना कर लें। रूस ने साम्यवाद या कम्युनिज्म का नमूना संसार को दिखाया है। वह आदर्श समाज में किसी सरकार की आवश्यकता नहीं मानता। वह पूंजी-वाद को या सम्पत्ति के असमान बटवारे को समाज की सारी बुराई की जड़ मानता है। इसलिए उसकी आदर्श सरकार में किसानों और मजदूरों की ही पहुंच है, धनी-मानी लोग उससे महरूम रक्खे गये हैं। उसकी सरकार में मत देने का अधिकार उसी को है, जो खुद काम करता हो। जो ठलुए बैठे रहते हैं, या दूसरों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते हैं, उनकी

कोई आवाज सरकार में नहीं है। सम्पत्ति का समान बटवारा करने की गरज से उन्होंने किसी को खानगी मिल्कियत रखने का अधिकार नहीं रक्खा है—अभी कुछ समय तक पुराने लोगों को अपनी सम्पत्ति रख छोड़ने का अपवाद कर दिया गया है; पर सरकार में उन्हें राय देने का अधिकार नहीं है। इसके अलावा जमीन-जायदाद, कल-कारखाने सब राज्य के अधीन कर दिये गये हैं। काम करने के एवज में नकद पैसा किसी को नहीं मिलता। सरकार की ओर से दूकानें खुली हुई हैं, वहां से रसद-कपड़े वगैरा जरूरी चीजें सबको मिल जाती हैं। व्यापार और उद्योग-धन्धे भी सरकार के ही अधीन हैं। आदर्श समाज में उन्होंने सब तरह की हिंसा का बहिष्कार माना है; किन्तु अभी सन्धि-काल में, हिंसा-बल की आवश्यकता सरकार में समझी गई है। समाज-रचना में ईश्वर और धर्म के लिए कोई जगह नहीं रक्खी गई है और विवाह-प्रथा को उठाकर स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को बहुत आजादी दे दी है। एक स्त्री का कई पुरुष से और भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुषों का भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुषों से सम्बन्ध रह सकता है। सन्तति के पालन-पोषण व शिक्षण का भार राज्य पर है।

जहांतक सर्व-साधारण के सुख-सुविधा-स्वतन्त्रता से सम्बन्ध है, उससे पहले की शासन-प्रणालियों की अपेक्षा यह निस्सन्देह बहुत दूर तक जाती है। साधन और ठीक-ठीक जानकारी के अभाव में यह राय कायम करना अभी कठिन है कि वह प्रयोग रूस में कितनी सफलता के साथ हो रहा है। अच्छा तो यह हो कि हमारी राष्ट्रीय सरकार की ओर से एक शोधक-मण्डल भारत से रूस को भेजा जाय और वहां वह सभी दृष्टियों से नवीन प्रयोगों का अध्ययन करे और फिर उससे यहां लाभ उठाया जाय। फिर भी शासन के बुनियादी उसूलों के गुण-दोष पर विचार करके इतना निस्सन्देह कहा जा सकता है कि साम्यवाद पिछले तमाम वादों की अपेक्षा, सामाजिक स्वतन्त्रता में, बहुत आगे का कदम है। किन्तु साथ ही वह पूरा कदम नहीं है।

पिछले लेखों में हमने देखा है कि जबतक सत्य और अहिंसा को मूलाधार न माना जाय और इन पर अमल न किया जाय तबतक पूर्ण और सच्ची स्वतन्त्रता का आना और निभना कठिन है। इसके अलावा एक और बात है, जिसमें सोवियट-प्रणाली अधूरी है। सामाजिक अव्यवस्था, विषमता या अशान्ति की असली जड़ सम्पत्ति का असमान

बटवारा नहीं, बल्कि परिग्रह की कृति है। साधारण आवश्यकताओं से अधिक सामग्री अपने पास रखना ही असली बुराई है। दूरदर्शी विचारकों ने इसे चोरी कहा है। समान बटवारे के मूल में भोगेच्छा और उसके फल-स्वरूप कलह शेष रह जाता है। पक्षान्तर में, अपरिग्रह दोनों की जड़ में कुठाराघात करता है। समान बटवारा एक ऊपरी इलाज है; अपरिग्रह मनुष्य की इच्छा पर ही संयम लगाना चाहता है। एक बाहरी बन्धन है; दूसरा भीतरी विकास। समान बटवारा जीवन के माप-दण्ड पर कोई कैद नहीं लगाता, सिर्फ सम्पत्ति के समान रूप से बट जाने का निर्णय उसे चाहिए। इसके विपरीत अपरिग्रह जीवन की साधारण आवश्यकताओं तक ही मनुष्य को परिमित बना देना चाहता है। अतएव इसमें मनुष्य के लिए स्वेच्छा-पूर्वक त्याग, संयम और उसके फल-स्वरूप सामाजिक तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता अधिक रहेगी।

पूर्ण-स्वतन्त्रवादी में और समाजवादी में एक यह भी अन्तर है कि पहला अहिंसा को शुरू से लेकर अन्त तक अनिवार्य और अटल मानता है। यह कहना कि संक्रमण-काल में अहिंसा अनिवार्य है, यही नहीं बल्कि वह अन्तिम अस्त्र है, पूर्ण-स्वतन्त्रतावादी की समझ में नहीं आता। आपद्धर्म के रूप में जो बात स्वीकार की जाती है उसके समर्थन का और प्रचार का उद्योग कहीं नहीं किया जाता—अधिक-से-अधिक उसका तात्कालिक बचाव-मात्र किया जा सकता है, और उसे अन्तिम अस्त्र की महत्ता तो हर्गिज नहीं दी जा सकती। अंतिम अस्त्र के मानी हैं सर्वोपरि अस्त्र। एक ओर हिंसा को सर्वोपरि अस्त्र मानना, और व्यवहार में भी उसका इसी तरह इस्तेमाल करना, इस बात में कैसे श्रद्धा पैदा कर सकता है कि हां, समाजवाद की अन्तिम अवस्था में हिंसा का पूर्ण अभाव रहेगा? अहिंसा का वास्तविक लाभ और असली महत्त्व तो, अधिकांश रूप में, संक्रमण-काल में ही है; क्योंकि जबतक आप समाज को अहिंसा और सत्य की दीक्षा नहीं दे सकते तबतक आप किसी-न-किसी रूप में सरकार—शासक-संस्था—को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते, जो कि साम्यवाद के आदर्श के विरुद्ध है। और यह आशा करना भी अभी तो व्यर्थ-सा मालूम होता है कि जबरदस्त और घोर हिंसा-बल के द्वारा एक क्रान्ति हो। उसी प्रकार यह आशा करना भी व्यर्थ-सा ही है कि हिंसा-बल के द्वारा आज भी शासन-संस्था का संचालन होता हो, फिर भी समाज में अहिंसा दिन-दिन बढ़ती ही

जायगी। समाज में अहिंसा तो तभी बढ़ सकती है, जब समाज के नेता शासन के सूत्रधार, अपने जीवन में उसे परमपद दें; अहोरात्र उसके प्रचार में रत रहें, उससे भिन्न या विपरीत भावों का उत्साह और बल अपनी साधना और व्यवस्था के द्वारा न बढ़ने दें; बाहरी बल से किसी को न दबाया जाय, बल्कि भीतरी परिवर्तन से मनुष्य और समाज को ऊँचा उठाया जाय, शान्ति-प्रिय बनाया जाय। इसके विपरीत यदि अग्रणी लोग खुद ही, उसके दायें-बायें हाथ सभी, मुँह से आगे के लिए अहिंसा का नामोच्चारण करें, पर क्रिया में सर्वदा हिंसावादी रहें तो इस पर कौन तो विश्वास करेगा और किस तरह समाज में हिंसा-वृत्ति का लोप हो सकता है? यह तो जहर पिलाकर अमर बनाने का आश्वासन देना है। जहां असहिष्णुता इतनी बढ़ी हुई हो कि विरोधी मत तक नहीं प्रकाशित किया जा सकता, सो भी लोकमत के बल पर नहीं, बल्कि जेलखाने और पिस्तौल के बल पर, वहां हिंसा के नाश की बात एक मखौल ही समझी जा सकती है। मुझे तो ये बातें परस्पर-विरोधी और एक-दूसरे का घात करनेवाली मालूम होती हैं। अस्तु।

ईश्वर और धर्म पर पहले सविस्तर विचार हो ही चुका है। यहां तो सिर्फ इतना ही कहना काफी होगा कि रूस की नकल हिन्दुस्तान में नहीं हो सकती—महज इसलिए नहीं कि दोनों जगहों की परिस्थितियों में ही अन्तर है, बल्कि इसलिए भी कि समाजवाद के माने गये उसूलों में ही अव्वल तो कमी है और दूसरे उसके साधन भी शुद्ध और आदर्श तक ले जानेवाले नहीं हैं। इस कमी को पूरा करना भारतवर्ष का काम होगा। वह संसार को समाजवाद का नमूना नहीं, बल्कि पूर्ण-स्वतन्त्रता की झलक दिखावेगा। सत्य और अहिंसा उसके पाये होंगे और अपरिग्रह उसका व्यावहारिक नियम। वह सिर्फ अमीरों की जगह गरीबों का राज्य नहीं कायम करेगा, सिर्फ तख्ता नहीं उलट देगा, बल्कि सर्वोदय का प्रयत्न करेगा—शासन-संस्था बनेगी और रहेगी तो ऐसी कि किसी वर्ग-विशेष या जाति-विशेष से द्वेष न होगा, और जब शासन-संस्था को मिटाने का समय आ जायगा तब कोई किसी का हाकिम या शासक नहीं रहेगा; बल्कि सब अपने-अपने घर के राजा रहेंगे और होंगे। यही संसार को भारत का सन्देश होगा।

६ : भारत की स्वतन्त्र सरकार

तो स्वतन्त्र भारत की जनतन्त्री सरकार कैसी होनी चाहिए ? वह जनता की सरकार होनी चाहिए; फिर भी वह ऐसी न हो जिसमें किसानों और मजदूरों के अलावा किसी की पहुंच और गुजर ही न हो। उसमें राय देने का अधिकार केवल 'श्रम' पर नहीं, बल्कि 'सेवा' पर हो। आलस्य, परोपजीवन, निकम्मापन, तिरस्कृत हो। श्रम, उद्योग, काम, सेवा का आदर-मान हो। संग्रह की जगह पर अपरिग्रह या त्याग उच्चता की कसौटी हो। भाषा, संस्कृति आदि के आधार पर प्रान्त या सूबों की रचना हो। वे अपनी शासन या समाज-व्यवस्था में स्वतन्त्र हों और यही नियम तथा प्रवृत्ति ठेठ गांव तक में पहुँचाई जाय। हर गांव अपने हर भीतरी काम में स्वतन्त्र हो; सिर्फ दूसरे गांवों की अपेक्षा से ऊपरी सत्ता के अधीन हो। अपने काम और विकास के लिए वह स्वतन्त्र हो और यों सब गांव परस्पर सहयोगी हों। यही नियम कुटुम्ब, धन्धा और व्यक्ति पर भी चरितार्थ हो। हर शख्स अपने काम में स्वतन्त्र, दूसरे की अपेक्षा से सहयोगी और संयमी हो। हर चीज अपनी जरूरत के लिए स्वाश्रयी और दूसरे के सम्बन्ध में पराश्रयी हो। सेना कुछ काल तक रखनी पड़ेगी; पर वह स्थायी नहीं, राष्ट्रीय-स्वयंसेवक-सेना हो। उसका काम अपने ही लोगों को या पड़ौसियों को दबाना, डराना और हड़पना नहीं; बल्कि भीतरी और बाहरी आक्रमणों या ज्यादतियों से देश और समाज की रक्षा करना होगा। पुलिस हिफाजत के लिए और जेलें अपराधियों के सुधार के लिए होंगी। उनके भाव राष्ट्रीय सेवा के होंगे, न कि तनख्वाह पकाने और जोर-जुल्म करने के। शिक्षा सार्वजनिक हो—योग्य और समर्थ नागरिक बनाने के लिए, न कि कारकुन, गुलाम और गली-गली भटकने वाला बनाने के लिए। स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर सब समान-रूप से शिक्षा पाने के मुस्तहक हों। समाज और सरकार में, सार्वजनिक जीवन में, मनुष्य-मात्र में समान अधिकार हों। पेशे या जन्म के कारण कोई अछूत या नीच न समझा जाय। व्यापार-धन्धा व्यक्तिहित के लिए नहीं बल्कि देश-हित और समाज-हित के लिए हो। व्यापार-उद्योग और भिन्न-भिन्न देशों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होगी; पर उनकी आन्तरिक भावना और वृत्ति स्वार्थ-साधना की न रहेगी। धनी, व्यापारी, उद्योगपति, अपने को मालिक नहीं ट्रस्टी समझें। 'सत्य

और अहिंसा के द्वारा पूर्ण स्वतन्त्र होना' आस्तिकता का ध्येय हो। मनुष्य-यन्त्र को पूरा काम मिलने के बाद जड़-यंत्रों से काम लेने का नियम रहे। देश की आवश्यकता से अधिक होने पर ही कच्चा माल बाहर भेजा जा सके। और घरेलू उद्योग-धन्धों में जो चीजें न बन सकें और जिनकी राष्ट्र के लिए परम आवश्यकता हो उन्हीं के लिए बड़े कल-कारखाने खोले जायं। मुख्य उद्योग सरकार के तत्वावधान में चलें। व्यापार-उद्योग स्पर्धा और मालामाल होने के लिए नहीं बल्कि समाज की सुविधा, सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हो। हर व्यक्ति हर काम अपने लिए नहीं बल्कि समाज के लिए करेगा। अपने काम में वह स्वतन्त्र तो होगा पर उसका जीवन अपने लिए नहीं बल्कि समाज के लिए होगा। जमीन का मालिक गांव रहेगा। किसान केवल अपने ही नहीं गांव के हित में जमीन जोतेगा और पैदावार का उपयोग करेगा। खेती के खर्च और उसकी साधारण आवश्यकता से अधिक जो रकम बचेगी उसका नियत अंश लगान के रूप में लिया जायगा। मनुष्य की साधारण आवश्यकताओं के नियम बना दिये जायंगे और उससे अधिक आय या बचत पर राज्य-कर लगाया जायगा। जमींदारों और साहूकारों की पद्धति उठा देनी होगी और गांव की पंचायत की तरफ से किसान आदि प्रसंगोपात्त सहायता देने की व्यवस्था कर दी जायगी। गिरी, पिछड़ी और जरायमपेशा जातियों के सुधार के लिए विशेष प्रयत्न किया जायगा। धार्मिक स्वतन्त्रता और सहिष्णुता रहेगी। ईश्वर और धर्म के सम्बन्ध में कोई विधि-निषेध न होगा। हां, जीवन को नियमित बनाने पर अलबत्ता पूरा जोर दिया जायगा। विवाहित जीवन और कुटुम्ब रहेगा; पर वह शरीर सुख और स्वार्थ के लिए नहीं, नैतिक और सामाजिक उन्नति तथा आत्मिक सुख के लिए होगा। स्वार्थ नहीं बल्कि समाज-सेवा का एक लक्ष्य होगा। दबाव नहीं, बल्कि निर्भयता सबकी एक वृत्ति होगी। प्रत्येक कुटुम्ब और गांव को आवश्यक अन्न, दूध, घी, फल, साग, वस्त्र, शिक्षा, औषधि, स्थान, जल-वायु आदि भरण-पोषण, शिक्षण और रक्षण की सामग्री अबाध रूप से मिलती रहे—ऐसा प्रबन्ध होगा। रेल, तार, जहाज, डाक देश को लूटने के लिए नहीं बल्कि देश की सुविधा, आराम और उन्नति के लिए होंगे। ग्राम आबाद करने और बसाने का अधिक उद्योग होगा, शहरों को फैलाने का नहीं। सारांश यह कि मनुष्य-जीवन और जीवन-व्यवस्था

सरल, सुगम और सुलभकर रहे, इस बात की ओर विशेष ध्यान रक्खा जायगा।

मेरी समझ के अनुसार, भारत की स्वतन्त्र सरकार की कार्य-दिशा ऐसी होनी चाहिए, और ईश्वर ने चाहा तो यही रहेगी।

१० : ग्राम-रचना

अपनी सरकार बनते ही सबसे पहले ग्राम-रचना की ओर ध्यान गया है। अभी गांव जिस तरह बसे हुए हैं उसमें न तो कोई तरीका ही दीख पड़ता है, न सफाई का ही ध्यान रक्खा गया है। मकानों में काफी हवा और प्रकाश नहीं रहता। गांव आसपास की जमीन से कुछ ऊंचाई पर होने चाहिएं। कतार और सिलसिले से मकान बने हों, रास्ता काफी चौड़ा हो, पनाले हों, गोबर और खाद के लिए पूर्व या दक्षिण दिशा में एक जगह मुकर्रर हो। मनुष्य के पाखाने और पेशाब का कोई उपयोग गांवों में नहीं होता। इसलिए खेतों पर चलते-फिरते पाखानों का प्रबन्ध हो और यह नियम रहे कि कोई सिवा बीमार के इधर-उधर पाखाने न बैठे। पशु-शाला भी स्वच्छ-सुघड़ रहे। ग्राम-पाठशाला में पशु-रक्षा और पशु-चिकित्सा भी पढ़ाई जाय। खेती और उद्योग-धन्धों का पुस्तकीय और असली ज्ञान कराया जाय। सर्व-साधारण का एक उपासना-मन्दिर रहे। उपासना ऐसी हो, जिसमें सब धर्मों-मजहबों और जातियों के लोग आ सकें। घर में अपनी-अपनी विशिष्ट पद्धति से पूजा-अर्चा करने की स्वाधीनता प्रत्येक व्यक्ति और कुटुम्ब को रहे। गांव की एक पंचायत हो, जिसमें सभी जाति-पांति और पेशे के बालिग लोगों को चुनाव का अधिकार हो और प्रतिवर्ष उसका चुनाव हुआ करे। प्रतिनिधि-मण्डल की, पंचायत की बैठक नियत समय पर हो, जिसमें आपस के लड़ाई-झगड़े, स्वच्छता, औषधि, पाठशाला, उपासना-मन्दिर, गोशाला, खेती-सुधार आदि ग्राम-सम्बन्धी सभी विषयों पर विचार और निर्णय हो। अन्याय और अत्याचार की अवस्था में हलके की बड़ी पंचायत में अपील हो। कई गांव मिलकर हलके हों और कई हलके मिलकर तहसील। इसी तरह कई तहसील मिलकर जिला और जिलों से प्रांत आदि हों। प्रान्त-विभाजन भाषा और संस्कृति के आधार पर हो। ग्राम-सभ्यता के विकास की ओर पूरा ध्यान दिया जाय। ग्रामों के कारण स्वतंत्रता बिखरी हुई रहती है। शहरों के

कारण एक जगह एकत्र हो जाती है। सत्ता या स्वतंत्रता जितनी ही एकत्र या केन्द्रित होगी उतनी ही जनता या सर्व-साधारण की पराधीनता बढ़ेगी। नगरों की वृद्धि से बनी आबादी, कुटिलता, कृत्रिम साधन, अनीतिमय जीवन, दुर्व्यसन और परावलम्बिता बढ़ती है। इसके विपरीत ग्राम-जीवन में सरलता, स्वाभाविकता, स्वावलम्बन, सुनीति और सुजनता का विकास होता है।

प्रत्येक गांव की जमीन निश्चित हो और वह आवश्यकतानुसार प्रत्येक कुटुम्ब में बँटती रहे। मनुष्य के जीवन का—रहन-सहन का—एक साधारण नमूना बना लिया जाय और उसके अनुसार सबको सब बातें सुलभ कर दी जायं। जमीन में किसान सब तरह की आवश्यक चीजें पैदा करें और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति होने के बाद उन्हें बेचें। लगान सिर्फ उतना ही हो, जितना छोटी या बड़ी पंचायतों के खर्च आदि के लिए जरूरी हो या बचत का एक उचित अंश-मात्र लिया जाय। किसान खुद ही नियत समय पर पंचायत में लगान दे आया करें। लड़ाई-झगड़े या अन्याय-अत्याचार की अवस्था में ही पंचायत किसी के जीवन में हस्तक्षेप करे। परस्पर सहयोग का भाव प्रबल हो। दूध-घी की इफरात हो। कोई चीज गांव के बाहर तभी जाय, जब उसकी आवश्यकता गांववालों को न हो या दूसरे गांववालों का जीवन उसके बिना कठिन और असम्भव होता हो। पंचायत या राष्ट्र के खर्च के अलावा और किसी प्रकार का कर या लगान किसान पर न हों, यों पंचायत का सब काम नियमाधीन हो; परन्तु यदि कोई ऐसा नियम किसी प्रकार बन गया हो जिससे लोगों का अहित होता हो, या अनीतिमय हो, तो व्यक्तियों को उसे तोड़ने का अधिकार हो, बशर्ते कि वे उसकी सजा पाने को तैयार हों। ऐसे कानून-भंग का अधिकारी वही मनुष्य हो सकता है, जो सब दशाओं में और नियमों का पूरा-पूरा पालन करता हो। ग्राम में एक पुस्तकालय हो, जिसमें प्रान्त के अच्छे अखबार, प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय भाषाओं की आम पुस्तकें, मासिक पत्र रहें और उसके लिए कोई फीस न रहे।

प्रत्येक ग्रामवासी पहले अपने को मनुष्य, फिर हिन्दुस्तानी, फिर किसी जाति-पांति या पेशे का माने। अपने ग्राम-सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन करते हुए भी वह हलके, तहसील, जिला, प्रान्त या देश-सम्बन्धी कर्त्तव्यों के पालन में उदासीन न रहे। राष्ट्र या प्रान्त की

पुकार पर वह सबसे पहले दौड़े । ग्राम-कार्यों में वह स्वतंत्र और देश-कार्यों में परस्पराश्रित रहे । उसके जीवन में आवश्यकता की प्रधानता रहे, शौक की नहीं । सुन्दरता, कला और सुघड़ता का वह प्रेमी हो; पर विलासिता, कृत्रिमता और इच्छाओं का गुलाम नहीं । तम्बाकू, अफीम, इन दुर्व्यसनों को वह छोड़ दे और चाय, काफी को अपने गांव म न घुसने दे । वह परिश्रमी और कार्य-रत हो—ठलुआ, आलसी और बेकार नहीं । शारीरिक श्रम ही उसका जीवन होने के कारण अलग व्यायामशाला या खेलों की उसे आवश्यकता न हो । खेतों और जंगलों में काम करना उसके लिए व्यायाम, मनोरंजन, और कमाई सब एक साथ हों । खेती से जब फुरसत मिले तो वह कपड़े, रस्सी, टोकरी, मकान तथा औजार-बनाई में अपना समय लगावे । कताई घर-घर में हो और बुनाई गांव-गांव में । नमक, दियासलाई और मिट्टी का तेल—इन तीन चीजों को छोड़कर शेष सब चीजें प्रायः प्रत्येक ग्रामवासी अपने गांव में पैदा कर ले । बुननेवाले, जूता बनानेवाले, लकड़ी का काम करनेवाले अलहदा हों भी तो उनसे किसी प्रकार की घृणा न करे । गन्दगी और बुराई से नफरत हो, न कि किसी व्यक्ति या जाति से । गांव के कामों के लिए मजदूरी की प्रथा न हो बल्कि एक-दूसरे के सहयोग से खेती-बाड़ी के तथा सामाजिक काम होते रहें । अव्वल तो जमीन और धन्धों का बँटवारा या प्रबन्ध ही इस तरह होगा कि जिससे गांव में या आसपास किसी को अपना पेट भरने के लिए चोरी, डाका आदि न करना पड़े; फिर भी जबतक ऐसी स्थिति न हो जाय तबतक गांव के युवक खुद ही बारी-बारी से गांव की चौकी देते रहें । सब जगह आवश्यकता-पूर्ति ही मुख्य उद्देश्य हो—इसलिए नमक, तेल, दियासलाई, रुई आदि गांवों में सहज ही न आनेवाली चीजों के अलावा और चीजों की खरीद-बिक्री स्वभावतः नहीं के बराबर होगी । इससे उन्हें सिक्के, नोट आदि की जरूरत भी बहुत कम रह जायगी । जीवन के लिए आवश्यक प्रायः सब बातों का सान्निध्य होगा, इसलिए नैतिक जीवन अपने-आप अच्छा और ऊंचा रहेगा क्योंकि जब जीवन की आवश्यकताओं का स्वाभाविक और सीधा मार्ग रुक जाता है तभी मनुष्य नीति और सदाचार से गिरने लगता है । अंग्रेजी राज्य में भारत का जितना नैतिक अधःपतन हुआ है उतना न तो मुसलमानों के काल में था, न उससे पहले । बल्कि चन्द्रगुप्त के काल में तो यहां मकानों में

ताले तक न लगते थे। सरकार अपनी व जनता की हो जाने के बाद हर गांव की यह स्थिति हो सकती है कि न मकानों में ताले लगें, न गांव में चौकी देनी पड़े।

कैसा लुभावना है यह गांव का दृश्य। क्यों न हम आज ही से ऐसे गांव बनाने में अपना दिमाग और दिल दौड़ावें ?

११ : उपसंहार

यहां तक हम ने स्वतन्त्रता के सच्चे स्वरूप, उसके प्रकाश में समाज व शासन-व्यवस्था के वास्तविक आधार व उनके साधनों की भरसक जानकारी प्राप्त कर ली। इससे हमें अपने व समाज के जीवन की सच्ची दशा व उनके प्रति अपने कर्तव्यों का भी भान हुआ। अब उपसंहार में हम इतना और देख लें कि भारत के सामने इस समय प्रधान समस्या क्या है और वह कैसे हल हो सकती है। इस समय केन्द्र में कांग्रेसी या राष्ट्रीय सरकार है। विधान-सभा के पूर्ण हो जाने पर सच्ची व पक्की सरकार बनने की हालत में हम अपने को पावेंगे। प्रान्तों में लोकप्रिय सरकारें काम कर रही हैं। सब के सामने तात्कालिक प्रश्न है देश की भीतरी दशा को ठीक करना और रही-सही गुलामी के बन्धनों को तोड़ फेंकना। यदि योजना के अनुसार हम ठीक-ठीक चल सके, और लीगी झगड़े शान्त हो गये तो दो साल में हम आजादी का उत्सव मना सकेंगे—इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं मालूम होता। यों तो भीतरी दशा सुधारने में हमें वर्षों परिश्रम करना पड़ेगा; लेकिन आजाद हिन्दुस्तान की वास्तविक सरकार बनने में जल्दी कामयाब हो सकेंगी।

भीतरी व्यवस्था में यह प्रश्न सामने आयगा व आरहा है कि उसका स्वरूप समाजवादी हो या गांधीवादी अथवा जनतावादी या डा० भारतन् कुमारप्पा के शब्दों में गाँववादी ? दूसरे शब्दों में, आपको केन्द्रीकरण की ओर जाना है या विकेन्द्रीकरण की ओर ? समाजवाद का निश्चित परिणाम होगा केन्द्रीकरण, जब कि गाँधीवाद विकेन्द्रीकरण चाहता है। पूंजीवाद व साम्राज्यवाद की मुख्य बुराई है केन्द्रीकरण, वह समाजवाद में कायम रहती है। बड़े पैमाने पर माल बनाना याने बड़े-बड़े कारखाने रखना, केन्द्रीकरण का ही नमूना है। यदि हमें जनता के केवल ऊपरी सुख व समानता की ही ओर देखना हो तब तो

समाजवाद से कुछ हद तक हमारा काम चल जायगा; परन्तु यदि हमें उसे स्वावलम्बी, सतेज, आत्म-विश्वासी, आत्म-रक्षक, निर्भय, न्याय-परायण, शान्ति-प्रेमी, बनाना हो तो समाजवाद उसमें लंगड़ा साबित होगा। उसकी पूर्ति गाँधीवाद से ही, पूर्ण स्वतन्त्रता का जो आदर्श इस पुस्तक में उपस्थित किया गया है, उससे तो हो सकती है। जब तक हम सम्पत्ति और सत्ता दोनों की व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त से काम न लेंगे तब तक हम जनता में सच्ची शान्ति, समता व स्वतन्त्रता का राज्य न स्थापित कर सकेंगे। इस व्यवस्था में जो भी सरकार बनेगी वह शासक-मण्डल नहीं, व्यवस्थापक मण्डल रहेगी या यों कह लीजिए कि वह जनता व समाज के ट्रस्टी के रूप में काम करेगी। आदर्श समाज में सम्पत्ति तो रहेगी ही और उसकी व्यवस्था समाज को करनी पड़ेगी। यह दो तरह से हो सकती है; एक तो खुद सरकार कुछ सम्पत्ति की ट्रस्टी बने, दूसरे कुछ की रक्षा का भार व्यक्तियों पर ही रहने दे। मूलभूत उद्योग—उत्पादन के साधन (Key Industries) सरकार के नियन्त्रण में रहें, दूसरे काम-धन्धे लोगों के हाथों में रहें व चलें। ये लोग उनके मालिक नहीं, ट्रस्टी रहें। अर्थात् ट्रस्ट के दो रूप हुए—एक सामूहिक या सामाजिक रूप, दूसरा वैयक्तिक रूप। आज भी कानून में ट्रस्टियों पर कुछ जिम्मेवारियाँ हैं, जिनका पालन करने के लिए ट्रस्टी राज-नियमानुसार बंधे हुए हैं। आदर्श व्यवस्था में भी जो व्यक्ति छोटे-बड़े काम-धन्धे करेंगे वे राज-व्यवस्था के अनुसार उनके ट्रस्टी होंगे और राज-नियमानुसार उसका सञ्चालन करते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे। हाँ, ट्रस्ट-कानून में अलबत्ते जरूरी सुधार करने होंगे।

फिर भी आदर्श या भावी समाज व्यवस्था के बारे में आज तो हम एक कल्पित चित्र ही पेश कर सकते हैं। बुनियादी उसूल ही असली चीज है, व्यवस्था व योजनाओं के स्वरूप व कानून को हमारी विकसित स्थितियों के अनुसार बदलते रहेंगे। आज तो हमारे लिए यह निर्णय कर लेना जरूरी है कि हम केन्द्रीकरण की ओर बढ़ें या विकेन्द्रीकरण की ओर? पूर्ण स्वतन्त्रता का आदर्श हमें विकेन्द्रीकरण की ओर ही उँगली दिखाता है।

परन्तु इस पुस्तक के पढ़ लेने मात्र से हमारे उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो जायगी।

वह तबतक नहीं हो सकती जबतक अपने विचार या ज्ञान के अनुकूल हमारा आचरण नहीं होता। जानकारी या ज्ञान बहुत हो गया, विचार बहुत अच्छे हैं, भावनाएँ बहुत शुद्ध और ऊँची हैं, परन्तु आचरण व पुरुषार्थ यदि वैसा नहीं है तो वह उस खजाने की तरह है, जिसका ताला बन्द है। उससे न अपने को ही विशेष लाभ होता है, न जन-समाज को ही। इसके विपरीत यदि हम कार्य तो बहुतेरे करते रहें, किन्तु यदि वे ज्ञान-युक्त नहीं हैं, विवेक और विचार-पूर्वक नहीं किये जाते हैं तो उसका परिणाम भी पहाड़ खोदकर चूहा निकालने के बराबर हो जाता है; क्योंकि यदि निर्णय आपका ठीक नहीं है, कार्य-प्रणाली निर्दोष नहीं है, कार्य-क्रम विधिवत् नहीं है, मूल-प्रेरणा शुद्ध नहीं है तो अपके कार्य का फल हरगिज ऐसा नहीं निकल सकता जिससे आपके या समाज के जीवन का विकास हो, उनकी गति स्वतंत्रता या सम्पूर्णता की ओर बढे। जैसा आपका संकल्प होगा, वैसे ही आप अपने कार्य को, फलत. अपने को बनावेंगे। संकल्प तभी अच्छा हो सकता है जब चित्त शुद्ध हो। चित्त-शुद्धि का एक ही उपाय है, राग और द्वेष से अपने को ऊपर उठाना। कहा ही है—

'क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे।'

अर्थात्—सफलता बाहरी साधनों पर नहीं, बल्कि मनुष्य के सत्य पर यानी शुद्ध बुद्धि और शुद्ध भाव पर अवलम्बित है।

ऐसी दशा में पाठक यह समझने की भूल न करें कि इस पुस्तक को पढ़ लिया और बस अपना कर्तव्य पूरा हो गया। बल्कि सच पूछिए तो उसके बाद उनका कर्तव्य आरम्भ होता है। यदि इसके द्वारा उन्हें अपने जीवन की ठीक दिशा मालूम हो जाय, और उन्हें अपना कर्तव्य सूझ जाय तो तुरन्त ही उन्हे तदनुकूल अपना जीवन-क्रम बनाने में तत्पर हो जाना चाहिए। उसके बिना उन्हे न इस पुस्तक का, न अपने जीवन का ही सच्चा स्वाद मिल सकेगा। उन्हे जान लेना चाहिए कि जीवन कोई खिलवाड़ या मनोरंजन अथवा आमोद-प्रमोद की वस्तु नहीं है। वह बहुत गम्भीर और पवित्र वस्तु है जो हमें बरसों की संस्कृति के साथ विरासत में मिली है और हमें, सच्चे और अच्छे उत्तराधिकारी की तरह, उसकी शुद्धि और वृद्धि करनी है। जिस प्रकार एक विद्यार्थी जी-जान से सचिन्त रहकर परीक्षा की तैयारी करता है, या वह पिता—जिसकी लड़की का ब्याह होता हो, एक क्षण की भी विश्रान्ति या

निश्चिन्तता के बिना, एक के बाद दूसरे कार्य में लग जाता है, उसी तरह एक मनुष्य जबतक एक नियत कार्यक्रम लेकर अपने जीवन को बनाने के लिए छटपटायगा नहीं तबतक सम्पूर्णता और स्वतन्त्रता तो दूर, मनुष्यता की शुरूआत भी उससे नहीं हो सकती। अतएव मेरी उन तमाम भाई-बहनों से, जिनके हाथ में यह पुस्तक पड़ जाय, साग्रह प्रार्थना है कि वे पुस्तकों के साथ ही महापुरुषों के जीवनों को भी पढ़ें। महापुरुष इसीलिए आते हैं कि अपने महान् उदाहरण और कर्म-कौशल के द्वारा जगत् और जीवन को कर्म की सच्ची दिशा दिखावें। पुस्तकें पढ़ने से विचार-जागृति होती है, किन्तु महापुरुषों का प्रत्यक्ष जीवन और उनका सम्पर्क हमें तदनुकूल जीवन बनाने की ओर ले जाता है और हमारा वर्षों का कार्य महीनों और कभी-कभी तो मिनटों में पूरा हो जाता है। हम सिद्धांत, आदर्श तथा ज्ञान की बहुतेरी बातें जान और मान तो लेते हैं; परन्तु हमें उनकी सचाई का, वास्तविकता का, या व्यावहारिकता का इत्मीनान महापुरुषों के जीवनों से ही अच्छी तरह होता है। पुस्तक तो उनके अनुभव या आविष्कृत ज्ञान का एक जड़ और अपूर्ण संग्रह-मात्र हो सकती है। इसलिए जीवन बनाना हो, जीवन को सुखी, स्वतंत्र और सम्पूर्ण बनाना हो तो अपने काल के महापुरुषों के प्रत्यक्ष जीवन को पढ़ो, उनके स्फूर्तिदायी सम्पर्क और संसर्ग से अपने जीवन में चैतन्य को अनुभव करो एवं अपनी-अपनी आत्मा को विश्वात्मा में मिला दो। योग-साधक अरविन्द ने क्या खूब कहा है—

> 'हैं ये तीनों एक—ईश, स्वातन्त्र्य, अमरता;
> आज नहीं तो कभी सिद्ध होगी यह समता।'

अरे ओ, मानव! कब तेरे जीवन में यह समता सिद्ध होगी?

परिशिष्ट भाग

१ : 'जीव' क्या है ?

'जीव' के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार प्रचलित हैं। यहां हम उनको संक्षेप में जान लें। यों शरीरबद्ध चैतन्य जीव कहलाता है। कुछ लोग कहते हैं—"परमात्मा के तीन गुण या विशेषण हैं—सत्, चित् आनन्द। जीवात्मा में सिर्फ दो सत्-चित् हैं। जीव सुख-दुःखमय है। जीव अणु (बिन्दु), परमात्मा विभु (सिन्धु) है। बाज लोगों के मत में परमात्मा की संकुचित केन्द्रस्थ अहन्ता का नाम ही जीव है। कुछ की राय में देश-काल से मर्यादित परमात्मा जीवात्मा है। शंकराचार्य की सम्मति में शरीर तथा इन्द्रिय-समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को जीव कहते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि माया के परिणामस्वरूप स्थूल और सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा जीव कहलाता है। गीता के अनुसार जीव परमेश्वर की पराप्रकृति अर्थात् उत्कृष्ट विभूति या अंश है। इसे क्षेत्रज्ञान व प्रत्यगात्मा भी कहते हैं। जैन धर्म में जीव आत्मा का वाचक है। वे जीव को सामान्यतः दो प्रकार का मानते हैं : बद्ध (संसारी) और मुक्त। वेदान्त के अनुसार अन्तःकरण से घिरा चैतन्य जीव है।

अद्वैत मत में जीव स्वभावतः एक है, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण नाना प्रतीत होता है। परन्तु रामानुज-मत में जीव अनंत हैं, वे एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। माध्व मत में जीव अज्ञान, मोह, दुःख, भयादि दोषों से युक्त तथा संसारशील होते हैं। निम्बार्क-मत में चित् या जीव ज्ञान-स्वरूप है। वल्लभ-मत के अनुसार जब भगवान् को रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है तब वे अपने आनंदादि गुणों के अंशों को तिरोहित करके स्वयं जीव-रूप ग्रहण कर लेते हैं।

श्री किशोरलाल मश्रुवाला ने 'जीवन-शोधन' में जीवात्मा परमात्मा का भेद इस प्रकार बताया है—चैतन्य दो प्रकार से हमें उपलब्ध होता है—एक तो सजीव प्राणियों में देखा जाने वाला, दूसरा स्थावर, जंगम तथा जड़-चेतन सारी सृष्टि में व्याप्त। शास्त्रों में पहले के लिए जीव अथवा प्रत्यगात्मा शब्द का प्रयोग किया गया है, और दूसरे के लिए परमात्मा परमेश्वर, ब्रह्म आदि नाम दिये गए हैं। दोनों की विशेषताएं इस प्रकार हैं :

प्रत्यगात्मा	परमात्मा
१—विषय-सम्बन्ध होने से ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है।	१—विषय व प्रत्यगात्मा दोनों का उपादान कारण-रूप ज्ञान-क्रिया-शक्ति है। ज्ञातापन, कर्त्तापन तथा भोक्तापन के भान का कारण अथवा आश्रय है।
२—कामना व संकल्प युक्त है।	२—कामना अथवा संकल्प (अथवा व्यापक अर्थ में कर्म) फल-प्राप्ति का कारण है और इस अर्थ में कार्य-फल-प्रदाता है।
३—पाप-पुण्यादि तथा सुख-दुःखादि के विवेक से युक्त अतएव लिप्त है।	३—अलिप्त है।
४—ज्ञान-क्रियादि शक्तियों में अल्प अथवा मर्यादित है।	४—अनंत और अपार है।
५—पूर्ण स्वाधीन नहीं है।	५—तंत्री या सूत्रधार है।
६—इसकी मर्यादाएं नित्य बदलती रहती हैं। अतः स्वरूप दृष्टि से नहीं, बल्कि विकास अथवा सापेक्ष दृष्टि से परिणामी है।	६—अपरिणामी है और परिणामों का उत्पादक कारण है।
७—'मैं' रूप से जाना जाता है।	७—'वहां' रूप में जाना जाता है और इसलिए 'तू' रूप से सम्बोधित होता है।
८—उपासक है।	८—उपास्य, पूज्य, वरेण्य और शरण्य है।

गीता के अनुसार परमात्मा की दो प्रकार की प्रकृतियां अथवा स्वभाव हैं—एक अपर प्रकृति और दूसरी पर प्रकृति। अपर प्रकृति के आठ प्रकार के भेद विश्व में दिखाई देते हैं—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश—इन

महाभूतो के रूप में तथा मन, बुद्धि और अहंकार के रूप में अर्थात् इन आठ प्रकारों में से परमात्मा के स्वरूप के साथ कम-से-कम एक स्वभाव उसकी अपर प्रकृति के रूप में जुड़ा हुआ दीखता है। इसके सिवा परमात्मा का एक पर-स्वभाव भी, विश्व में जहां-जहां अपर प्रकृति विदित होती है वहां-वहां, सर्वत्र उसके साथ ही रहता दिखाई देता है।

'ज्ञानेश्वरी' में बताया गया है कि आत्मा जब शरीर में परिमित ही प्रतीत होता है उसकी आफत के कारण वह मेरा (भगवान् का) अंश जान पड़ता है। वायु के कारण समुद्र का जल जब तरंगाकार हो उछलता है तो जैसे वह समुद्र का थोड़ा-सा अंश ही दिखाई देता है वैसे ही इस जीव-लोक में मैं जड़ को चेतना देने वाला, देह में अहन्ता उपजाने वाला जीव जान पड़ता हूं।

'गीता-मन्थन' के अनुसार पानी के जुदा-जुदा बिन्दु जिस प्रकार पानी ही है, और अलग होने पर भी शामिल हो सकते हैं उसी तरह जुदा-जुदा जीव रूप दिखाई देने वाले पदार्थ भी उस अच्युत ब्रह्म के यों कहना चाहिए कि अंश ही है।

रामकृष्ण परमहंस कहते हैं—लोहे व चुम्बक की तरह ईश्वर व जीव का सम्बन्ध है। लोहा साफ होगा तो चुम्बक उसे झट खींच लेगा। जीव माया से घिरा रहने के कारण ईश्वर के निकट नहीं जा सकता। जिस प्रकार स्रोत के जल मे एक लाठी या पटरी खड़ी कर देने से वह दो भाग में (जल मे व जल के ऊपर) दो दीख पड़ती है, उसी प्रकार अखण्ड परमात्मा माया रूपी उपाधि के द्वारा दो (जीवात्मा व परमात्मा) दीख पड़ता है। पानी का बुलबुला जैसे जल ही से उठता है, जल ही पर ठहरता है और जल ही में लोप हो जाता है वैसे ही जीवात्मा व परमात्मा एक ही हैं। भिन्नता केवल बड़े व छोटे की, आश्रय व आश्रित की है।

आमतौर पर जीव उसे कहते हैं जिसमें चलन-वलन-क्रिया दिखाई पड़े। ये जीव चार प्रकार के हैं (१) उद्भिज—पृथ्वी को फोड़कर निकलने वाले जैसे वृक्ष, वनस्पति आदि, (२) स्वेदज—पसीने या नमी से पैदा होने वाले जैसे कृमि, कीट आदि, (३) अण्डज—अण्डा फोड़ कर निकलने वाले जैसे मुर्गे, कबूतर, पक्षी आदि और (४) जरायुज—यानी झिल्ली या ओर को खोलकर निकलने वाले, जैसे पशु, मनुष्य आदि। पृथ्वी पर मनुष्य सर्वोपरि सृष्टि है। इसमें मन-बुद्धि का विकास सबसे

अधिक पाया जाता है। कई योनियों-श्रेणियों में भटकता या विकास पाता हुआ जीव मनुष्य योनि में आता है; किन्तु वह अज्ञान, कामना, व कर्मों के कारण ऊँची-नीची योनियों में भ्रमता हुआ, अपनी वास्तविक गति को नहीं जान पाता। वह दुर्लभ माना जाता है। मनुष्य इस नर-देह में ही सुकृत का अधिकारी है। इसलिए इसका और भी महत्त्व है।

२ मानव-जीवन की पूर्णता

बहुत कम लोग ऐसे हैं जो कभी इस बात का विचार करते हैं कि मानव-जीवन क्या है और उसकी पूर्णता के क्या मानी हैं? किसी साहित्य-सेवी से आप पूछिए कि आप साहित्य-सेवा क्यों करते हैं तो वह या तो यह जवाब देगा कि मुझे साहित्य-सेवा प्रिय है, या यह कहेगा कि मुझे लिखने का शौक है। कोई शायद यह भी कहे कि जीविका के लिए; परन्तु शायद ही कोई यह उत्तर दे कि मानव-जीवन को पूर्णता की तरफ ले जाने में सहायक बनने के लिए। मनुष्य आमतौर पर खाने-कमाने या मौज-मजा करने में निमग्न है। इससे भिन्न या आगे के जीवन के बारे में विचार करने के झंझट में वह नहीं पड़ता। साहित्य-रचना हो, कला-कृति हो, देश-सेवा हो, चाहे सरकारी नौकरी या स्वतंत्र धन्धा हो, इनके करने वालों में विरले ही ऐसे होंगे जो जीवन को, जीवन-विकास को, लक्ष्य करके इन कामों में पड़े हों। उदर-पूर्ति और आमोद-प्रमोद में ही उनके जीवन का सारा व्यापार सीमित रहता है। उनके सुख या आनन्द की कल्पना इससे आगे नहीं जाती। शारीरिक या भौतिक सुख से आगे बढ़ें भी तो मानसिक आनन्द में जीवन की इति-श्री मान लेते हैं। एक मनुष्य की तरह जीवित रहने, मानवोचित गुणों, शक्तियों की वृद्धि और विकास, मनुष्यता के विरोधी या विघातक दोषों, दुर्गुणों और कमजोरियों का ह्रास करना, इन बातों का कोई स्वतंत्र महत्त्व और स्थान है—इसकी तरफ बहुत कम लोग ध्यान देते हैं। वास्तविक लक्ष्य को भूलकर जीवन के किसी अंग को पकड़े बैठे रहते हैं, जिससे उनका जीवन एकांगी, संकुचित और क्षुद्र बना रहता है। जब हमारी आकांक्षा ही उच्च और पूर्ण नहीं है तो न हमारी वृत्ति उदार और विशाल हो सकती है, न विचार ही दूरगामी, व्यापक और चतुर्मुख हो सकते हैं; और न कर्म ही शुद्ध, दृढ़, मुक्त और प्रगतिशील हो सकते हैं।

जिस प्रकार किसी बीज में सारा पौधा, पुष्प, फल और फिर नये

बीज समाविष्ट रहते हैं उसी प्रकार मानव-जीवन के बीज—आत्मा—में उगने, बढ़ने, फूलने-फलने और फिर नये बीज निर्माण करने का गुण, प्रवृत्ति और क्रिया छिपी रहती है। जरूरत है अनुकूल परिस्थिति और वातावरण की, उचित संगोपन और लालन-पालन की। अतएव मनुष्य को ध्यानपूर्वक लगन के साथ जो कुछ करना है वह तो इतना ही है कि बाह्य परिस्थिति को अनुकूल बनावे। इसका यह अर्थ हुआ कि वह बुराई में से अच्छाई, असत् में से सत्, अन्धकार में से प्रकाश को पाने और पकड़ने का प्रयत्न करे। इसी का नाम जीवन-संघर्ष है। छोड़ने और पाने के प्रयत्न का नाम ही संघर्ष है। जीवन में, प्रकृति में, पल-पल में निरंतर संघर्ष है, इसीलिए, प्रगति, विकास और वृद्धि है। इसका अन्तिम परिणाम है पूर्णता।

संघर्ष में मनुष्य कई बार थक जाता है, हार जाता है, निराश और उत्साहहीन हो जाता है। इसका कारण यह है कि वह असत् और अंधकार के बजाय सत और प्रकाश से भिड़ जाता है, जिसे छोड़ना है उसी को ग्रहण करने लगता है। यह भ्रम और अज्ञान ही उसकी थकान और हार के मूल में होता है। जब मनुष्य भटक जाता है, विकास की, विशालता की ओर से संकोच और क्षुद्रता की ओर आने लगता है, मुक्तता से बन्धन में पड़ने लगता है तब भी, दर असल, वह चुनाव में ही *गलती कर जाता है।*

सही चुनाव मनुष्य उसी अवस्था में कर सकता है जब वह वस्तुओं और व्यक्तियों को अपने शुद्ध, असली रूप में देख पावे, देखने की प्रवृत्ति रक्खे। इसके लिए बुद्धि का निर्मल और भेदक होना जरूरी है। भेदकता निर्मलता का ही परिणाम है। बाहरी आवरण कई बार भ्रमोत्पादक और गुमराह कर देने वाला होता है। विभिन्न तो वह होता ही है। अतएव जिसे अन्तर्दृष्टि नहीं है वह चुनाव में अक्सर ग़लती कर जाता है और गलत जगह संघर्ष कर बैठता है, जिसका परिणाम होता है पराजय और निराशा।

जब हम असत् और अंधकार से संघर्ष करते हैं तब हम बन्धनों से मुक्तता की ओर जाते हैं, क्योंकि असत् और अन्धकार ही तो बन्धन हैं। बन्धन से मुक्ति पाने की क्रिया ही संघर्ष है। असत् से सत् की, अन्धकार से प्रकाश की विजय का ही नाम शान्ति है। सत् और असत् के चुनाव में जो अन्तर्द्वन्द्व होता है, वही अशान्ति है। चुनाव के पहले

और गलत चुनाव के पश्चात् अशान्ति होती है। चुनाव सही हुआ है तो संघर्ष में उत्साह, बल और प्रसन्नता रहती है और शान्ति मिलती है। जिस कर्म के आदि, मध्य और अन्त में प्रसन्नता रहती है वह सत्कर्म है और वही शान्ति दे सकता है। कर्म का ही दूसरा नाम है संघर्ष। जगत् अनन्त चेतन, निरंतर गतिशील परमाणुओं से बना है। आप सांस भी लेंगे तो उन परमाणुओं के व्यापार मे कुछ धक्का लगता है। यही संघर्ष है। आप चलेंगे और दौड़ेंगे तो परमाणुओं पर, वस्तुओं पर और व्यक्तियों पर, स्थूल और सूक्ष्म रूप से कम और ज्यादा प्रतिघात होगा। आपकी गति जितनी तीव्र होगी उतना ही तीव्र प्रतिघात अर्थात् संघर्ष होगा। अत्यन्त तीव्र और तुरन्त परिणामदायी संघर्ष का नाम क्रान्ति है। क्रान्ति क्रिया है और शान्ति परिणाम है। परम शान्ति का ही दूसरा नाम जीवन की पूर्णता है। पूर्णता में ही परम शान्ति है। सत् के अखण्ड प्रकाश और संप्राप्ति को ही जीवन की पूर्णता कहते हैं।

३ : सुख का स्वरूप

यदि हम मनुष्यों से पूछें कि संसार में तुम क्या चाहते हो, तुम्हारे जीवन का उद्देश क्या है, तो तरह-तरह के उत्तर मिलेंगे। धन, वैभव, राज्य, पुत्र-संतति, कीर्ति, मान, सम्मान, पद-प्रतिष्ठा मुक्ति, ईश्वर प्राप्ति, शान्ति, सुख, आनंद, ज्ञान, इनमें से कोई एक लक्ष्य वे अपना बतावेंगे। मनुष्य संसार या जीवन में जो कुछ करता है वह इन्हीं से प्रेरित होकर करता है। विचार करने से ये सब लक्ष्य या उद्देश्य दो भागों में बँट जाते हैं---शारीरिक, भौतिक, या ऐहिक तथा मानसिक, पारमार्थिक या आध्यात्मिक। धन से लेकर पद-प्रतिष्ठा तक के उद्देश भौतिक व मुक्ति से लेकर ज्ञान तक विषय आध्यात्मिक कोटि में आते हैं। यदि मनुष्य के जीवन के इन भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के लिए किसी एक ही सर्व-सामान्य शब्द का प्रयोग करना चाहें तो 'सुख' कह सकते हैं।

समाज में यह धारणा प्रचलित है कि भौतिक या सांसारिक सुख—इसी जन्म के लिए आध्यात्मिक व पारलौकिक सुख अगले जन्म या इस जन्म के बाद की अवस्था से सम्बन्ध रखता है। यह सही हो या गलत, यह निर्विवाद है कि मनुष्य जिस तरह का भी सुख चाहता हो उसके लिए उसे उद्योग या परिश्रम अपने वर्तमान जीवन में ही करना पड़ता है। जिस लक्ष्य को लेकर वह चलता है, उसी की सिद्धि में उसे

अपने जीवन की कृतार्थता मालूम होती है।

यह निश्चित है कि आपको जो कुछ करना है वह अपने इस छोटे जीवन में तो जरूर ही कर लेना है। आगे दूसरा जन्म मिलने वाला होगा तो उसमे भी जरूर किया जायगा। परन्तु आप वर्तमान जीवन में तो हाथ-पर-हाथ रक्खे नहीं बैठ सकते। साथ ही आपका उद्देश्य आपके प्रयत्नों से ही सफल हो सकेगा। यदि ईश्वर की कृपा हुई भी तो वह बरसात की तरह एकाएक आकाश से नहीं बरसती। अतः आपके प्रयत्न के स्वरूप में ही किसी व्यक्ति या समूह के द्वारा उसके फल की पूर्ति ईश्वर करता है। इस विषय में आप तटस्थ, उदासीन, निष्क्रिय या ग़ाफिल उसी दशा में रह सकते हैं, जब आपने ऐसा कोई लक्ष्य या उद्देश्य अपने जीवन का नहीं बनाया हो, या उसे छोड़ दिया हो।

सुख चाहे, सांसारिक हो या आत्मिक, बहुत कम मनुष्य संसार में ऐसे मिलेंगे, जिन्हें उस सुख की यथार्थ कल्पना हो, उस सुख के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो। अधिकांश लोग तो रूढि या परम्परा या अपने संस्कारों के अधीन होकर प्रायः अन्धे की तरह इनमें से जो वस्तु उन्हे प्रिय लगती है उसकी प्राप्ति या सिद्धि के पीछे पड़ जाते हैं। इस तथा तत्सम्बन्धी अन्य आनुसंगिक ज्ञान के अभाव में ही वह उसके लाभ से वंचित रहता है, व सुख की जगह दुःख को पल्ले बांध लेता है। आज यदि संसार में हम पूछें कि तुम सुखी हो तो अपने को दुःखी की श्रेणी में रखने वालों की संख्या बहुत बड़ी मिलेगी। प्रयत्न सब सुख का करते हैं, पर पाते हैं अधिकांश में दुःख ही, यह संसार का बड़ा भारी आश्चर्य है। मनुष्य नित्य इसका अनुभव करता है, परन्तु इसका मूल खोजकर उसका सही इलाज करने वाले विरले ही होते हैं।

जब से सृष्टि में मनुष्य जीवधारी पैदा हुआ है तब से उसने नाना प्रकार से विविध साधनों तथा विधानों से सुख-सिद्धि के प्रयत्न किये हैं। उसका आजतक का सारा शब्द-इतिहास इसी उद्योग का साक्षी है। भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएं, संस्थाएं, संस्कृतियां, राज्य, धर्म, काव्य, साहित्य, कला, उद्योग, व्यवसाय, शिक्षा, ज्ञान, तत्व, आचार व तंत्र सब उसके इसी उद्देश्य की पूर्ति के साधन-स्वरूप निर्माण हुए हैं; परन्तु मनुष्य कहीं-कहीं कोई गलती ऐसी जरूर कर रहा है, जिससे वह अपने मूल उद्देश्य से अबतक बहुत दूर रहा है और उसके बजाय न केवल व्यक्तिगत जीवन में; बल्कि सामाजिक राष्ट्रीय जीवन में भी नित्य दुःख,

कलह, वैमनस्य, ईर्ष्या, हिंसा-अत्याचार के दर्शन हो रहे हैं। इसका मूल हमें खोजना ही होगा। जहां-जहां हमें अपनी गलतियां मालूम हों उन्हें दुरुस्त करना ही होगा।

इस गलती को पकड़ने में हमें सहूलियत होगी यदि हम पहले यह अपने को समझायें कि जिस चीज के अर्थात् सुख के पीछे हम पड़े हैं वह असल में है क्या। जब उसका असली स्वरूप समझ में आ जायगा तो फिर उसके सही साधन व उसके प्राप्त करने की रीति या पद्धति पर विचार करना आसान हो जायगा और तब हम अबतक के भिन्न-भिन्न प्रयत्नों की समालोचना व उसके साथ तुलना करके तुरंत देख सकेंगे कि गलती कहां व किस तरह की हुई है। फिर हमें उसका उपाय खोजने में सुगमता होगी।

सुख का स्वरूप समझने का यत्न करते हैं तो ये प्रश्न उपस्थित होते हैं कि सुख किसे होता है, किस स्वरूप में होता है? फिलहाल हमने मनुष्य जीवन के ही प्रश्न को हाथ में लिया है, अतः उसी की मर्यादा में हमें इन प्रश्नों का उत्तर पाना है। सुख किसे होता है आदि प्रश्नों पर जब विचार करने लगते हैं तब यह जिज्ञासा होती है कि सुख मनुष्य के शरीर को होता है, मन को होता है या आत्मा को होता है? सुख उसे अपने भीतर से होता है या बाहरी जगत् से? जहां कहीं से भी मिलता हो, किस विधि से, किस रूप में आता है? मनुष्य के ज्ञान व अनुभव के आधार पर हमें इसका उत्तर मिल सकता है।

जिसे हम सुख कहते हैं वह लड्डू, फल, किताब, मूर्ति या स्त्री की तरह कोई प्रत्यक्ष वस्तु नहीं है कि सीधे-सीधे उसके आकार-प्रकार का वर्णन करके उसका परिचय दिया जा सके। वह एक प्रकार की भावना या वेदना अर्थात् संवेदन है। जो वर्णन से परे है और केवल अनुभव किया जाता है। अपनी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा मनुष्य सृष्टि के विविध पदार्थों के ज्ञान व स्वाद को पाता है। जो ज्ञान या स्वाद उसे रुचिकर, अच्छा या प्रिय लगता है वह उसके लिए सुखदायी होकर सुख कहलाता है। जो अरुचिकर या बुरा लगता है वह दुःखदायी होकर दुःख कहलाता है।

अब प्रश्न यह है कि इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान या स्वाद मनुष्य को मिला वह उसके शरीर के भीतर जाकर कहां व किसको मिला? सभी अपने अनुभव से यह कह और समझ सकते हैं कि हमारे मन को

मिला और हमारे मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओं में संचारित होकर मिला। यदि यह मन नामक इन्द्रिय या वस्तु शरीर में न हो तो मनुष्य के लिए बाहरी जगत् के पदार्थों का ज्ञान व सुख अनुभव करना कठिन हो जाय। इसके विपरीत मन में यह अद्भुत शक्ति है कि वह ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के बिना केवल कल्पना से भी सुख-दुःख को ग्रहण व अनुभव कर सकता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य-शरीर में बाहरी इन्द्रियों की अपेक्षा भीतरी इन्द्रियों की महिमा व मूल्य अधिक है। इसलिए मन मनुष्य की भीतरी व बाहरी तमाम इन्द्रियों का राजा कहा गया है और यह माना जाता है कि हमारे सुख-दुःख का सम्बन्ध प्रधानतः हमारे मन से है, न कि शरीर से। अब हम इस नतीजे पर पहुँचे कि सुख-दुःख एक भावना है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सुख दुःख अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते और शरीर या इन्द्रियां उसका एक साधन हैं; परन्तु उसके भोगने या उसका आनन्द लेने वाला वास्तव में हमारा मन है। मनुष्य के मन में भावना उसके संस्कार के अनुरूप बनती या उठती है और प्रत्येक मनुष्य के संस्कार भिन्न-भिन्न होते हैं। यही कारण है कि जो मनुष्यों की सुख-दु.ख संबन्धी भावनाओं में अन्तर पड़ता व रहता है। एक मनुष्य जिस बात में सुख या हर्ष का अनुभव करता है उसी में दूसरे को दुःख या शोक का अनुभव होता है। जुदा-जुदा रंग, रूप, रस में जो जुदा-जुदा मनुष्यों की प्रीति या अप्रीति होती है उसका भी कारण उनके भिन्न-भिन्न संस्कार ही हैं। इन संस्कारों के योग से मनुष्य का स्वभाव बनता है और जिसका जैसा स्वभाव बन जाता है वैसी ही रुचि-अरुचि, श्रद्धा-अश्रद्धा बनती रहती है।

मनुष्यों की सुख-संबंधी रुचि-अरुचि व साधन चाहे भिन्न-भिन्न हों, पर सुख का अनुभव सबको एक-सा होता है। सुख के इस आनंदानुभव की मात्रा में फर्क हो सकता है; परन्तु उसकी किस्म में, मस्ती में कोई फर्क नहीं रहता। एक व्यक्ति संगीत के सुमधुर स्वरों में जो आनन्द अनुभव करता है वही दूसरा किसी सुन्दर दृश्य व पवित्र भाव से कर सकता है। जो हो, मुद्दे की बात यह कि जब कि सुख का सम्बन्ध मुख्यतः मन से है तो हम उसे मन में न पाकर बाहर से पाने का इतना अनथक प्रयत्न क्यों करते हैं? क्या यह संभव नहीं है कि मन और सुख के बाह्य साधनों की यह सीमा हम सदा याद रक्खें और साधन को ही सुख समझने की भूल न करें?

यहां कोई यह प्रश्न कर सकता है कि सुख चाहे वस्तुओं से मिलता हो, चाहे मनुष्य अपने मन के भावों से ग्रहण कर लेता हो, अर्थात् सुख चाहे वस्तुगत हो, चाहे व्यक्तिगत या भावगत हो, वह रहता कहां है, आता कहां से है, व आकर फिर जाता कहां है ? यदि वह बाहरी जगत् से हमारे भीतर प्रवेश करता है तो वहां उसके रहने का स्थान कौन-सा है । यदि हमें अपने मन में व भीतर से ही प्राप्त होता है तो वहां कहां से आता है ? यह सवाल तो साथ में इस प्रश्न के जैसा है कि संसार की समस्त वस्तुएं व भावनाएं वास्तव में कहां से आती हैं ? कहां जाती है ? इन सबका उद्‌गम अलग-अलग है, या कोई एक है ? सच पूछिए तो हमारा सारा अध्यात्म-ज्ञान ऐसी ही जिज्ञासाओं के फल-स्वरूप उत्पन्न व प्रकट हुआ है । इसका उत्तर देने के लिए हमें अध्यात्म-शास्त्र या ब्रह्मविद्या में प्रवेश करना होगा । यहां तो सिर्फ इतना लिख देना काफी होगा कि जिस परमात्मा, तत्त्व या शक्ति में से यह सारा ब्रह्माण्ड प्रकट हुआ है, उसी में सृष्टि के तमाम पदार्थ व भाव समाये हुए रहते हैं, उसी में से वे प्रकट होते हैं और फिर समय पाकर उसी में लीन हो जाते हैं । जब वे प्रकट होकर रहते हैं तब भी उस महान् शक्ति के दायरे से बाहर नहीं जाते । प्रकट व अप्रकट दोनों अवस्थाओं में वे उसी शक्ति की सीमा या क्षेत्र में रहते हैं । कभी व्यक्त दशा में, कभी अव्यक्त दशा में । जब व्यक्त दशा में होते हैं तब उन्हें हम या तो अपनी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं या मन के द्वारा अनुभव करते हैं । जैसे बिजली अव्यक्त दशा में ब्रह्माण्ड में फैली हुई है । कुछ साधनों व उप-करणों से ग्रहण कर हम उसे प्रकट रूप में लाते हैं । अप्रकट होकर फिर वह अपने असली अव्यक्त रूप में व स्थान—आकाश में—लीन हो जाती है—छिप जाती है । उसी तरह अच्छे-बुरे, सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि के सब भाव इन्द्रिय-रूपी उपकरणों से हमारे मन पर एक प्रकार से व्यक्त होकर अनुभूत होते हैं, और कुछ समय ठहर कर फिर अपने पूर्व अव्यक्त रूप में लीन हो जाते हैं । संसार का कोई ज्ञान, कोई अनुभव, कोई भाव, कोई पदार्थ, कोई तत्त्व, कोई शक्ति ऐसी नहीं जो इस परमात्म-शक्ति के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर हो ।

जब मन को बहुत सन्तोष, समाधान मालूम होता है उस अवस्था को वास्तविक सुख की अवस्था कह सकते हैं । सन्तोष जब उग्रता धारण करने लगता है तब उस अवस्था को आनन्द कह सकते हैं ।

आनन्द या शोक ये दोनों सिरे की अवस्थाएँ हैं और सुख मध्यम अवस्था है। इसका सम्बन्ध चित्त के उद्रेक से नहीं, बल्कि समता से है। चित्त की अत्यन्त सम अवस्था में ही मनुष्य को पूर्ण संतोष, समाधान या सुख अनुभव होता है। जब हम किसी भी निमित्त से अत्यन्त एकाग्रता या तन्मयता का अनुभव करते हैं तो उस समय हमारे चित्त या मन की अवस्था बहुत समता में रहती है। अतः जब किसी कारण से मन चंचलता या विकार को छोड़कर स्थिरता या समता का अनुभव करने लगता है तब उसे सुख का ही अनुभव कहना चाहिए। इसके विपरीत दुःख का अनुभव हमे तब होता है जब हमारा मन किसी धक्के से अपनी साम्यावस्था छोड़कर डांवाडोल होता है और इस सिरे से दूसरे सिरे तक लोट लगाता है। हम यह कह सकते है कि चित्त की समता सुख की व व्याकुलता दुःख की अवस्था है। आपके पास सुख के तमाम सामान मौजूद हों, पर यदि आपका मन शान्त, स्थिर, स्वस्थ या सम अवस्था में नहीं है तो ये सामान आपको सुख नहीं पहुचा सकते। इसके विपरीत यदि दुःख या कष्ट की अवस्थाओं में आप हों; पर यदि आपका मन स्थिर व शान्त है तो आप उस दुःख को अनुभव नहीं करेंगे। उसका असर आप पर नहीं होगा।

इसका अर्थ हुआ कि यदि सचमुच हम अपने जीवन का उद्देश्य पूर्ण करना चाहते हैं या यों कहें कि सुख की प्राप्ति करना चाहते हैं तो हमे और साधनो की अपेक्षा या उनके साथ-ही-साथ अपने मन पर सब से अधिक काम करना है। हमें उन तमाम मानसिक गुणों और शक्तियों को प्राप्त करना होगा जो हमारे चित्त को समता, स्थिरता, शान्तता तक पहुँचा सकें। तब तो आप इसका सरल जवाब दे सकते हैं कि यदि मनुष्य केवल मन की कल्पना या भावना से ही सुखी हो सकता है तो बाहरी सुख-साधनों और विषयों को छोड़कर वह अपने मन के विचारों व तरंगों में ही मस्त रहे। इससे न उसे इन तमाम साधनों के जुटाने का प्रयास ही करना पड़ेगा, बल्कि अपने मन को शान्त व स्थिर रखने का बहुत कुछ अवसर मिल जायगा। परन्तु सच बात ऐसी नहीं है। सुख के लिए बाहरी साधनों की यद्यपि प्रधानता स्वीकृत नहीं की जा सकती, तथापि उनकी आवश्यकता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। ज़रूरत सिर्फ उन साधनों के सम्यक् या भली-भांति उपयोग करने की है। कोई साधन स्वयं सुख या दुःख का कारण नहीं होता है। वीणा,

अंगूर स्वयं सुख या दु:खदायी नहीं होते। उनके उपयोग पर ही हमारा सुख-दु:ख निर्भर है। सुख वास्तव में एक ही है, सांसारिक और आत्मिक दो तरह का नहीं है। जिसे हम सांसारिक सुख कहते हैं वास्तव में वह सुख का साधन है, व जिसे हम आत्मिक या मानसिक सुख कहते हैं वही वास्तविक सुख है। हमारी सबसे बड़ी गलती यही है कि हमने सुख के साधन को ही एक स्वतन्त्र सुख मान लिया है। ऊपर हमने मनुष्य के जीवन-उद्देश्य के रूप में जिस धन, वैभव, कीर्ति, पुत्र, मान-प्रतिष्ठा आदि का जिक्र किया है। वे सच पूछिए तो स्वयं सुख-रूप नहीं हैं, बल्कि सुख के निमित्त या साधन ही हैं। अतएव जो मनुष्य इनको जीवन का लक्ष्य मानता या बनाता है, वह सुख को छोड़कर सुख के साधन को अपनाने की भूल करता है। असली स्वामिनी को भूलकर या छोड़कर नक़ली के पीछे पागल होने जैसा है।

अब यह सवाल पैदा होता है कि हमारे जीवन का उद्देश्य वास्तव में क्या होना चाहिए? जीवन सम्बन्ध में या जीवन में मनुष्य की क्या-क्या अभिलाषाएं हो सकती हैं, सो तो ऊपर आ चुका है; किन्तु इससे जीवन का उद्देश्य क्या होना चाहिये, यह प्रश्न पूर्णतः हल नहीं होता; क्योंकि साधारण मनुष्य तो प्रायः उन्हीं चीजों की अभिलाषा करता है जो उसे अच्छी लगती है। भले ही आगे चलकर उनका नतीजा खराब निकले। हित की बात मनुष्य को न इतनी सूझती है, न एकाएक अच्छी ही लगती है जितनी प्यारी बात। प्रेय पर श्रेय को बढ़ावा देने वाले संसार में थोड़े ही लोग पाये जाते हैं। तो प्रेय मनुष्य के जीवन के उद्देश्य की कसौटी होनी चाहिए या श्रेय? बहुतेरे लोग जिस चीज को चाहते हों वही उनका उद्देश्य मान लेना चाहिए या वह जिसमें उनका वास्तविक हित या श्रेय हो—भले ही उसे मानने, समझने व पसन्द करने वाले थोड़े ही लोग हों।

कोई भी विचारशील मनुष्य इसी बात को पसन्द करेगा कि जो वस्तु पहले भले ही दुःख दे दे, पर अखीर में जो ज्यादातर सुख देती ही तो वही अच्छी है। पहले सुख का आनन्द देकर पीछे दुःख-सागर में डुबोने वाली वस्तु को नासमझ लोग ही पसन्द कर सकते हैं। भले ही बहुतेरों की राय इस दूसरे प्रकार की हो, परन्तु सही राय पहली ही मानी जायगी, यद्यपि उसके देने वाले उंगलियों पर गिने जा सकेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य ठहराने में मनुष्य

की इच्छा या अभिलाषा अन्तिम कसौटी नहीं है। वह दिशा-दर्शक हो सकती है। सही कसौटी तो मनुष्य की शुद्ध बुद्धि या सत्-असत् विवेक-युक्त बुद्धि ही हो सकती है। मनुष्य इच्छाएँ तो ऊटपटांग व सैकड़ों-हजारों तरह की कर सकता है। पर सभी उसके लिए हितकारक नहीं हो सकतीं। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य तय करने में प्रेय की बनिस्बत श्रेय को ही महत्त्व देना होगा। अतः जो व्यक्ति प्रेय में से श्रेय को अलग छांट सकते हैं वही इसका ठीक निर्णय करने के अधिकारी है। ऐसे व्यक्तियों ने अपने ज्ञान, प्रयोग व अनुभव के बल पर इसका निर्णय किया भी है। उनके प्रकाश में हम भी यहां उसे समझने का प्रयत्न करें।

मनुष्य को तृप्ति तो साधारणतः अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति में ही अनुभव होती है, परन्तु इसमें कुछ मर्यादाएं या कठिनाइयां आती हैं, जिनसे वह तृप्ति पूरी व स्थायी नहीं रह पाती। एक तो यह कि अभिलाषाएँ बदलती रहती हैं, जिससे उनकी पूर्ति के साधन व मनुष्य का कार्यक्रम भी बदलता रहता है। इससे तृप्ति की अखण्डता, एक-रसता कायम नहीं रह पाती। दूसरे, दूसरे मनुष्यों की अभिलाषाएं उनसे टकराती हैं, जिससे उनके मार्ग में विघ्न-कष्ट उपस्थित होते हैं। उसे संघर्षों व कटुताओं में उतरना पड़ता है, जिससे तृप्ति का मजा किरकरा हो जाता है। तृप्ति के साधनों को जुटाने व विघ्नों को हटाने में इतना परिश्रम व समय लग जाता है कि मनुष्य मूल अभिलाषा से भटक कर जिन्दगी-भर अधर में ही लटकता रहता है। तीसरे, अभिलाषाएं कर लेना जितना आसान है उतना ही उनकी पूर्ति के साधन व शक्ति उसके पास थोड़ी है। अभिलाषाएं तो मन की तरंग ही ठहरीं। छिन में कहीं-से-कहीं जा पहुँचती हैं। वे मन के वेग के साथ दौड़ती हैं; किन्तु उनकी पूर्ति अकेले मन से नहीं हो सकती, हमारी इंद्रियों द्वारा ही मन उनकी पूर्ति कर सकता है, जिनकी शक्ति बहुत मर्यादित है। फिर हमारी परिस्थिति और यह सारा संसार हमारे सामने आकर खड़ा होजाता है। तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ना, उन्हें हटाकर अनुकूल परिस्थितियां निर्माण करना, उनमें अपनी अभिलषित वस्तु प्राप्त करना, व फिर उसे सदा के लिए इस तरह टिकाये रखना कि उसका वियोग न होने पाये, यह भगीरथ काम केवल मन की तरंग से नहीं हो सकता। अतः या तो हम ऐसा उपाय करें कि जिसमें हमारी तमाम

अभिलाषाओं व मनोरथों की पूर्ति बहुत आसानी से हो जाय। या ऐसा रास्ता खोजना होगा जिससे हम अपने मनोरथों की छान-बीन कर सकें और उन्हीं मनोरथों की पूर्ति का आग्रह रक्खें-जिनसे हमारा हित होता हो और जो हमारी शक्ति या काबू के बाहर के न हों। जाहिर है कि बात मनुष्य की शक्ति के सर्वथा परे है। कम-से-कम अब तक तो मनुष्य ने ऐसी कोई विधि निकाल नहीं ली है, या इतनी शक्ति प्राप्त करके दिखा नहीं दी है कि जिससे मनुष्य के सभी मनोरथ पूरे किये जा सकें, हालांकि उसने इस दिशा में अबतक अनेक यत्न किये हैं। अतः दूसरी दिशा में भी प्रयत्न करना उचित होगा। यदि हम इसमें सफल हो सकें तो सम्भव है कि उसी में से हमें मनुष्य जीवन के उद्देश्य को पहचानने का मार्ग भी हाथ लग जाय।

अभिलाषाएं जो बदलती रहती हैं और उनकी संख्या जो बेतरह बढ़ती जाती है उसका उपाय यह हो सकता है कि हम उनमें से पहले उन मनोरथों की छंटनी करें जो हमारे जीवन के लिए निहायत जरूरी हैं, जिनके बिना जीवन टिक ही न सकता, न हमारा कुटुम्ब, समाज या देश ही कायम रह सकता है। इसके बाद इस दृष्टि से उनमें फिर छंटनी की जाय कि कौन-से मनोरथ अधिक स्थायी व अधिक हितकर हैं। फिर यह विचार किया जाय कि इनमें से कौनसे ऐसे हैं जो दूसरों के मनोरथों से टकराते हैं और इसलिए जिन्हें छोड़ना या एक सीमा मे रखना उचित है, क्योंकि जो अभिलाषाएँ हमारे या हमारे कुटुम्ब, समाज आदि के लिए बहुत जरूरी नहीं हैं, फिर भी वे दूसरों की अभिलाषाओं से टकराती हैं तो बुद्धिमानी इसी में है कि हम उनकी पूर्ति का आग्रह न रक्खें। हम केवल उन्हीं मनोरथों को अपनावें जो हमारे व समाज के जीवन की स्थिति, तुष्टि, वृद्धि, उन्नति व शुद्धि के लिए परम आवश्यक या अनिवार्य हैं और जो दूसरों के जीवन की सिद्धि में बाधक न होते हों। उनकी पूर्ति की रीति भी ऐसी निकाल लेनी चाहिए जिससे दूसरों को कम-से-कम कष्ट व अतृप्ति न हो; क्योंकि यदि हम दूसरों की स्थिति या सुख-सुविधा का खयाल न रक्खें तो उनके अन्दर भी यही भावना व प्रवृत्ति पैदा होगी और यदि वे भी ऐसी ही मनोवृत्ति बना लेंगे जैसी हमने उनकी उपेक्षा की बना रक्खी है तो फिर हमारा उनका संघर्ष अनिवार्य हो जायगा व बना भी रहेगा। इस स्थिति को कोई भी समझदार आदमी न पसन्द करेगा, न चाहेगा भी।

यदि मनुष्य अपनी अभिलाषाओं पर ही नहीं अपनी आवश्यकताओं पर भी यही कैद लगाले तो मनुष्य-जीवन कितना सरल, सुखी व संतोष-प्रद हो जाय ! व्यक्तियों, कुटुम्बों, देशों व समाजों के पारस्परिक कलह द्वेष, शत्रुता की जड़ ही कट जाय व मनुष्य स्वयं ही नहीं बल्कि सारा मानव-समाज भी बे-खटके सुख व उन्नति के रास्ते चल पड़े। तो हमारे मनोरथों की दो सीमायें नियत हुईं—(१) हमारे लिए उनकी अनिवार्यता व हित करना व (२) दूसरों के लिए निर्दोषता। समाज में जब मनुष्य केवल अपने ही सुख या हित की दृष्टि से विचार करता है तो उसे स्वार्थ भाव से कहा जाता है; पर जब वह दूसरों के सुख या हित की दृष्टि से विचार करता है व दोनों का पूर्ण विचार करके फिर अपने कर्तव्य का निश्चय करता है तो उसे उसकी सामाजिकता या धार्मिक भावना कह सकते हैं। यह सामाजिक बुद्धि या धार्मिक भावना रखना मनुष्य के अपने सुख व हित की दृष्टि से भी अनिवार्य है, यह ऊपर बता ही चुके हैं। आगे चलकर मनुष्य की ऐसी प्रवृत्ति हो सकती है कि उसे अपने ही स्वार्थ या हित में दिलचस्पी कम हो जाय व दूसरों के सुख, हित में ही आनन्द आने लगे। यह व्यक्ति उस पहले स्वार्थी या दोनों के समानार्थी व्यक्ति से ऊंचे दर्जे का माना जायगा व उसका प्रभाव भी पिछले दिनों से अधिक व्यापक क्षेत्र पर पड़ेगा। यही व्यक्ति जब अपने या अपने दायरे में आनेवाली सभी वस्तुओं के सुख या स्वार्थ का विचार छोड़कर दूसरों के ही सुख व हित में डूबा रहता है तो वह सबसे ऊंचा पुरुष कहलाता है। और उसे विश्व-कुटुम्बी या विश्वात्मा कहा जा सकता है। उसके लिए चाहे यह कहें कि उसने अपना स्वार्थ, सुख, सर्वथा छोड़ दिया है या यह कहें कि उसने अपने स्वार्थ-सुख की सीमा सारे ब्रह्माण्ड तक बढ़ा दी है, तो दोनों का एक ही अर्थ है। वह स्वार्थ छोड़कर परमार्थी हो गया है इसका भी यही अर्थ है। छोटे स्वार्थ को छोड़कर उसने बड़े अपरिमित स्वार्थ को पकड़ लिया है। यदि मनुष्य की यह स्थिति सचमुच ही ऊंची, अच्छी व वांछनीय है तो इसमें हमें अवश्य मनुष्य के उद्देश्य को निश्चित करने का मार्ग मिल जायगा।

बिलकुल सरल भाव में कहा जाय तो मनुष्य जीवन का उद्देश हो सकता है महापुरुष होना। जिसने अपने छोटे से 'स्व' को महान् विश्व-व्यापी बना लिया हो वही महापुरुष है। जिसे अपने अकेले के अच्छा खा-पी लेने से, अपने ही बाल-बच्चों में स्नेह-रस पीते रहने से या ऐसी

ही छोटी बातों में अपना जीवन लगाते रहने से सुख-संतोष का अनुभव होता हो वह छोटा आदमी व जिसे सारे समाज के लोगों को अच्छा-खिलाने-पिलाने से, सारे समाज के लोगों के स्नेह-पान से या उनके हित के लिए किये महान् कर्मों से व उन्हें करते हुए आ पड़ने वाले कष्टों को प्रसन्नता से सहने में सुख-संतोष का अनुभव होता हो वह बड़ा आदमी, महान् पुरुष है। जो अपने लिए जिये वह अल्प पुरुष, जो दूसरों के लिए जिये वह महापुरुष। जो अपने को औरों से पृथक् समझकर अपने ही स्वार्थों में तल्लीन रहता हैं वह छोटा आदमी; जो अपने को औरो में मिलाकर उनके स्वार्थों को ही अपना स्वार्थ बना लेता है वह बड़ा आदमी-महापुरुष। छोटे का सुख भी छोटा व बड़े का बड़ा ही होता है।

यों देखा जाय तो हर व्यक्ति अपनी शक्ति-भर जान में व अनजान में अल्प से महान् बनने का यत्न करता ही रहता है। व्यक्ति से कुटुम्बी बनना महान् बनने की दशा में ही आगे का एक कदम है। पति-पत्नी, संतति, इष्ट-मित्र माता-पिता, गुरुजन इनमें जिस अंश तक हम अपने-आपको भुला देते हैं उस अंश तक हम अपनी अल्पता को छोड़कर महत्ता ही धारण करते हैं। हम जो अपने अकेले में ही अपनी आत्मा को अनुभव कर लेते थे अब इतने समुदाय में उसे अनुभव करते हैं। परन्तु साधारणतः विकास या व्यापकता का यह क्रम यहीं पर अटक जाता है। इसीसे हमारा महापुरुष बनना रह जाता है। इससे आगे भी यही क्रम सारे समाज व मनुष्य-जाति तथा इससे आगे जीव-मात्र में अपने को अनुभव करने का जारी रहे तो हम सच्चे अर्थ में महान् पुरुष महात्मा बन जायं। भक्त लोग इसी भाव को 'नर का नारायण हो जाय' इस भाषा में व्यक्त करते हैं। धार्मिक पुरुष इसी अवस्था को 'मुक्ता-वस्था', दार्शनिक इसे 'ब्रह्मपद', 'परमपद' बौद्ध इसे 'निर्वाण' जैन 'कैवल्य', आदि शब्दों द्वारा प्रकट करते हैं।

मनुष्य-जीवन के इस उद्देश पर सहसा किसी को आपत्ति न होनी चाहिए। जो केवल अथवा भौतिक सुखवादी हैं वे भी छोटे से बड़े न होने के आदर्श पर ऐतराज नहीं कर सकते। समाज के सब व्यक्ति छोटे से बड़े बनें, अपनी हीनावस्था से उच्च व उच्चतर अवस्था को प्राप्त होते जायं—यह आदर्श आक्षेप के योग्य नहीं हो सकता। संभव है वे यह कहें कि ऐसा व्यक्ति सब ऐश्वर्य का स्वामी होना चाहिये, त्यागी नहीं। भोगी होना चाहिए, विरागी नहीं; और यह स्वामित्व या भोग की भावना

भौतिक समृद्धि का आदर करने से ही दृढ़ और पुष्ट हो सकती है। किन्तु हमने जो महापुरुष का आदर्श या उद्देश सामने रक्खा है उसमें भौतिक या सांसारिक ऐश्वर्य का निषेध या विरोध कहीं नहीं है उसकी प्राप्ति भी आवश्यक मानी गई है। सिर्फ उसके भोग की जिस तरह कि उसकी प्राप्ति की रीति की, एक मर्यादा निश्चित की गई है उसका यदि पालन किया जाय तो मनुष्य न तो उस वैभव का संग्रह ही कर सकता है और न अल्पता से महत्ता की ओर एक कदम आगे बढ़ ही सकता है। जब मनुष्य अपने सुख-स्वार्थ को गौण मानकर दूसरों के अर्थात् समाज के सुख-स्वार्थ को प्रधानता देने लगता है तब वह किसी के दबाव से मजबूर होकर ऐसा नहीं करता है, बल्कि अपने अन्तस्तल से उठी आवाज को सुनकर व इस बात का एहसास करके कि इस तरह दूसरों या समाज के सुख व हित को प्रधानता देकर ही मैं ऊंचा उठ सकता हूं यदि यह त्याग है तो बड़े प्रेम के लिए, ऊँचे दरजे के व अधिक शुद्ध, पवित्र भोग के लिए। बड़े व विशाल ऐश्वर्य को पाने के लिए वह छोटे व थोड़े ऐश्वर्य का त्याग करता है। उस बड़े व्यापारी की तरह जो छोटे या थोड़े टोटे को इसलिए समझ व प्रसन्नता से सहन कर लेता है कि आगे बड़ा मुनाफा होने वाला है। वैभव, ऐश्वर्य, सत्ता भोग इन्हें छोड़ने की जरूरत नहीं है, इनका उपयोग करने में विचार-बुद्धिमानी व दूरदर्शिता से काम लेने की जरूरत अवश्य है। गांधीजी, स्टैलिन, अरविन्द के पास किस वैभव, ऐश्वर्य या सत्ता की कमी है? लेकिन वे स्वतः इनका भोग एक सीमा में करते हैं और शेष सबका उपभोग दूसरी तरह से लोक कल्याण में करते हैं। इसी से ये महात्मा या महापुरुष हैं। ऐसे सीमित भोग से वे अपने अन्दर किसी प्रकार के अभाव को अनुभव नहीं करते। बल्कि पूर्ण तृप्ति अनुभव करते हैं, और अपने को बड़ा सन्तुष्ट, प्रसन्न, सुखी मानते हैं।

परन्तु महान् पुरुष कोई महान् आशाओं भावनाओं व महान् कार्यों के बिना नहीं हो सकता। किसी एक बात में बढ़ जाने से कोई महापुरुष नहीं हो सकता, जीवन की प्रायः हर बात में वह बढ़ा हुआ होना चाहिए। भावना, ज्ञान व कर्म तीन के योग से मनुष्य-जीवन पूर्ण कहलाता है। भावना प्रेरणा करती है, ज्ञान से उसकी शुद्ध-अशुद्धता या योग्य-अयोग्यता की छान-बीन होती है व कर्म के द्वारा उसकी पूर्णता, सफलता या समाप्ति होती है। उच्च, विशाल व शुद्ध भावना, सत्य ज्ञान

व निष्काम तथा पवित्र कार्य ये महापुरुष के लक्षण या सम्पत्ति कही जा सकती हैं। आशा है इस पर कोई यह आपत्ति न खड़ी करेंगे कि सब लोग ऐसे महापुरुष कैसे हो सकते हैं? क्योंकि आदर्श या उद्देश का निर्णय करने में प्रधानतः यह नहीं देखा जाता कि यह सबके लिए एक साथ साध्य या शक्य है अथवा नहीं? बल्कि यह देखा जाता है कि सबके लिए उत्तम, श्रेष्ठ, चाहने योग्य, पाने योग्य स्थिति कौन सी है? यदि आदर्श हमने ठीक निश्चित कर लिया तो फिर उसका पालन करना केवल हमारे प्रयत्न की बात है। सो प्रयत्न करने की अर्थात् कर्म की शक्ति मनुष्य में अपार है। यदि एक व्यक्ति भी महापुरुष की श्रेणी में आने योग्य हमारी निगाह में आगया है तो यह मानना ही होगा कि प्रत्येक मनुष्य में वह शक्ति निहित है। सिर्फ प्रयत्न करके उसका विकास करने की जरूरत है।

अब सवाल यह रहता है कि महापुरुष बनकर कोई करे क्या? दूसरों को महापुरुष बनाने में अपनी शक्ति लगावे। मनुष्य ने व्यक्ति रूप में महापुरुष बनने के जो प्रयास किये उसके फलस्वरूप कई महापुरुष संसार में हमें मिले; किन्तु सामूहिक रूप में अल्प से महान् बनने का जो उद्योग किया उससे उसकी महत्ता कुटुम्ब व एक अंग में जाति तक बढ़ी। अब समाज तक जाने की उसको प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह शुभ लक्षण है। इसे प्रोत्साहन देने की जरूरत है। यह दिखलाती है कि समूह रूप में भी मनुष्य महानता की तरफ आगे ही बढ़ता जारहा है। इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाना उसके अनुकूल व अनुरूप समाज की व्यवस्था बनाना व उसे चलाना ऐसा ही साहित्य, कला, आदि निर्माण करना महापुरुष या पुरुषों का काम है।

४ : मनुष्य, समाज और हमारा कर्त्तव्य

हम मनुष्य हैं। क्या आपको इससे इन्कार है? नहीं। तो मैं पूछता हूं कि आप अपने को मनुष्य किस कारण से कहते हैं? क्या इसलिए कि आपका शरीर मनुष्यों जैसा है? या इसलिए कि आपके अन्दर मनुष्योचित गुण हैं? यदि केवल शरीर के कारण हमें अपने को मनुष्य मानें तो वैसा ही निरर्थक है जैसा कि ईश्वर-विहीन देवालय! यदि मानवी गुणों के कारण मनुष्य मानते हों, तो हमारे मन में यह सवाल उठना चाहिए कि क्या हम सचमुच मनुष्य हैं? क्या मानवी

गुणों का विकास हमें अपने अन्दर दिखाई देता है ?

मनुष्य का धात्वर्थ है मनन करनेवाला अर्थात् बुद्धियुक्त। मनुष्य और पशु के शारीरिक अवयवों में, 'आहार, निद्रा, भय, मैथुन' में, समानता होते हुए भी 'ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषः' राज-संन्यासी भर्तृहरि ने कहा है और अन्त में यह फैसला दिया है 'ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः।' इसका भी अर्थ यही है। अर्थात् जिसे बुद्धि या ज्ञान, दूसरे शब्दों में चिन्तन-मनन और सारासार विचार करने की शक्ति हो, वह मनुष्य है। परन्तु यदि मनुष्य के उद्गम की दृष्टि से विचार करते हैं तो उसका धागा ठेठ परमात्मा या परब्रह्म तक पहुँचता है। मनुष्य उस चैतन्य-सागर का एक विशिष्ट कण है। वह उससे बिछुड़ा हुआ है और अपनी मातृ-भूमि की ओर स्वभावतः ही झपटा जा रहा है सारे समुद्र के जल में जो गुण-धर्म होंगे, वही उसके एक बूंद में होने चाहिएँ। दोनों में भेद सिर्फ परिमाण का हो सकता है। तत्त्व दोनों में एक ही होगा। मनुष्य में भी वही गुणधर्म, वही तत्त्व होने चाहिए—हाँ छोटे रूप में अलबत्ता—जो परमात्मा में हो सकते हैं। यदि मनुष्य अपने अन्दर उन गुणों को उसी हद तक विकसित कर ले, जिस हद तक वे परमात्मा में मिलते हैं, तो वह परमात्मा-रूप हो सकता है। इसी अवस्था में वह 'सोऽहम्' या 'अहं ब्रह्मास्मि' 'एकमेवाद्वितीयम्' का अनुभव करता है। परमात्मा चैतन्य स्वरूप है, सत्‌चित् आनन्द—सच्चिदानन्द—रूप है, 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' है। यही गुण मनुष्य की प्रकृति में भी स्वभावज होने चाहिए। परमात्मा के इन भिन्न-भिन्न शब्दों में वर्णित गुणों का यदि महत्तम-समापवर्तक निकालें तो वह मेरी समझ में एक—तेजस—निकलता है। इस अर्थ को श्रुति भी तो है—तेजोऽसि तेजो मयिधेहि—जहाँ तेज है, वहीं सत्ता है, वहीं चैतन्य है, वहीं आनन्द है, वही असत्य का अभाव और सत्य की स्थिति संभवनीय है, वहीं कल्याण है, वहीं सौन्दर्य है। जो तेजोहीन है, न उसकी सत्ता रह सकती है, न उसको चेतनता उपयोगी हो सकती है, वह धर्म की तरह है, और आनन्द तो वहाँ से इस तरह भाग जाता है जिस तरह फूल के सूख जाने पर उसकी खुशबू। जो तेजोहीन है उसके पास सत्य का अभाव होता है। या यों कहें कि सत्य तेज-रूप है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इसका अर्थ यही है कि जहाँ तेज नहीं, वहाँ आत्मा नहीं। इसी तरह जहाँ सत्य नहीं वहां तेजस्विता भी कैसे हो सकता है? इसी तरह जो स्वयं तेजस्वी नहीं है वह कल्याण-साधक, मंगलमय कैसे हो सकता है?

तेज ही श्रेयस्साधिका शक्ति है। और तेजोहीन को सुन्दर भी कौन कहेगा और कौन मानेगा? 'तेजस्' की यह व्याप्ति बिलकुल सरल, सीधी, और सुबोध है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि परमात्मा तेजोमय है, तेज-स्वरूप है, स्वयं तेज है। और मनुष्य, उसका अंश, भी तभी मनुष्य-नाम को सार्थक कर सकता है जब उसमें तेज हो, जब तेजस्वी हो। तेज ही मनुष्य की मनुष्यता की कसौटी है। तेजोहीन मनुष्य मनुष्य नहीं है।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि शब्दार्थ और गुण-विवेचन की दृष्टि से मनुष्य में दो बातें प्रधान और अवश्य होनी चाहिए—सारासार-विचारशक्ति और तेज। यदि हम और सूक्ष्म विचार करेंगे तो हमें तुरन्त मालूम होजायगा कि विचार-शक्ति भी तेज का ही एक अंग है। तेज शक्ति-रूप है, बल-रूप है, पुरुष-रूप है। तो अब मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या आपने अप अन्दर मनुष्यता का अस्तित्त्व स्वीकार करते है? क्या आप यह कहने के लिए तैयार हैं कि हम मनुष्य हैं, हम तेजोमय है, हम तेजस्वी हैं, हम शक्तिमान् हैं, बलवान् हैं, पुरुषार्थी हैं? यदि हम इसके जवाब में 'हाँ' कह सकें, तभी हमें मानना चाहिए कि हम अपने को मनुष्य कहलाने के और कहने के अधिकारी हैं, वरना हमें अपने को मनुष्यता-हीन मनुष्य—प्राण-हीन शरीर—कहना चाहिए।

मनुष्य और मनुष्यता का इतना विवेचन करने के बाद अब हम 'समाज' शब्द का उच्चारण करने के अधिकारी हो सकते हैं। 'समाज' का अर्थ है समूह। पर जाति, दल, मनुष्य-समाज और समष्टि इतने अर्थों में आजकल समाज शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ 'समाज' से मेरा अभिप्राय मनुष्य-समाज या मनुष्य-जाति से है। जब कि हम मनुष्य-समाज की ही उन्नति में अग्रसर नहीं हो रहे हैं, तब हमारे लिए समष्टि की अर्थात् प्राणि-मात्र की उन्नति और सुख की बातें करना धृष्टता-मात्र होगी। मनुष्य के अन्दर अपना गोल बाँधकर रहने अर्थात् समाजशील होने की इच्छा बहुत हद तक स्वाभाविक हो गई है। हिन्दू-धर्म के अनुसार, अब, मनुष्य प्रायः इसी अवस्था में ऐकान्तिक जीवन व्यतीत करने का अधिकारी माना जाता है जब कि वह अपने सामाजिक कर्त्तव्यों के भार से मुक्त हो चुका हो। जब से मनुष्य समाजशील हुआ तब से उसका कर्त्तव्य दुहरा हो गया। जब तक वह अकेला था तब तक उसके विचारों और कामों की सीमा अपने अकेले तक ही परिमित थी। उसके

कुटुम्बी और समाजी होते ही उसके दो कर्तव्य हो गये—एक स्वयं अपने प्रति और दूसरा औरों के प्रति अर्थात् कुटुम्ब या समाज के प्रति। इसी कर्त्तव्य-शास्त्र की परिणति हिन्दुओं की वर्णाश्रम-व्यवस्था थी। वर्ण-व्यवस्था प्रधानतः सामाजिक कर्त्तव्यों से संबंध रखती है; और आश्रम-व्यवस्था प्रधानतः व्यक्तिगत कर्तव्यों से। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो व्यक्तिगत और समाज-गत कर्त्तव्य इतने परस्पर-आश्रित और परस्पर संबद्ध हैं कि एक के पालन में दूसरे का पालन अपने-आप हो जाता है। व्यक्तिगत कर्त्तव्य मनुष्य के लिए निकटवर्ती हैं जो निकटवर्ती कर्त्तव्य का पालन यथावत् नहीं कर पाता उससे दूरवर्ती अर्थात् सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन की क्या आशा की जा सकती है। जिसे अपने शरीर की, मन की, आत्मा की उन्नति की फिक्र नहीं, वह बेचारा समाज की उन्नति क्या करेगा? इसी तरह जो अकेले अपने ही सुख-आनन्द में मग्न है—समाज का कुछ ख़याल नहीं करता, उसका सुख-आनन्द भी वृथा है। अनुभव तो यह कहता है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति होती जाती है, त्यों-त्यों उसकी दृष्टि विशाल, सूक्ष्म और कोमल होती जाती है, त्यों ही त्यों उसे अपने कुटुम्ब, जाति,-समाज और देश का सुख-दुःख अपना ही सुख-दु:ख मालूम होने लगता है। यदि कोई व्यक्ति यह दावा करे कि मैं उन्नत हूँ, पर यदि उसकी दृष्टि हमें उस तक ही मर्यादित दिखाई दे, कुटुम्ब, जाति,समाज या देश के दुःख-सुखों से वह विरक्त, उदासीन या लापरवाह नज़र आये,तो समझना चाहिए कि या तो उसे अपनी उन्नति हो जाने का भ्रम हो गया है या वह उन्नत होने का स्वाँग बनाता है। अनुभव डंके की चोट कहता है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य की मनुष्यता का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों उसे क्रमशः अपनी जाति, समाज, देश, और मनुष्य-जाति और अन्त को भूत-मात्र अपने ही स्वरूप देख पड़ते हैं, वह उनके दुःख-सुख को उसी तरह अनुभव करता है जिस तरह स्वयं अपने सुख-दुःख को। यह दुःख की अनुभूति ही समाज-सेवा का प्रेरक है। जबतक मनुष्य का हृदय अपने कुटुम्ब, जाति, समाज, या देश के दुःखों को देखकर दुखित नहीं होता, तब तक उसे उनकी सेवा करने की सच्ची इच्छा नहीं हो सकती। यों तो दुनिया में ऐसे लोगों का टोटा नहीं है जो मान, बड़ाई, प्रशंसा, धन आदि के लोभ से समाज-सेवा करने में प्रवृत्त होते हैं, पर उनकी वह सेवा सच्ची सेवा नहीं होती। इससे न उस समाज को ही सच्चा लाभ पहुँचता है, न स्वयं उसे ही सेवा का श्रेय मिल पाता है। सच्ची सेवा का

मूल है दया-भाव। दया मनुष्यत्व के विकास की अन्तिम सीढ़ी है दयाभाव निर्बलता का चिह्न नहीं, असीम स्वार्थ-त्याग और घोर कष्ट सहन की तैयारी का प्रतीक है।

इस विवेचन से हम इन नतीजों पर पहुँचे कि समाज-सेवा मनुष्य का कर्त्तव्य है—सामाजिक ही नहीं व्यक्तिगत भी। समाज-सेवा की प्रेरणा के लिए समाज के दुःखों की अनुभूति होनी चाहिए। जिस मनुष्य के अन्दर मनुष्यता नाम की कोई वस्तु किसी भी अंश में विद्यमान् है, वह समाज के दुःखों को जरूर अनुभव करेगा। मनुष्य का दया-भाव जितना ही जाग्रत होगा, उतना ही अधिक वह समाज की सेवा कर पायगा।"

अब हम इस बात का विचार करें कि समाज-सेवा का अर्थ क्या है? समाज-सेवा का अभिप्राय यह है कि उन लोगों की सेवा जिन्हें सेवा की अर्थात् सहायता की जरूरत हो, उन बातों की सेवा—उन बातों में सहायता करना जिनकी कमी समाज में हो, जिनके अभाव से समाज दुख पाता हो, अपनी उन्नति करने में असमर्थ रहता हो। जिस समाज के किसी व्यक्ति को किसी बात का दुःख नहीं है, जिस समाज में किसी बात की कमी या रुकावट नहीं है, उसकी सेवा कोई क्या करेगा? उसकी सेवा के तो कुछ मानी ही नहीं हो सकते। हाँ, यह दूसरी बात है कि आज भारतवर्ष ही नहीं, तमाम दुनिया में कोई भी समाज ऐसा नहीं है, जो सब तरह से भरा-पूरा हो और इसलिए प्रत्येक समाज की सेवा करने की बुरी तरह आवश्यकता इन दिनों है और शायद सृष्टि के अन्त तक कुछ-न-कुछ बनी ही रहेगी। सो समाज-सेवा का असली अर्थ यही हो सकता है कि दलित, पीड़ित, पतित, पंगु, दुखी, निराधार, रोगी, दुर्व्यसनी, दुराचारी और ऐसे ही लोगों की सेवा। सेवा का अर्थ है जिस बात की कमी उन्हें है, उसकी पूर्त्ति कर देना। दूसरे शब्दों में कहें तो समाज में ऐसे कामों की नींव डालना जिन्हें हम आम तौर पर कुरीति-निवारण, पतित-पावन, परोपकार और दयाधर्म के काम कहा करते हैं। सेवा की एक और रीति भी है। वह है समाज-व्यवस्था में परिवर्तन; सही माने में समानता की बुनियाद पर समाज को कायम करना। व्यक्तिगत सेवा से भिन्न यह सामाजिक सेवा हुई। इसके सम्बन्ध में दूसरी जगह विवेचन करेंगे।

अब हम अपने देश के सेव्य समाज की ओर एक दृष्टि डालें। यों

देश की प्राकृतिक सुन्दरता, इसकी शस्यश्यामला भूमि, प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले षड्ऋतुओं के आवागमन और वैभव, उसकी ऐतिहासिक उज्ज्वलता, उसकी धार्मिक महत्ता, उसकी विद्याव्यसन-पराकाष्ठा, उसकी शूरवीरता आदि की विरुदावली गाने का यह स्थान नहीं है। पर उसके इन्हीं गुणों ने उसे विविध भाषा, वेश-भूषा और विशेषता रखने वाली जातियों की एक नुमाइश बना रखा है। इसका उसे अभिमान होना चाहिए। उसका जन-समाज विविध है। उनसे वह उसी तरह शोभित होता है जिस तरह बहुरंगी फूलों से कोई उद्यान सुसज्जित और सुगंधित होता है। पर आज यह फुलवारी मुरझाई हुई दिखाई देती है। जीवन-पानी न मिलने से जिस तरह फूलों के पत्ते और पखुँरियां नीचा सिर करके झुक जाती हैं उसी तरह जीवन के अभाव में इसका जन-समाज नतशिर होकर अपना अभागा मुख दुनिया को न दिखाने की चेष्टा करता हुआ मालूम होता है। अपने अ-कर्म या कुकर्म से प्राप्त परिस्थिति-रूपी राक्षसी के भीमकाय जबड़े में वह असहाय-सा छटपटाता हुआ देख पड़ता है। तेज की जगह सेज, ज्ञान की जगह मौखिक मान, धर्म की जगह धन, समाज-सेवा की जगह व्यक्ति-सेवा—गुलामी—की उपासना में वह लीन दिखाई देता है। वह रोगी है, उसका शरीर, मन आत्मा तीनों रोग-ग्रस्त हैं—विजातीय वस्तुओं से भ्रष्ट होते जा रहे हैं। वह पंगु है, उसके पांव लड़खड़ाते हैं—खड़ा होने की कोशिश करते हुए पैर थर-थर कांपने लगते हैं। वह पतित है—पिछड़ा हुआ है—उसमें दुर्व्यसन, दुराचार, अन्यान्य कुरीतियों का अड्डा है। अतएव वह सेव्य है। उसके विद्वान् और शिक्षित लोग अपनी विद्या और शिक्षा का उपयोग व्यक्ति-सेवा, धनोपार्जन या अपने क्षुद्र सुख-साधनों की वृद्धि के लिए करते हैं। उसके धनवान् सट्टेबाज़ी, कल-कारखाने-बाज़ी और सूद-खोरी के द्वारा जान में और अनजान मे गरीबों का धन अपने घर में लाते हैं—गरीबों को अधिक गरीब बनाते हैं, खुद अधिकाधिक धनी बनते जाते हैं और फिर उस धन का उपयोग 'दान' की अपेक्षा 'भोग' में अधिक होता है। 'दान' भी वे धर्म की वृद्धि के लिए, धर्म की स्थिति के लिए नहीं, बल्कि धर्म के 'उन्माद' के लिए, धर्मभाव से, पर धर्म-ज्ञान के अभाव-पूर्वक देते है। उसके सत्ताधीश समाज-सेवक बनने और कहलाने में अपनी मान-हानि समझते हैं—'विष्णु-पद' के भ्रम को दूर करना उन्हें अप्रिय, शायद असह्य भी मालूम होता है। 'प्रभु' शब्द से

संबोधित होने में वे अपना गौरव मानते हैं—इसमें परमेश्वर का अपमान उन्हें दिखाई नहीं देता। उसके किसान, उसके अन्नदाता, उसके जाट, उसके भोले-भाले पापभीरु सपूत, बैलों को गोद-गोदकर—उनके साथ ज्यादती कर-करके, खुद सारे समाज के बैल बन रहे हैं। क्षत्रिय तो समाज में रहे ही नहीं। उनकी मूँछें कट गईं। उनकी तलवारें देवी के सामने ग़रीब मेमने पर उठकर अपना जन्म सार्थक करती हैं। उनकी बन्दूकें निर्दोष हिरन, कौवे, बटेर, बहुत हुआ तो सूअर या कहीं-कहीं चीते के शिकार के लिए उठती हैं। आर्त के 'रक्षण' की जगह 'भक्षण' उन्हें सुविधाजनक धर्म मालूम होता है। मारने में छिपी हुई 'मरने की की तैयारी' को फिजूल समझकर, शत्रु पर प्रहार करने के आपत्तिमय मार्ग को छोड़, उन्होंने बकरों और हिरनों के मारने का राजमार्ग स्वीकार कर लिया है। नवीनयुग का नव सन्देश—'मारना नहीं, पर मरना' उनके कानों तक कभी पहुँचा ही नहीं है। यदि पहुँचा भी हो तो उनकी स्थूल बुद्धि उसके सूक्ष्म पर शुद्ध शौर्य को ग्रहण करने की तैयारी नहीं दिखाती। उनका एक भाग डाके डालने और लूटने को ही क्षात्र-धर्म समझ रहा है, जो कि वास्तव में कापुरुष का धर्म है। उसका मुन्शी-मण्डल—राजकाजी लोग—सरस्वती के प्रतीक, कलम का उपयोग सरस्वती की सेवा में नहीं, बल्कि भोले-भाले, अनजान लोगों की गर्दन पर छुरी फेरने में करके 'कलम-कसाई' के पद पर प्रतिष्ठित होने की प्रसिद्धि पा चुका है। उसका ब्राह्मण-वर्ग 'शिक्षक' की जगह 'भिक्षुक' और 'उपदेशक' की जगह 'सेवक'—गुलाम—बनकर 'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन' पर शोकमय और करुणामय भाष्य लिख रहा है। 'ज्ञान' की जगह 'खान-पान' और 'त्याग' की जगह 'भोग' ने ले ली है। पूर्वजों की पूंजी के वे दिवालिये वंशज हो गये हैं। बुजुर्गों की विरासत के वे कपूत वारिस अपने को साबित कर रहे हैं। जन-तिरस्कार और निरादर के भागी होकर अपने मिथ्याभिमान-रूपी पाप का फल भुगतते हुए दिखाई देते हैं। 'नेता' के पद से भ्रष्ट होकर वे 'धर्म-विक्रेता' की पंक्ति में जा बैठे हैं। इस प्रकार आज इस देश का जन-समाज 'विवेक-भ्रष्ट' अतएव 'शतमुख पतित' दिखाई देता है। यह है इस समाज का नग्न—भयानक चित्र। जब उसका यह कृष्ण-चित्र आँखों के सामने खड़ा होता है, तो क्षण-भर के लिए मेरी आशावादिता और आस्तिकता डगमगाने लगती है। पर, मैं

देखता हूं कि इस भयानकता के अन्दर भी आशा की, प्रकाश की सुनहली किरणें हैं।

यह चित्र मैंने इसलिए नहीं खींचा कि इससे यहां की दबी हुई, पर आशा की उत्सुक आत्मा, भयभीत अतएव निराश हो जाय। यह तो इसलिए खींचा है कि हमारी मोह-माया, हमारी भ्रम-निद्रा दूर हो जाय; हम अपनी सच्ची स्थिति को उसके नग्न, अकृत्रिम और भीषण रूप मे देख लें, जिससे उसके प्रति हमारे हृदय मे ग्लानि उत्पन्न हो। यह ग्लानि हमें दु:स्थिति को दूर करने की, दूसरे शब्दों मे समाज-सेवा करने की, प्रेरणा करेगी।

अब हमारे सामने यह सवाल रह जाता है कि अपने इस सेव्य समाज की सेवा किस प्रकार करें? सेवा का प्रकार जानने के पहले हमें यह देखना होगा कि इस देश को किस सेवा की ज़रूरत है। दूसरे शब्दों में हमारे समाज मे इस समय क्या दोष हैं, या ख़ामियां हैं, जिनके दूर होने से समाज उन्नति की ओर अग्रसर हो सकता है। मैं जहां तक इस पर विचार करता हूं मुझे सबसे बड़ी कमी यहां 'तेज' की दिखाई देती है, जो कि मेरी समझ में सब त्रुटियों की जननी है। पुरुषार्थ तेज का दूसरा नाम या ख़ास अंग है। जब से हम पुरुषार्थ से नाता तोड़ने लगे, तब से हमारी विपत्तियां और हमारे दु:ख बढ़ने लगे। किसी समाज के सर्वाङ्ग-सुन्दर और सर्वाङ्ग-पूर्ण होने के लिए इतनी बातों की परम आवश्यकता है— (१) भिन्न-भिन्न जातियों में ऐक्य भाव हो, अर्थात् सब एक-दूसरे के हित मे सहयोग और अहित में असहयोग करते हो, (२) कोई कुरीति न हो, (३) अनाथ और निर्धन तथा पतित और पिछड़े हुए लोग न हों, (४) अन्याय, दुर्व्यसन और दुराचार न हो। यदि किसी समाज में इनमे से एक भी त्रुटि हो तो मानना होगा कि वह उन्नत नहीं है और सेवा के योग्य है।

यदि हम अपने समाज की कमियों पर विचार करें तो कम-से-कम इतनी बातों पर हमारा ध्यान गये बिना न रहेगा—(१) हिन्दू-मुसलमानों का मन-मुटाव। (२) अछूत मानी जानेवाली जातियों—भंगी, चमार आदि के साथ दुर्व्यवहार, छूने, आम कुओं से पानी भरने, मंदिरों में उन्हें आने देने आदि मनुष्योचित सामान्य अधिकारों से उन्हें वंचित रखना (३) किसान, मज़दूर के नाम से परिचित तथा कुछ अन्य जातियों और वर्गों का पिछड़ा हुआ रहना। (४) अनाथ और निर्धन

विधवाओं और विद्यार्थियों की शिक्षा-रक्षा, और भरण-पोषण का प्रबन्ध न होना। (५) नशेबाज़ी ख़ासकर शराबख़ोरी और वेश्या-वृत्ति का प्रचलित रहना (६) असत्य-भाषण, दम्भ, दग़ाबाज़ी, बेईमानी, व्यभिचार, अन्याय आदि दुर्गुणों और दुराचारों का अस्तित्व (७) बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधुर-विवाह, विवाह में गालियां गाना, दहेज देना तथा कन्या-विक्रय आदि अनेक अशास्त्रीय रूढ़ियों का प्रचलित रहना, मृत्यु के बाद जाति-भोजन-सम्बन्धी अनेक कुरीतियां। (८) सट्टेबाजी, रिश्वतख़ोरी, नज़राना, बेगार, साहूकारों की किसानों पर ज्यादती, कल-कारखाने वालों की मज़दूरों पर ज्यादती, सत्ताधारियों की प्रजा पर ज्यादती, चोरी, डकैती, खून आदि जुर्मों का होना। (९) मन्दिरों, मसजिदों, उपासकों की दुर्व्यवस्था और अव्यवस्था, पुजारियों, महन्तों, आचार्यों की अनीति, अविनय, भिक्षुकों, भिखारियों और पुरोहितो का अज्ञान और ज्यादती। (१०) रोग, मृत्यु, आपत्ति के समय कष्ट-निवारण का समुचित प्रबन्ध समाज की ओर से न होना। (११) सत्-शिक्षा, सत्साहित्य, सद्धर्म और स्वच्छता, आरोग्य के प्रचार की व्यवस्था न होना आदि आदि। अब आप देखेंगे कि समाज-सेवा की कितनी आवश्यकता है और समाज-सेवा का कितना भारी क्षेत्र हमारे सामने पड़ा है।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि यह सेवा किस प्रकार की जाय? इसमें सबसे पहली बात तो यह है कि जहां सेवा करने की इच्छा होती है, वहां रास्ता अपने-आप सूझ जाता है। फिर भी सेवा के दो ही तरीके मुझे दिखाई देते हैं—व्यक्तिगत और समाजगत। जहां समाज-सेवा की व्याकुलता रखने वाले व्यक्ति इने-गिने हों; वहां व्यक्तिगत रूप से सेवा आरम्भ करनी चाहिए। जहां सेवा की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति अधिक हों, वहां संगठित-रूप से अर्थात् सामाजिक-रूप से सेवा का प्रयत्न करना चाहिए। यह समझना भूल है कि एक आदमी के किये कुछ नहीं हो सकता। एक ही व्यक्ति यदि चाहे तो सारे संसार को हिला सकता है। सामाजिक प्रयत्न के लिए संगठन की आवश्यकता है। संगठन के दो तरीके हैं—एक तो ऊपर से नीचे और दूसरा नीचे से ऊपर। पर संगठन ऊपर से नीचे करने का मार्ग, मेरी समझ में, सदोष है। इमारत पहले बुनियाद से शुरू होती है, शिखर से नहीं। शुद्ध और पुख्ता संगठन नीचे से—जनता से शुरू होना चाहिए। यों शुरूआत

भले ही ऊपर के लोगों के द्वारा हो पर नींव तो नीचे से ही उठानी चाहिए।

संगठन के लिए न भारी ढकोसले की जरूरत है न उछल-कूद की। प्रायः हर गांव में पंचायत होती है। जहां न हो वहां वह क़ायम की की जाय। जहां हो वह उसके काम की जांच करके जो त्रुटियां हों वे सुधार दी जायं। पञ्चायत का मुखिया चुना हो और चुनाव की योग्यता धन, सत्ता या वैभव नहीं, बल्कि सेवा और सेवा-क्षमता हो। काग़ज़ी कार्रवाई कम-से-कम हो; विश्वास, प्रेम और सहयोग के भाव उसकी कार्रवाई में प्रधान हों। पंचायत की बहुमति के फ़ैसलों या नियमों को सब लोग मानें और उन पर अमल करें। जो बिना उचित कारण के न मानें, न अमल करें, वे अपराधी समझे जायं और पंचायत उन्हें यथा-योग्य दण्ड दे। पर, हर बात में औचित्य का ख़याल रहे, न्याय-अन्याय का पूर्ण विचार रहे। ऊपर जिन सेवा-क्षेत्रों या त्रुटियों का जिक्र किया गया है उनमें एक भी ऐसी नहीं है जिसका समुचित प्रबन्ध वे पंचायतें न कर सकती हों। बात यह है कि हमारे पास सेवा के सब साधन मौजूद हैं, धन है, शक्ति है, संस्था भी है, नहीं हैं वे आंखें जिन्हें यह दिखाई दे सके। यदि हमारे मन में समाज-सेवा की ज़रा भी इच्छा पैदा हो जाय तो हमारी इन्हीं आंखों से हमें ये सब बातें करतलामलवत् दिखाई देने लगे।

पंचायतों का सबसे पहला काम यह हो कि वे अपने गाँव की कमियों, अभावों की जांच करें और उनमें जिस बात से जिस दल या वर्ग को सबसे ज्यादा तकलीफ़ होती हो उसके प्रबन्ध को सबसे पहले अपने हाथ में लें और उस काम के लिए गाँव में जो सबसे योग्य पुरुष हो उसके जिम्मे वह काम दें। पंचायत का एक कोष हो। हर कुटुम्ब की शक्ति देखकर उसके लिए चन्दा लिया जाय। पूर्वोक्त बातों में मुझे किसानों की दरिद्रता, अछूतों की दयाजनक स्थिति, अनाथ और निर्धन विधवाओं और विद्यार्थियों की दुरवस्था, और हिन्दू-मुसलमानों का मन-मुटाव ये सवाल सबसे ज्यादा ज़रूरी मालूम होते हैं। पंचायतों को चाहिए कि पहले इन पर ध्यान दें।

किसानों की दरिद्रता मिटाने के लिए तीन काम प्रधानतः करने होंगे। साहूकारों और राज-कर्मचारियों की लूट से उसकी रक्षा और चर्खे के द्वारा अर्थात् मौसम पर कपास इकट्ठा कर उसे खुद ही लोढ़,

फूंक और सूत कातकर तथा अपने गांव के जुलाहे से कपड़ा बुनवाकर पहनने की प्रेरणा के द्वारा उनको फुरसत के समय में कुछ आमदनी का साधन देना, और बेगार-नजराना की प्रथा मिटवाने का उद्योग करना। अछूतोद्धार के लिए छुआ-छूत का परहेज न रखना, कुवों से उन्हें पानी भरने देना, मन्दिरों में जाने देना और मदरसों में पढ़ने देना, आदि सहूलियत करनी होंगी। अनाथ और निर्धन विधवाओं और विद्यार्थियों में धार्मिक और औद्योगिक तथा चरखा आदि की शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा और जब तक वे स्वावलम्बी न हों तब तक उनके भरण-पोषण की व्यवस्था पंचायती फंड से करना। हिन्दू-मुसलमान आदि भिन्न-भिन्न धर्म की अनुयायी जातियों में मेल-मिलाप रखने के लिए एक दूसरे के धार्मिक रिवाजों के प्रति आदर और सहिष्णुता रखने के भावों का प्रचार करना और अपने-अपने धर्म के शुद्ध, उच्च, उदार सिद्धान्तों के प्रेमपूर्वक ज्ञान-दान का प्रबन्ध करना—ये काम करने होंगे।

अब सवाल यह रह जाता है कि इस काम को कौन उठावे? इसका सीधा जवाब है वह जिसके मन में सेवा करने की प्रेरणा होती हो। समाज के दुःखों को देखकर जिसका हृदय छटपटाता हो वही सेवा करने के योग्य है, वही सेवा करने का अधिकारी है, वह किसी के रोके नहीं रुक सकता। जो औरों के दुःख से दुःखी होता है, उनके दुःख दूर करने के लिए त्याग करने और कष्ट उठाने के लिए तैयार रहता है, समझना चाहिए कि उसकी आत्मा उन्नत है, और मानना चाहिए कि वही समाज-सेवा का अधिकारी है। ये लोग समाज के लिए आदरणीय, पूज्य, समाज के सहयोग के सर्वथा योग्य होते हैं। ऐसे सज्जन सब समाज में थोड़े-बहुत हुआ करते हैं। हमारे समाज में भी ऐसे महानुभाव हैं, उन्हीं को मैंने ऊपर 'इस भयानकता के अन्दर भी आशा की, प्रकाश की सुहावनी किरणें' कहा है। उन्हीं के प्रयत्न पर हमारे समाज का कल्याण अवलम्बित है। वे यदि इने-गिने हों तो चिन्ता नहीं। एक दीपक अनेक घरों के दीपकों को प्रज्वलित कर सकता है—नहीं, सारे भूमण्डल को प्रकाशित और दीप्तिमय कर सकता है। एक कर्वे ने भारत में अपूर्व स्त्री-संस्थाएं खोल दीं, एक बुकरटी वाशिंगटन ने सारी निग्रो जाति का सिर संसार में ऊँचा कर दिया, एक मालवीयजी ने एक बड़ा हिन्दू-विश्वविद्यालय खड़ा कर दिया, एक दयानन्द ने हिन्दू-जाति में अद्भुत चेतना उत्पन्न कर दी, एक तिलक ने भारतीय राजनीति में

खलबली मचा दी, एक गांधी ने संसार को नवीन प्रकाश से आलोकित कर दिया, एक विवेकानन्द और एक रामतीर्थ ने युरोप और अमेरिका में हिन्दू-धर्म की कीर्ति अमर कर दी। यह न सोचिए कि जब तक आपके पास बड़ी भारी संख्या न हो, दफ्तर न हो, अमला न हो, तब तक आप कुछ सेवा नहीं कर सकते। कार्यारम्भ के लिए इन ढकोसलों की बिलकुल ज़रूरत नहीं होती। यदि आप में से एक भी व्यक्ति अपनी शक्ति और प्रेरणा के अनुसार छोटा भी कार्य चुपचाप करने लगेगा तो उसकी ठोस और बुनयादी सेवा के आगे बीसों व्याख्यानों, लेखों और प्रस्तावों का कुछ भी मूल्य नहीं है। एक सिस्टर निवेदिता ने कलकत्ते की गन्दी गलियों को सुबह किसी को न मालूम होने देते हुए साफ़ करके जो सेवा की है, सत्याग्रहाश्रम के कितने ही लोग पाख़ाना साफ़ करके अछूतों की समाज की जो सेवा कर रहे हैं, गांधीजी रोज़ चरखा कातकर निरन्न किसानों की, और लंगोट लगाकर वस्त्र-हीन भिखारियों की जो सेवा कर रहे हैं, उसके अभाव में रामकृष्ण मिशन, सत्याग्रहाश्रम और कांग्रेस की सेवाएं फीकी और निस्सार मालूम होती हैं। सवाल इच्छा का है, कसक का है। जहां दर्द है, वहां दवा है। सिपाही न तो अभावों की शिकायत करता है, न बाधाओं की परवाह। वह तो तीर की तरह सीधा लक्ष्य की ओर दौड़ता चला जाता है—न इधर देखता है, न उधर। वह 'हवाई जहाज़' में सैर नहीं करता, वह तो जहां ज़रूरत हो, वहां 'दफ़न हो जाने के लिए एक पांव पर तैयार रहता है। अतएव यदि हम मानते हैं कि हम मनुष्य हैं, तो जिस रूप में हमसे हो सके उसी रूप में समाज के दुःखों को दूर करने के उपाय में अर्थात् समाज-सेवा में अपना तन, या मन, या धन, या तीनों, लगाये बिना हमारे दिल को चैन नहीं पड़ने की। और जिन लोगों का पुण्य इतना प्रबल न हो, जिनकी मनुष्यता जाग्रत न हुई है, उनमें समाज-सेवा के लिए आवश्यक तेज-पुरुषार्थ का अभाव हो, वे परमात्मा से प्रार्थना करें कि हे प्रभो, हमारी बुद्धि को निमल और हृदय को कोमल कर, जिससे हम अपनी जाति, समाज, देश और अन्त को सारी मनुष्य-जाति के दुःख को अनुभव कर सकें और

तेजस्विनावधीतमस्तु

जिससे हम उनको दूर करने में समर्थ हों।

५ : हिन्दूधर्म की रूप-रेखा

हिन्दू-समाज इन दिनों क्रान्ति के पथ पर है। इस्लाम के आक्रमण ने जहाँ उसे स्थिति-पालक (Conservative) बनाया, वहाँ ईसाई-सभ्यता उसे अपने पुराने विश्व-बन्धुत्व की ओर ले जा रही है। इस्लाम यद्यपि एक ईश्वर का पुजारी और भ्रातृ-भाव का पृष्ठ-पोषक है, तथापि भारत पर उसके आक्रमणकारी स्वरूप ने हिन्दू-समाज को उससे दूर फेंक दिया है। इसके विपरीत ईसाई-संस्कृति अपने मधुर स्वरूप के प्रभाव से हिन्दू-समाज को अपने नज़दीक ला रही है। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और जातियों के ऐसे सम्पर्क और संघर्ष के समय किसी भी एक संस्कृति या जाति का अपने वर्तमान रूप में बना रहना प्रायः असम्भव हो जाता है। दोनों एक-दूसरे पर अपना असर छोड़े बिना नहीं रहते। हाँ, यह ठीक है कि, विजित संस्कृति और जाति, विजेता संस्कृति और जाति का, अधिक अनुकरण करने लगती है। क्योंकि वह स्वभावतः सोचने लगती है कि किन कारणों ने उसे जिताया और मुझे हराया और जो बाह्य अथवा आभ्यंतर कारण उस समय उसकी समझ में आ जाते हैं, उन्हीं का वह अनुकरण करने लगती है—इस इच्छा से कि इन बातों को प्राप्त कर और इन बातों को छोड़ कर मैं फिर अपनी अच्छी दशा को पहुँच जाऊँ।

हिन्दू-समाज और हिन्दू-धर्म इस समय संसार के किसी धर्म और समाज के असर से अपने को नहीं बचा सकता। यह बात सच है कि हिन्दू-समाज को हिन्दू-धर्म से जो ऊँची और अच्छी बातें विरासत में मिली हैं, वे और समाजों को अबतक नसीब नहीं हुई हैं। पर हिन्दू-समाज तब तक उन बातों से न स्वयं काफी लाभ उठा सकता है और न औरों को लाभ पहुँचा सकता है, जब तक कि वह खुद उस विरासत को, ज़माने के मौजूदा प्रकाश में, अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल न बना ले और अपने को उस विरासत के योग्य न साबित कर दे। इसी काट-छाँट, उलट-फेर या परिवर्तन का नाम है क्रान्ति। इस समय हिन्दू-समाज और हिन्दू-धर्म के प्रायः प्रत्येक अंग में एक हल-चल हो रही है, एक उथल-पुथल मच रही है, और यह उसके दूषित भाग को काट तथा उत्तम भाग को पुष्ट किये बिना न रहेगी। आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज, और जिसे आजकल लोग गांधी-मत कहने लगे हैं, ये सब इसी क्रान्ति के

लाभ उठाते हैं। आइए, इसी क्रान्ति के प्रकाश में, हमारी बुद्धि और समाज की आवश्यकता हमें जितनी दूर ले जा सकती है, हम हिन्दू-धर्म पर, वहाँ से यहाँ तक नये सिरे से विचार करें।

जिस समाज को आज 'हिन्दू' कहते हैं उसे प्राचीन काल में 'आर्य' कहते थे। हिन्दुस्थान का भी प्राचीन नाम आर्यावर्त था। हिन्दुस्थान के पश्चिम में 'सिन्धु' नाम की एक बड़ी भारी नदी है। उसके रास्ते से यवन सबसे पहले भारतवर्ष में आये। सिन्धु-नदी के आस-पास बसने के कारण उन्होंने आर्यों का परिचय अपने देशवासियों को 'सिंधु' के नाम से दिया। प्राकृत-भाषा मे संस्कृत के 'स' शब्द का बहुत जगह 'ह' रूप हो जाता है। इस कारण 'सिन्धु' शब्द समय पाकर 'हिन्दू' में बदल गया। हिन्दुओं के निवास-स्थान भारतवर्ष का नाम भी हिन्दुस्थान या हिन्दुस्तान पड़ गया।

महर्षि दयानन्द भारत की प्राचीन संस्कृति और प्राचीन जीवन के बड़े प्रेमी और अभिमानी थे। 'हिन्दू' नाम एक तो प्राचीन न था, दूसरे यवनों के द्वारा दिया गया था, इस कारण उन्होंने फिर से प्राचीन शब्द 'आर्य' का प्रचार करना चाहा था। अभी तक तो 'आर्य' शब्द प्रायः उस समाज का सूचक माना जाता है, जो महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों पर चलना चाहता है। आज भी हिन्दू पुरुषों के नाम के अन्त में प्रायः जो 'जी' शब्द लगाते हैं, वह 'आर्य' शब्द ही का अपभ्रंश रूप है।

हिन्दू-धर्म आजकल आर्य-धर्म, वैदिक-धर्म, सनातन-धर्म आदि कई नामों से पुकारा जाता है। बौद्ध, जैन, तथा सिक्ख-धर्म भी हिन्दू-धर्म के ही अंग हैं। आर्य-धर्म का अर्थ है आर्यों का प्रतिपादित धर्म। वैदिक धर्म का मतलब है वेदों में प्रतिपादित धर्म और सनातन धर्म का अर्थ है सृष्टि के आरम्भ से चला आया और सृष्टि के अन्त तक चला जाने वाला धर्म। बौद्ध, जैन और सिख धर्मों को स्वतन्त्र धर्म कहने के बजाय हिन्दू धर्म के सम्प्रदाय या पंथ कहना ज्यादा सार्थक होगा। हिंदू-धर्म को अब कुछ लोग सनातन-मानव-धर्म या मानवधर्म भी कहने लगे हैं। इसके द्वारा वे यह सूचित करना चाहते हैं कि (१) हिंदू-धर्म, सामान्य मानव-धर्म से भिन्न नहीं और (२) समयानुसार रूपान्तर करते हुए भी उसके मूल तत्त्व आदि से अन्त तक अटल रहते हैं। अतएव मेरी राय में हिन्दू-धर्म का दूसरा ठीक नाम है सनातनधर्म। 'आर्य-धर्म' नाम का तो प्रचार अभी बहुत कम हुआ है, और 'वैदिक-धर्म' का प्रचार करने से

हमारी बुद्धि 'वेदों' तक मर्यादित हो जाती है। जब कभी हमें समय को देखकर धर्म के किसी विशेष सिद्धान्त पर जोर देने की या उसके किसी अंग को निषिद्ध करार देने की ज़रूरत पेश आती है, तब हमें 'वेदों' का सहारा लेना पड़ता है, यदि दुर्भाग्यवश 'वेदों' ने हमारा साथ न दिया तो या तो उनके अर्थों की खींचातानी करनी पड़ती है या निराश होना पड़ता है। आजकल प्रत्येक बात में जो यह देखने की प्रथा-सी पड़ गई है कि यह वेद में है या नहीं, यह इसी वृत्ति का परिणाम है। किसी धर्म के मूलभूत सिद्धान्त या तत्त्व जिस प्रकार अटल होते हैं, त्रिकाला-बाधित होते हैं, उसी प्रकार उसके धर्मग्रन्थ—फिर वे एक हों या अनेक—अटल, अपरिवर्तनीय नहीं होते। हाँ, यह बात ठीक है कि अबतक हिन्दू-धर्म के मूल-ग्रंथ एक प्रकार से 'वेद' ही माने गये हैं; परन्तु हमें याद रखना चाहिए कि प्राचीन चार्वाक, बौद्ध, और जैन तथा अर्वाचीन सिख-पंथ के लोग वेदों को नहीं मानते हैं—फिर भी वे हिन्दू-धर्म के अंग तो हैं ही। अतएव अब 'हिंदू-धर्म' को 'वैदिक' नाम देना उसे संकुचित कर देना है, और दूसरे धर्म-पंथों के लिए उसका दरवाजा रोक देना है। यह दूसरी बात है कि वेदों का अर्थ इस प्रकार किया जाय कि जिससे भिन्न-भिन्न पंथों के वे विशिष्ट सिद्धान्त या अंग उनमें उसी तरह समाविष्ट हो जायं जिस तरह उनके पृथक् धर्म-ग्रन्थों में हैं और इस प्रकार वेदों की महिमा क़ायम रक्खी जाय। पर एक तो हिंदू-धर्म के मूल तत्वों में इतना बल और उपयोगिता है कि वे किसी ग्रन्थ या व्यक्ति का सहारा लिये बिना न केवल कायम ही रह सकते हैं बल्कि फैल भी सकते हैं, और दूसरे, यदि वेदों में उन बातों का समावेश था ही तो फिर ये वेद-विरोधी नये सम्प्रदाय बने ही क्यों, और अब तक टिक ही क्यों पाये हैं? तीसरे वेदों की भाषा आज सर्वसाधारण की भाषा से इतनी भिन्न है, और उनका भाव तथा शैली इतनी गूढ़ और क्लिष्ट है कि सर्व-साधारण में उनका घर-घर प्रचार एक असंभव-सी बात है। बिना भाष्यों के उनका मतलब ही समझ में नहीं आता। फिर वे किसी शास्त्रीय ग्रन्थ की तरह व्यवस्थित और क्रमबद्ध नहीं। यह दूसरी बात है कि हमारी भावुकता उन्हें अपौरुषेय माने, हमारी श्रद्धा उन्हें सब 'सत्विद्याओं का आगार' कहे, हमारी व्यवहार-बुद्धि इस पैतृक सम्पत्ति की आराधना करे, पर धर्म-प्रेम, धर्म-प्रचार कहता है कि ग्रन्थ-विशेष तक धर्म की गति को मर्यादित कर देने से धर्म की

मौलिकता और उज्ज्वलता कम हो जाती [illegible] [illegible] [illegible] एक
[illegible]—समाज अनेकविध होकर कुसम्पी हो जाता और [illegible]
सम्प्रदाय-विशेष या व्यक्ति विशेष को धर्म का [illegible] [illegible] [illegible] के
समाज की यही हालत हुई है।

'हिन्दू' शब्द अब यद्यपि इतना व्यापक होचला है कि उसमें जैन, बौद्ध, सिख सब अपना समावेश करने लगे हैं, परन्तु जो लोग इसे विश्व-धर्म की कोटि और योग्यता पर पहुंचाना चाहते हैं वे बहुधा निराश होंगे या मुश्किल से सफल होंगे, यदि 'हिंदू' शब्द का भी आग्रह कायम रक्खेंगे। या तो उसे मानव-धर्म कहें या सनातन-धर्म। सनातन-धर्म का रूढ़ अर्थ यद्यपि संकुचित हो गया है तथापि 'हिंदू' शब्द की अपेक्षा उसके अर्थ में विस्तार-क्षमता अधिक है और न वह ग्रंथ, व्यक्ति, देश या समाज से सीमित ही है।

यह तो हुई नाम की अर्थात् ऊपरी बात। यदि हम भीतरी सार वस्तु को ठीक-ठीक समझ लेंगे तो बाहरी बातों के लिए विवाद या उलझन का अवसर बहुत कम रह जायगा।

यदि हिंदू-धर्म के मूल तत्त्व का विचार करें तो वह साधारण मानव-धर्म से भिन्न नहीं मालूम होता। यदि हिंदू-धर्म की आचार-पद्धति पर ध्यान न दें—केवल तत्त्व को ही देखें, तो वह सारे मनुष्य-समाज के धर्म का स्थान ले सकता है। दूसरी भाषा में यों कहें कि एक मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक राष्ट्रीय, राजनैतिक और मानवी सब प्रकार की भूख या आवश्यकताओं की पूर्ति की गुंजाइश उसमें है। हिंदू-धर्म का सबसे बड़ा तत्त्व यह है कि यह विश्व चैतन्य से भरा हुआ है,—फिर उसे चाहे ईश्वर कहिये, चाहे सत्य कहिये, चाहे ब्रह्म कहिये, चाहे शक्ति कहिये, चाहे और कुछ—किन्तु यह सारी जड़-चेतन-रूप सृष्टि उसी की बनी हुई है। सर्व-साधारण की भाषा में इसे यों कह सकते हैं—ईश्वर या आत्मा है और वह घट-घट में व्याप्त है। यह हुआ परम सत्य। दुनिया के तत्त्वज्ञानी या दार्शनिक अभी तक सत्य की अर्थात् दुनिया के मूल की खोज में इससे आगे नहीं बढ़े हैं। इस धर्म के विचारशील दार्शनिकों ने इस बात पर विचार किया है कि मनुष्य क्या है, वह क्यों पैदा हुआ है, वह कहां से आया है, कहां जायगा, दुनिया से उसका क्या सम्बन्ध है, दुनिया के प्रति उसका क्या कर्तव्य है, मनुष्य को और इस सारी सृष्टि को किसने पैदा किया, इसका मूल क्या

है, उसके प्रति मनुष्य का क्या कर्तव्य है, आदि। हिंदू-धर्म में इस विचार-साहित्य का नाम है दर्शन-ग्रंथ या धर्म-ग्रंथ और विचार-तथ्यों का नाम है धर्म-तत्त्व। हिंदू-धर्म और हिन्दू-समाज में 'धर्म' शब्द प्रायः छः अर्थों में प्रयुक्त होता है—

(१) परम सत्य—जैसे, ईश्वर, या आत्मा या चैतन्य है और वह सब में फैला हुआ है।

(२) परम सत्य तक पहुंचने का साधन—जैसे, प्राणी मात्र के प्रति आत्म-भाव रखना—सबको अपने जैसा समझना—अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय, आदि का पालन।

(३) कर्तव्य—जैसे, माता-पिता की सेवा करना पुत्र का धर्म है, पड़ौसी की और दीन-दुखियों की सहायता करना या प्रतिज्ञा-पालन मनुष्य का धर्म है।

(४) सत्कर्म या पुण्य अर्थात् सत्कर्म-फल—जैसे, दान देने से धर्म होता है।

(५) स्वभाव या गुण-विशेष—बहना पानी का धर्म है, उड़ना पक्षियों का धर्म है, मारना विष का धर्म है।

(६) धर्म-ग्रन्थ—हमारा हिन्दू-धर्म है, या ईसाई या मुस्लिम धर्म है।

अब आप देखेंगे कि 'धर्म' शब्द कैसे विविध अर्थों में व्यवहृत होता है। इससे हमें हिंदू-समाज और हिंदू-जीवन में धर्म शब्द की व्यापकता का पता लगता है। इससे हमें इस बात का भी ज्ञान होता है कि 'धर्म' के विषय में हिंदू-समाज में क्यों इतनी विचार-भिन्नता तथा विचार-भ्रम है। कोई पूजा-अर्चा को ही धर्म मानता है, कोई गेरुए कपड़े पहनने को ही धर्म मान बैठा है, कोई खान-पान, ब्याह-शादी मृत्यु-भोज को ही धर्म मान रहा है, कोई जप-तप को धर्म समझता है, कोई स्नान-ध्यान को और कोई परोपकार, जाति-सेवा और देश-सेवा को धर्म समझ रहा है। इन सबका मूल है 'धर्म शब्द की इस व्यापकता में। गर्भाधान से लेकर मृत्यु और मोक्ष प्राप्त करने तक हिन्दुओं का सारा जीवन इसी कारण धर्म-मय माना जाता है। धर्मतत्त्व, धर्म-पालन के नियम, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और राजनैतिक तथा स्वास्थ्य और शिक्षा-सम्बन्धी सब प्रकार के सिद्धान्त और नियम हिन्दुओं के यहाँ धर्म-नियम हैं।

हिन्दुओं के जीवन में 'धर्म' की इतनी व्यापकता को देखकर ही

उनके यहां धर्म का यह लक्षण बांधा गया :—

यतः अभ्युदय-निश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः ।

अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य को सब प्रकार का सांसारिक सुख-वैभव प्राप्त हो और उसके पश्चात् तथा साथ ही ईश्वरी सुख-शान्ति भी मिले उसी का नाम है धर्म । सरल भाषा में कहें तो जिससे लोक-परलोक दोनों सधें, वह धर्म है । इस व्याख्या में धर्म-तत्त्व, धर्म-शास्त्र, नीति-नियम, स्वास्थ्य-साधन, शिक्षा-विधान, राज तथा समाज-नियम सबका भली-भांति समावेश हो जाता है । वर्तमान हिन्दू-समाज को ध्यान में रखकर, आधुनिक काल में, लोकमान्य तिलक महाराज ने

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु उपासनानामनेकता ।

अर्थात् जो वेद को मानता हो, अनेक देवी-देवताओं की उपासना को मानता हो, आदि व्याख्या हिन्दू की की है । यह व्याख्या एक प्रकार से आजकल के संकुचित सनातन-धर्मी कहे जाने वाले हिंदू-धर्म की हो जाती है । इसमें सिख, जैन, बौद्ध आदि तो दूर, एक तरह से आर्य-समाजी भी नहीं आ सकते ।

दूसरी व्याख्या देशभक्त श्री सावरकर ने की है । इसके अनुसार केवल वही मनुष्य हिंदू कहा जा सकता है जो भारतवर्ष को अपनी धर्म-भूमि और मातृ-भूमि मानता हो । लोकमान्य की व्याख्या से तो यह अधिक व्यापक और हिंदू-समाज की वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल है । इससे हिन्दू-समाज के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में एक हिन्दू-भाव की जड़ जमेगी । इससे वर्तमान हिंदू-समाज के संघटन में तो सहूलियत हो जायगी, परन्तु हिंदू-धर्म के प्रसार और हिंदू-समाज के विस्तार में सहायता न मिलेगी । हमें हिंदू-संघटन इस बात को लक्ष्य करके करना है कि हिंदू-धर्म से पृथिवी का बच्चा-बच्चा लाभ उठावे । इसके लिए मेरी राय में और भी व्यापक परिभाषा की आवश्यकता है । वह ऐसी हो जो कि हिंदू-धर्म का रहस्य, महत्त्व और सिद्धांत भी हमें समझा दे और हमारे सर्वतोमुखी विकास में हमें सब तरह सहायता दे । ऐसी एक व्याख्या मैं आज हिंदू-विचारकों की सेवा में उपस्थित कर रहा हूं । मेरी परिभाषा यह है कि हिंदू वह है जो इन पांच सिद्धांतों को मानता हो—

(१) सर्वात्म-भाव
(२) सर्व-भूत-हित
(३) पुनर्जन्म

(४) वर्णाश्रम और
(५) गौ-रक्षा

फिर वह चाहे किसी देश और वेश में रहता हो और चाहे किसी ग्रन्थ या गुरु को मानता हो।

धर्म के पूर्वोक्त चारों रूपों की तथा पूर्वोक्त व्याख्या को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—

(१) धर्म-तत्त्व और (२) धर्माचार। पहले भाग में तत्त्व-चिन्तन और तत्त्व-निर्णय किया जाता है और दूसरे भाग में उसके पालन के विधि-विधान बताये जाते हैं। पहला विचार का विषय है, दूसरा आचार का। यों भी कहें कि पहला भाग लक्ष्य स्थिर करता है और दूसरा उस तक पहुँचने के मार्ग का उपाय बतलाता है। इस लक्ष्य, या साध्य, या तत्त्व-निर्णय या धर्म-विचार से जहाँ तक सम्बन्ध है, संसार के समस्त धर्म-मतों में तथा हिंदू-धर्म के भिन्न-भिन्न अंग-रूप धर्म-पन्थों में प्रायः कोई भेद नहीं है। जैसे मनुष्य का लक्ष्य है पूर्णत्व को प्राप्त करना—इसका विरोध किसी धर्म-मत में न मिलेगा। यह हो सकता है कि भाषा जुदी-जुदी हो—पर भाव यही मिलेगा। जैसे हिंदू इसे कहेगा, मोक्ष प्राप्त करना, साक्षात्कार करना, ईश्वर-स्वरूप हो जाना, स्थितप्रज्ञ होना, ब्रह्मत्व को प्राप्त होना, कैवल्य—निर्वाण या जिनत्व प्राप्त करना अथवा ज्ञानी हो जाना आदि। इस लक्ष्य को पहुँचने का साधन है—पवित्र जीवन व्यतीत करना, दूसरी भाषा में कहें तो गुणों को बढ़ाना, शक्तियों को बढ़ाना और दोषों को तथा कमजोरियों को कम कर डालना। या यों कहें कि अपना विचार और अपनी सेवा छोड़कर दूसरों का विचार और सेवा करते रहना। इसे आप चाहें धर्माचरण कहिये, तप कहिये, देश और समाज-सेवा कहिये—कुछ भी कहिये। कहने का सार यह कि मनुष्य के लक्ष्य के सम्बन्ध में, अन्तिम स्थिति के विषय में, विविध धर्म-मतों में, भाषा-भेद के अतिरिक्त भाव-भेद नहीं है और न उसके मुख्य साधन—राज-द्वार—के विषय में ही खास मतभेद है। मन्तव्य, स्थान और अन्तिम स्थिति जब कि एक है, उसके स्वरूप-वर्णन में चाहे दृष्टि, रुचि, योग्यता, अवस्था आदि के भेद से कुछ भेद हो—वहाँ तक पहुँचने का राज-द्वार जब कि एक है—फिर उस तक ले जाने वाले छोटे-बड़े टेढ़े-मेढ़े रास्ते चाहे अनेक हों—तब पन्थ-भेद और धर्म-भेद रह कहाँ जाता है? वह रहता है तत्त्व-भेद में नहीं, आचार के उपांगों में।

हिन्दू-धर्म का सबसे बड़ा सिद्धान्त है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म । एकमेवाद्वितीयम् । सोऽहम् ।

अर्थात् यह सब विश्व ब्रह्ममय—चैतन्य मय है। वह सब में एक रूप से व्याप्त है। मैं भी वही या उसी का अंश हूं। आत्म-साक्षात्कार इसी को आत्मा या ईश्वर कहते हैं। बुद्धि और आचरण के द्वारा इस सत्य का अनुभव करना मनुष्य का स्वभाव-धर्म है। यह हुआ मनुष्य का लक्ष्य। इसीका नाम है मनुष्यत्व प्राप्त करना। जबतक मनुष्य इस अवस्था को नहीं प्राप्त होता यह अपने दिल और दिमाग—आचार और विचार के द्वारा यह नहीं अनुभव कर लेता कि आत्मा ही परमात्मा है—जीव-मात्र का सुख-दुःख मेरा सुख-दुःख है, उनके गुण दोष मेरे गुण-दोष हैं, उनकी सबलता-निर्बलता मेरी सबलता-निर्बलता है, तब तक वह अपने लक्ष्य, पूर्णत्व या मनुष्यत्व से दूर है।

हिन्दू-धर्म का दूसरा बड़ा सिद्धान्त है—'सर्व भूत-हित'। यह हिन्दू को उसके ध्येय तक पहुंचने का द्वार दिखाता है। इसका अर्थ है-प्राणि-मात्र के हित में लगे रहना अर्थात् जो हिन्दू हर मनुष्य का—फिर वह किसी भी जात-पांत या देश का हो—सदा भला चाहेगा और करेगा, अपने भले से बढ़कर और पहले दूसरे का भला चाहेगा और करेगा, जो पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े तक के हित में तत्पर रहेगा, वही अपने जीवन-लक्ष्य तक पहुंच सकेगा। ऐसे जीवन का ही नाम पवित्र जीवन, हिन्दू-जीवन या साधु-जीवन है। एक हिन्दू के लिए केवल यही काफी नहीं है कि वह जान ले कि मुझे पूर्णता को पहुंचना है—दुनिया के सब दुःखों, सब कमजोरियों, सब दोषों, सब बन्धनों से सदा के लिए छूट जाना है, या मनुष्योचित समस्त सद्गुणों, सद्भावों और सत्प्रवृत्तियों का उदय और पूर्ण विकास अपने अन्दर करना है; बल्कि यह भी जरूरी है कि वह उनके लिए सच्चे दिल से आजीवन अथक प्रयत्न करे। वह प्रयत्न कैसा और किस दिशा में हो—इसी का दर्शक यह दूसरा सिद्धांत है। इस सिद्धांत में समाज-सेवा, देश-हित, राष्ट्र-कल्याण, परोपकार आदि सद्-भावों और सत्कार्यों का बीज है। हिन्दू भिन्न-भिन्न सेवा-कार्य इसलिए नहीं करता है कि उनसे दुनिया में उसकी कीर्ति फैलती है, या बड़प्पन और गौरव मिलता है, या उच्च पद और प्रतिष्ठा मिलती है, या और कोई दुनियवी महत्त्वाकांक्षा सिद्ध होती है; बल्कि इसलिए करता है कि इनके बिना उसका जीवन-कार्य अधूरा रह जाता है, मनुष्योचित गुणों

का विकास उसके अन्दर पूरा-पूरा नहीं हो पाता; उसके मनुष्यत्व या हिन्दुत्व की पूरी-पूरी कसौटी नहीं हो पाती। हिन्दू-धर्म का आधार शास्त्र, या कर्मकाण्ड, या धार्मिक विधि-विधेय या यम-नियमादि का समावेश इसमें हो जाता है।

हिन्दू-धर्म के ये दो सिद्धांत—एक तत्त्व संबन्धी, दूसरा साधन-सम्बन्धी—ऐसे हैं जो उसे मानव-धर्म की कोटि में ला बिठाते हैं; मानव-धर्म के लिए इससे बढ़कर सिद्धांत अभी तक किसी विचारक, धर्माचार्य या धर्म-प्रवर्तक के दिमाग़ और अनुभव में नहीं आये। इसके अतिरिक्त हिन्दू-धर्म में कुछ ऐसे सिद्धांत भी हैं जो अन्य धर्म-मतों से उसे पृथक करते हैं। वे हैं पुनर्जन्म, वर्णाश्रम और गोरक्षा। पुनर्जन्म का जन्म यद्यपि प्रधानतः तत्त्व-चिन्तन से हुआ है, तथापि उसका व्यावहारिक महत्त्व और उपयोग भी है। वर्णाश्रम का संबंध यों सामाजिक जीवन से विशेष है, पर वह हिन्दू-समाज का प्राणरूप हो गया है; इसलिए वह हिन्दू-धर्म की विशेषता की हद तक पहुंच गया है। गोरक्षा यों तत्त्वतः अहिंसा या सर्व-भूत-हित का अंग है, पर उसका व्यावहारिक लाभ भारतवासियों के लिए इतना है कि उसे हिन्दू-धर्म के मुख्य अंगों में स्थान मिल गया है। इसके अलावा मूर्ति-पूजा, अवतार, श्राद्ध, तीर्थ-व्रत आदि सम्बन्धी ऐसे मन्तव्य भी हिन्दू-धर्म में हैं, जिनका समर्थन तत्त्वदृष्टि से एक अंश तक किया जा सकता है, परन्तु जिनका मूल-स्वरूप बहुत बिगड़ गया है और जिनका आज बहुत दुरुपयोग हो रहा है एवं इसलिए जिनके विषय में हिन्दू-धर्म के भिन्न-भिन्न पन्थों में मत-भेद है।

इस तरह संक्षेप में यदि हिन्दू-धर्म की रूप रेखा, व्याख्या या मुख्य सिद्धांत बताना चाहें तो कह सकते हैं—

(१) सर्वात्म-भाव, आत्म-भाव, अद्वैत या चैतन्य-तत्त्व; (२) सर्वभूतहित; (३) पुनर्जन्म; (४) वर्णाश्रम और (५) गोरक्षा।

इनमें किसी की भाषा पर, या किसी एक की मान्यता के विषय में भले ही मत-भेद हो, पर ये पांचों बातें ऐसी नहीं हैं, जिनके मानने से किसी को बाधा होती हो। समष्टिरूप से ऐसा कह सकते हैं कि ये पांचों सिद्धान्त प्रायः प्रत्येक हिन्दू को मान्य होते हैं, और जो इन पांच बातों को मानता है उसे हमें हिंदू समझना चाहिए।

६ : हिन्दू-धर्म का विराट् रूप

धर्म मूलतः वैयक्तिक वस्तु है—व्यक्ति के अपने पालन करने की चीज़ है। एक ही धर्म के पालन करने वाले जब अनेक व्यक्ति हो जाते हैं तब उनका अपना एक समाज बन जाता है। आगे चलकर यही समाज एक जाति बन जाता है। हिन्दू-समाज या हिन्दू-जाति का जन्म पहले बताये हिंदू-धर्म के सिद्धान्तों का पालन करने के लिए हुआ है।

व्यक्ति जब तक अकेला होता है तब तक वह एकाकी ही धर्म का पालन करता है—अपने लक्ष्य तक पहुँचने की चेष्टा करता है। दूसरों का ख़याल उसके मन में आ ही नहीं सकता। एक से दो, और दो से अधिक होते ही उनका एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध और सम्पर्क होने लगता है और उनके पारस्परिक कर्त्तव्य या धर्म या व्यवहार-नियम बनने लगते हैं। इन्हीं की परिणति आगे चलकर भिन्न-भिन्न नीति-नियमों में होती है। समाज बना नहीं और बढ़ने लगा नहीं कि मनुष्य के जीवन में जटिलता आई नहीं। जटिलता के आते ही धर्म का रूप भी जटिल होता जाता है और समाज के विकास के साथ ही उसका रूप भी विराट होने लगता है। क्योंकि अब उसे केवल एक व्यक्ति की ही सहायता नहीं करनी है, उसी की आवश्यकता की पूर्ति नहीं करनी है—अब तो अनेकों का, अनेक प्रकार की अवस्थाओं में रहनेवालों का प्रश्न उसके सामने रहता है। हिन्दू-समाज आज बहुत विकसित रूप में हमारे सामने है, और इसीलिए हिन्दू-धर्म का रूप भी विराट् हो गया है। वह केवल आदर्शों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला तात्त्विक धर्म नहीं रहा, बल्कि सब प्रकार की श्रेणियों, पंक्तियों तथा विविध स्थितियों के लोगों को उनके लक्ष्य तक पहुँचानेवाला व्यावहारिक या अमली धर्म हो गया है। एक से लेकर अनेक तक, छोटे से लेकर बड़े तक, राजा से लेकर रङ्क तक, मूर्ख से लेकर पण्डित और तत्त्वदर्शी तक, पापी से लेकर पुण्यात्मा तक, स्त्री-पुरुष-बालक-वृद्ध सबकी सुविधाओं, आवश्यकताओं, कठिनाइयों का ख़याल उसे रखना पड़ता है और इसलिए उसका रूप विविध और जटिल हो गया है। बड़े-बड़े तत्त्वदर्शियों से लेकर अबोध किसान, मज़दूर, स्त्री, बालक तक की भूख बुझाने का सामर्थ्य उसमें है। तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिए हिन्दू-धर्म में गम्भीर दर्शन-ग्रन्थ तथा भगवद्-गीता विद्यमान् हैं, जीवन को पवित्र और उच्च बनानेवालों के लिए

स्फूर्तिदायी उपनिषद् सरंक्षण हैं, कर्म-कांडियों और याज्ञिकों के लिए विधि-निषेधात्मक वेद तथा स्मृति-ग्रन्थ हैं, भक्तों और भावुकों के लिए रसमयी रामायण-भागवत आदि हैं, अज्ञों और अल्पज्ञों के लिए कथा-कहानियों-दृष्टान्तों से भरे पुराणादि तथा तान्त्रिक ग्रन्थ हैं एवं समाज तथा राज्य-संचालकों के लिए महाभारत, विदुर-नीति, शुक्र-नीति, कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र, वात्स्यायन के काम-सूत्र, कामन्दकीय नीति आदि साहित्य हैं, साहित्य-रसज्ञों और काव्य-पिपासुओं के लिए भिन्न-भिन्न साहित्य-ग्रन्थ तथा काव्य-नाटकादि हैं। इसी प्रकार क्या ज्योतिष, क्या वैद्यक, क्या कला, क्या शिक्षा, क्या युद्ध, सब विषयों पर हिन्दू वाङ्मय में अच्छा साहित्य मिलता है। वर्णाश्रम तथा भिन्न-भिन्न धर्म-मतों या सम्प्रदायों के भेद से हिन्दू-समाज और धर्म अनेक-विध हो गया है और उसकी इस विविधता, अनेक रूपता, व्यापकता और सर्व-लोकोपयोगिता के रहस्य को न समझने के कारण कितने ही देशी तथा विदेशी भ्रम में पड़ जाते हैं तथा उसकी लोक-प्रियता को देखकर हैरान हो जाते हैं। विविधता उन्हें उसके मूल-स्वरूप को भली-भांति नहीं देखने देती, विस्तार उसके आदर्शों तक सहसा नहीं पहुँचने देता और लोक-प्रचार तथा लोक-प्रचलित साधारण रूप उनके मन में वह स्फूर्ति नहीं पैदा करता जो उच्च आदर्श कर सकता है। वे ऊँचे तत्त्वों और आदर्शों की खोज में हिंदू-धर्म के पास उत्कण्ठा से आते हैं और उसके जन-साधारण में प्रचलित व्यावहारिक और विकृत रूप को देखकर निराश हो जाते हैं। यह न उनका दोष है, न हिन्दू-धर्म का। यह दोष है हिंदू-धर्म के विराट् रूप का और उसकी संगति लगा पाने की अपनी अक्षमता का।

हमें यह भूलना न चाहिए कि धर्म का यह विराट् रूप व्यक्तिगत नहीं सामाजिक है। समाजोपयोगी बनने के हेतु से ही उसका इतना विस्तार हुआ है। जब मनुष्य अकेला होता है तब उसकी किसी धारणा या उसके आचार में मत-भेद के लिए उतना स्थान नहीं रहता, जितना कि समाज में या समाज बन जाने पर होता है। समुदाय के लिए मत-भेद बिलकुल स्वाभाविक बात है। विचार और आचार-सम्बंधी मत-भेदों ने ही संसार में अनेक धर्म-पन्थों की स्थापना की है। इसी कारण हिन्दू-धर्म में भी कई मत हो गये हैं, जिन्होंने हिन्दू-धर्म को बहुत जटिल और व्यापक रूप दे दिया है।

पहले मनुष्य उत्पन्न होता है, वह कुछ विचार करता है, दूसरे पर

अपने विचार प्रकट करता है, और फिर कालान्तर में वह लिखा जाकर पुस्तक-रूप में प्रकाशित होता है। इस प्रकार कोई ग्रन्थ जहाँ व्यक्तियों या समाज की भावनाओं, प्रवृत्तियों और हलचलों का कार्य होता है वहाँ उनका कारण भी होता है, अर्थात् कोई ग्रन्थ जहाँ समाज के विचारों और आचारों का परिणाम-स्वरूप होता है वहां वह उसे आगे विचार और आचार के लिए प्रेरित भी करता है। इस कारण किसी ग्रन्थ को देखकर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि उसके पूर्ववर्ती समाज की क्या अवस्था रही होगी, ग्रन्थ-कालीन समाज की आवश्यकताएं क्या रही होंगी, तथा परवर्ती समाज कैसा रहा होगा। समाज में जो ग्रन्थ जितना ही अधिक आदरणीय होता है उतना ही वह समाज-स्थिति का, गति-विधि का अधिक और ठीक सूचक होता है। ऐतिहासिक विचारकों ने ऐसे ग्रन्थों के आसपास के समय को, जिसपर उनका प्रभाव पड़ने का अनुमान किया गया हो, उस ग्रन्थ के काल का नाम दे दिया है। इसी प्रकार प्रभावशाली व्यक्ति-विशेष या सूचक वस्तु-विशेष के नामानुसार भी ऐतिहासिक काल-विभाग किया गया है। जैसे—वेद-काल, उपनिषद्-काल, दर्शन-काल, बौद्ध-काल, गुप्त-काल, प्रस्तर-युग, धातु-युग आदि।

वेद हिन्दुओं के सबसे पुराने मान्य ग्रन्थ हैं। वे चार हैं—ऋक्, यजु, साम और अथर्व। उनके आसपास के समय को वेद-काल कहते हैं। इस काल में प्रार्थना तथा यज्ञ-यागादि के द्वारा अपने जीवन को सुखी और पवित्र बनाने का साधन हिन्दुओं को अभिमत था। इसके बाद उपनिषद्-काल आता है। उपनिषद् वेदों के विकास का फल है। इस काल में आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी ऊँची कल्पनाओं का उदय हुआ और हिन्दू उच्च नैतिक जीवन तथा दार्शनिक विचारों के प्रेमी हुए। पश्चात् दर्शन-काल है और इसमें हिन्दुओं के—तत्कालीन आर्यों के—गम्भीर तत्त्व-चिन्तन, सर्वांगीण मनन और शास्त्रीय विचार-प्रणाली की गहरी छाप दिखाई पड़ती है। सूत्र और स्मृतियां हिन्दुओं के आचार-शास्त्र की, महाभारत, रामायण, पुराण आदि समाज-नीति की गहरी पहचान कराती हैं। हिन्दुओं के इस धर्म-साहित्य को देखने से जहाँ यह मालूम होता है कि धर्म-चिन्तन और धर्माचरण में वे कैसे-कैसे प्रगति करते गये, वहाँ यह भी पता चलता है कि वे राज्य-संचालन, समाज-व्यवस्था आदि में भी कैसे निपुण और कुशल होते गये।

जैसे-जैसे हिन्दू-समाज बढ़ता गया, धर्म-चिन्तन और धर्माचार के विविधता और मत-भिन्नता होती गई, तैसे-तैसे उसके फलस्वरूप अनेक दर्शन, अनेक स्मृतियां, अनेक सम्प्रदाय-ग्रन्थ तथा अन्य पुस्तकों की सृष्टि हुई और समाज अनेक वर्गों, जातियों, दलों में विभक्त होता गया। मनुष्य के लक्ष्य और उसके मार्ग-सम्बन्धी बातों में विवाद उपस्थित होने लगे तथा देश, काल, पात्र के अनुसार उनके व्यवहार की सीढ़ियां जुदी-जुदी बनती गईं। काल पाकर ईश्वर, जीव और जगत् संबंधी तत्त्व-विचारों में इतनी भिन्नता हुई कि सांख्य, मीमांसा (दो भाग) न्याय, योग, वेदान्त इन छः शास्त्रों की रचना हुई। यज्ञ-याग और कर्म-काण्डादि बाह्य-साधनों की ओर अधिक ध्यान देने और अन्तःशुद्धि की कम परवाह करने की अवस्था में गौतम बुद्ध ने धर्म के स्वरूप में संशोधन उपस्थित किया, जो कि बौद्ध-सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ। इसी प्रकार तप और आत्म-शुद्धि के प्रति उदासीनता तथा हिंसा के अतिरेक को देखकर महावीर ने जैन-सम्प्रदाय को पुष्ट किया। इसके आगे चलकर शंकराचार्य ने अद्वैत, रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत और वल्लभाचार्य ने द्वैताद्वैत आदि मतों की स्थापना की। इधर धार्मिक जीवन के विकास-भेद से कर्म, भक्ति और ज्ञान इन श्रेणियों का जन्म पहले ही हो चुका था; जिनके फलस्वरूप कर्ममार्गी, भक्तिमार्गी, ज्ञान-मार्गी, अनेक पंथ और धर्म-साहित्य बन गये। पुष्टिमार्ग, कबीरपंथ, दादूपंथ, नाथसंप्रदाय, इसी के उदाहरण हैं। वर्तमान प्रार्थना-समाज, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, देवसमाज, थियासफी, आदि भी इसी प्रवृत्ति के सूचक और फल हैं। फिर त्याग और भोग-प्रवृत्ति अर्थात् कर्म-मार्ग और संन्यास-मार्ग ये दो विभाग अलग हो गये। वर्णाश्रम के ८ विभागों के धर्म-मार्ग और भी विविध हो गये। भक्ति-मार्ग ने अनेक देवी-देवताओं की उपासना को, मूर्ति-पूजा को, तथा योग-मार्ग ने देह-दमन तथा चित्त-शुद्धि के निमित्त दान, जप, तीर्थ, व्रत, नियम-विषयक एवं जंत्र, मंत्र, तंत्र-संबंधी अनेक ग्रन्थों को जन्म दिया। इन तमाम मतों, सिद्धान्तों, पन्थों का समावेश कर्म-मार्ग, भक्ति-मार्ग, और ज्ञान-मार्ग में भली-भांति हो जाता है। ये तीनों मार्ग मनुष्य की तीन बलवती चित्त-वृत्तियों के अनुसार बने हैं—कर्मण्यता या क्रियाशीलता, भावुकता या आत्मा-प्रचुरता और विरक्ति अथवा उदासीनता, ये तीनों उत्तरोत्तर ऊंची सीढ़ियां हैं। हिन्दू का जीवन कर्म से आरंभ होकर ज्ञान में समाप्त

होता है। ज्ञान का संबंध मनुष्य के लक्ष्य से है—कर्म। और भक्ति का साधनों से।

७ : नवदम्पति के लिए

नवदम्पतियों की दाम्पत्य जीवन-सम्बन्धी कई कठिनाइयां अक्सर सामने आया करती हैं। कहीं पति-पत्नी का आपस में मन-मुटाव हो जाता है; कहीं दूसरे लोग उन्हें एक-दूसरे के खिलाफ बहकाकर उनका गृह-जीवन क्लेशमय कर देते हैं; कहीं वे माँ-बाप से बिगाड़कर लेते हैं; कहीं कच्ची उम्र में माता-पिता के पद को पहुँचकर दुःखी होते हुए देखे जाते हैं और कहीं तरह-तरह के गुप्त रोगों के शिकार हो जाते हैं। बाल्यावस्था में हुए विवाहों के ऐसे दुष्परिणाम बहुत देखे जाते हैं। एक ओर उन्हें सामाजिक और सांसारिक व्यवहार के नियमों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता और दूसरी ओर समाज की अलिखित मर्यादा उन्हें अपने बड़े-बूढ़ों के सलाह-मशविरे से रोक देती है। ऐसी अवस्था में, कठिनाई, उलझन या संकट के समय, न स्वयं उन्हें प्रकाश-पथ दिखाई देता है और न दूसरों की काफ़ी सहायता उन्हें मिल पाती है। धूर्त और स्वार्थी लोग ऐसी परिस्थितियों से न केवल खुद बेजा लाभ उठाते हैं बल्कि दम्पति को भी बड़े संकट में डाल देते हैं। धनी और रईस लोगों के यहाँ ऐसी दुर्घटनायें अधिक होती हैं। क्योंकि उनका धन और ऐश्वर्य खुशामदियों, धूर्तों, स्वार्थियों के काम की चीज़ होता है। अतएव अपने नव-विवाहित भाई-बहनों के लाभ के लिए कुछ ऐसे व्यावहारिक नियम यहाँ दिये जाते हैं, जिनके ज्ञान और पालन से वे बहुतेरे संकटों से बच सकेंगे—

(१) सबसे पहली और ज़रूरी बात यह है कि उन्हें आपस में खूब प्रेम बढ़ाना चाहिए। एक को दूसरे के गुण की क़द्र करनी चाहिए और दोषों को उदार दृष्टि से देखकर उन्हें दूर करने में परस्पर सहायता देनी चाहिए। पति बड़ा और पत्नी छोटी, यह भाव दिल से निकाल डालना चाहिए। प्रेम बढ़ाने का यह मतलब नहीं कि दिन-रात भोग-विलास की बातें सोचते और करते रहें, बल्कि यह कि एक-दूसरे का हृदय एक-दूसरे से अभिन्न हो जाय। एक का दुःख दूसरे को अपना दुःख मालूम होने लगे; एक की त्रुटि दूसरे को अपनी त्रुटि मालूम होने लगे। एक-दूसरे को अपना सखा, हितैषी और सेवक समझे। एक-दूसरे की रुचि

का प्रभाव समझे । स्वभाव की त्रुटि या व्यवहार की भूलों को हृदय का दोष न समझ ले ।

(२) दूसरी बात यह कि परस्पर इतना विश्वास पैदा कर लें और रखें कि तीसरा कोई भी व्यक्ति एक-दूसरे के बारे में उन्हें कुछ भी कह दे तो एकाएक उनके दिल पर उसका असर न हो । यदि असर हो भी जाय तो उसके अनुसार व्यवहार तो एकाएक हर्गिज न कर बैठना चाहिए । चरित्र-सम्बन्धी बुराई एक ऐसी बात होती है, जिसे स्वार्थी या नादान हितैषी इस तरह कह देते हैं कि सहसा विश्वास हो जाता है या होने लगता है । ऐसे समय खास तौर पर सावधान रहने की ज़रूरत है । ऐसे मामलों में अत्युक्ति और अनुदारता की बहुत प्रबलता देखी जाती है । ऐसी बातें सुनकर, एकाएक आवेश में आकर, पति का पत्नी से या पत्नी का पति से बिगाड़ कर लेना भारी भूल है । ऐसे मामलों में एक बार तो मनुष्य अपनी आँखों पर भी विश्वास न करे तो अच्छा । दोनों को एक-दूसरे के हृदय पर इतना विश्वास हो जाना चाहिए कि कोई बुराई प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी उस पर सहसा विश्वास न कर बैठें । यह मालूम हो कि नहीं, मेरी आँखों को कुछ भ्रम हो रहा है । ऐसा विश्वास जमता है एक-दूसरे का हृदय एक-दूसरे पर खुला कर देने से । पति-पत्नी दोनों का निजी जीवन एक-दूसरे के लिए खुली पुस्तक होनी चाहिए । यदि दो में से किसी के मन में कोई कुविचार या कुविकार भी पैदा हो तो उस तक का ज़िक्र परस्पर में करने योग्य हृदयैक्य दोनों का चाहिए । दो में से जो ज्यादा समझदार और योग्य है उसे चाहिए कि ऐसे कुविचारों और कुविकारों की हानियाँ दूसरे को समझावे और उनके दूर करने में सहायता दे । दोनों को एक-दूसरे के दिल का इतना इत्मीनान होना चाहिए कि वह निर्भय होकर अपनी बुराइयाँ उससे कह दे और विश्वास-घात का भय न रहे । विश्वास में कही गई बातों की रक्षा अपने प्राण की रक्षा के समान करनी चाहिए ।

(३) तीसरी और सबसे नाज़ुक बात है दो में से किसी से कोई नैतिक भूल हो जाने के समय की व्यवहार-नीति । दुर्भाग्य से हमारे समाज में पुरुष की नैतिक भूल इतनी बुरी निगाह से नहीं देखी जाती, जितनी कि स्त्री की देखी जाती है । ऐसी बुराइयों की भयंकरता तो दोनों दशाओं में समान है । यदि ऐसी कोई भूल हो जाय तो एकाएक छोड़ बैठने, बहिष्कार कर देने या आवेश में और कोई अनहोनी बात कर

सोचने के पहले यह देखना चाहिए कि वह दोष भूल से हुआ है, जान-बूझकर किया गया है, या जब्र हुआ है। यदि भूल से हुआ है तो भूल दिखाना और उसका प्रायश्चित्त कराना पहला उपाय है। यदि जान-बूझकर किया गया है तो इसका विचार अधिक गम्भीरता से करना चाहिए। इसके मूल कारण को खोजना चाहिए। कैसे लोगों की संगति में अब-तक का जीवन बीता है, कैसा साहित्य पढ़ने या देखने की रुचि है, कैसा आहार-विहार है, घर का वायु-मण्डल कैसा है, इत्यादि बातों की छान-बीन करके फिर भूल को नष्ट करने का उद्योग करना चाहिए। असफल होने की अवस्था में बहिष्कार या सम्बन्ध-विच्छेद अन्तिम उपाय होना चाहिए। यदि जब्र किया गया हो तो जब्र करनेवाला असली अपराधी है, उसका इलाज करना चाहिए और जिसपर जब्र किया गया हो उसे ऐसा सामर्थ्य प्राप्त कराने का उद्योग करना चाहिए, जिससे किसी क़िस्म के बलात्कार का शिकार वह न हो पाये। ऐसे अवसरों पर मनोभावों का उत्कट हो जाना स्वाभाविक है; परन्तु ऐसे ही समय बहुत शान्ति, धीरज, गम्भीरता, कुशलता और दूरदर्शिता की आवश्यकता होती है। नवीन दम्पति ऐसे अवसरों पर कर्त्तव्य-मूढ़ हो सकते हैं। उन्हें घर के समझदार विश्वास-पात्र बड़े-बूढ़ों की अथवा अनुभवी मित्रों की सहायता ऐसे समय ले लेनी चाहिए। बिना सोचे, तौले और आदमी देखे ऐसी बातों की चर्चा हलके दिल से न करनी चाहिए। दूसरे के घर की बुरी बातों की चर्चा भी बिना वजह और प्रयोजन के न करनी चाहिए।

(४) चौथी बात यह कि नवीन दम्पतियों को या तो घर के किसी बड़े-बूढ़े को या किसी विश्वास-पात्र मित्र को या किसी महापुरुष को अपना पथ-दर्शक बनाना चाहिए। लज्जा और संकोच छोड़कर अपनी कठिनाइयाँ उनके सामने रखनी चाहिए और उनसे सलाह लेनी चाहिए। अक्सर देखा गया है कि झूठी लज्जा के वशवर्ती होकर कितने ही युवक-युवती बुराइयों, बुरी बातों, बुरे व्यवहारों और हरकतों को मन मसोसकर सहते रहते हैं—इससे खुद वे भी बुराई के शिकार होते रहते हैं और घर या समाज में भी गन्दगी फैलती रहती है और उनकी आत्मा को भीतर-ही-भीतर क्लेश होता रहता है। कई बीमारियों में वे फँस जाते हैं और दुःख पाते रहते हैं। यह हालत बहुत ख़तरनाक है। इससे बेहतर यह है कि निःसंकोच होकर गुह्य बातों की भी चर्चा अधिकारी पुरुषों के सामने कर ली जाय।

(५) पाँचवाँ नियम यह होना चाहिए कि विवाह के बाद योग्य अवस्था होते ही पति-पत्नी को साथ रहना चाहिए। दूर देशों में अलग-अलग रहना, सो भी बहुत दिनों तक, अवसाद है। साथ रहते हुए, जहाँ तक हो, संयम का पालन करना चाहिए। पर संयम के लोभ से अथवा खर्च-वर्च और असुविधा के खयाल से दूर रहना अनुचित और कुफल-दायी है।

(६) गुप्त रोग हो जाने की अवस्था में अपने जीवन के दूसरे साथी को उससे बचाने की चिन्ता रखनी चाहिए। उसके इलाज का पूरा प्रबन्ध करके आइन्दा उसे न होने देने के कारणों को जड़ से उखाड़ डालना चाहिए। अनुचित आहार-विहार, असंयम, गंदे स्थानों पर पाखाना-पेशाब, वेश्या-सेवन आदि से गुप्त रोग हो जाया करते हैं। सादा और अल्प आहार, संयम, स्वच्छता के ज्ञान और पालन से मनुष्य ऐसे रोगों से दूर रह सकता है। विज्ञापनी दवाइयों से हमेशा बचना चाहिए।

(७) सातवीं बात यह है कि अश्लील और कामुकता तथा विलासिता के भावों को बढ़ानेवाले नाटक, उपन्यास, आदि पढ़ने व ऐसे थियेटर सिनेमा, चित्र देखने से अपने को बचाना चहिए। ऐसे मित्रों की संगति और ऐसे विषयों की चर्चा से उदासीन रहना चाहिए।

(८) आठवीं बात यह है कि पत्नी की रुचि अपने अंगीकृत कामों मे धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिए और उसे उनके ज्ञान और अनुभव का अवसर देना चाहिए। दोनों को एक-दूसरे के जीवन को बनाने और अंगीकृत-कार्यों को पूर्ण करने में दिलचस्पी लेनी चाहिए।

मुझे आशा है कि ये कुछ बातें नवदम्पतियों के लिए कुछ हद तक मार्ग-दर्शक का काम देंगी।